परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी
जीर्णोद्धारक संस्था,

श्री आचार्य गुणधरभट्टारक-रचित

卐 कषायपाहुड सूत्र 卐

(हिन्दी अनुवाद सहित)

ध. श्री, श्रीधरजी उकडजी वाणी रा. खामगांव
यांचे करून वडीलांचे स्मरणार्थ श्री चंद्रप्रभु
दि. जैन स्वाध्याय मंदीर खामगांव यांस
अर्पण, श्री महावीर
जयंती ता- 31-3-६९

श्री चंद्रप्रभु
दिगंबर जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

सम्पादक-अनुवादक

धर्मदिवाकर, विद्वद्रत्न पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर
शास्त्री, न्यायतीर्थ, बी. ए. एल-एल. बी.

सिवनी (मध्यप्रदेश)

प्रस्तावना

धर्मरण-रंगभूमिः कर्मारिपराजयैकजय-लक्ष्मीः ।
निर्मोह-भटनिषेव्या क्षपकश्रेणी चिरं जयतात् ॥

यह क्षपकश्रेणी [illegible] जो धर्म रूप युद्ध की रंगभूमि है, कर्मरूप शत्रु का पराजयकर अद्वितीय विजय लक्ष्मी तुल्य है, तथा जो मोह रहित-निर्मोही सुभट वीरों के द्वारा सेवनीय है।

इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों के द्वारा दिव्यध्वनि के माध्यम से सद्धर्म की वैज्ञानिक देशना हुई। उनमें अंतिम धर्म देशना पश्चिम तीर्थंकर महाश्रमण महति महावीर वर्धमान भगवान द्वारा राजगृह के निकटवर्ती विपुलगिरि पर हुई थी। उनकी पावनवाणी को एक अंतमुहूर्त में अवधारणकर गौतम गोत्रधारी इंद्रभूति ने उसी समय बारह अंगरूप ग्रंथों की रचना की और गुणों से अपने समान श्री सुधर्मा स्वामी को उसका व्याख्यान किया। कुछ काल के अनंतर इंद्रभूति भट्टारक केवलज्ञान को उत्पन्न करके और द्वादश वर्ष पर्यन्त केवली रूप से विहारकर मुक्त हुए। उत्तरपुराण में उनका निर्वाण स्थल विपुलगिरि कहा गया है। उसी दिन सुधर्मा स्वामी को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। गौतम स्वामी के समान उन्होंने द्वादश वर्ष पर्यन्त धर्मामृत की वर्षा करके निर्वाण लाभ लिया। उसी दिन जंबूस्वामी भट्टारक ने सर्वज्ञता प्राप्त की। उन्होंने अड़तीस वर्ष पर्यन्त केवलीरूप से विहार करने के अनंतर मोक्ष पदवी प्राप्त की। इस उत्सर्पिणी काल के वे अंतिम अनुबद्ध केवली हुए। महाश्रमण महावीर के समवशरण में सात सौ केवलियों का सद्भाव कहा गया है। उन केवलियों ने आयु कर्म के क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त किया। उनके विषय में यह बात ज्ञातव्य है कि श्रीधर केवली ने सबके अन्त में कुंडलगिरि से मोक्ष प्राप्त किया था *। यह कथन तिलोयपण्णत्ति की इस गाथा से अवगत होता है :—

कुंडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो ।
चारणरिसीसु चरिमो सुपास-चन्दाभिधाणो य ॥ति. प. ४।१४७६

---

* मध्यप्रदेश के दमोह जिले से २२ मील दूरी पर कुंडलपुर नाम का बावन जिनालयों से अलंकृत सुन्दर तथा मनोरम पुण्य तीर्थ है। वहां पर्वत पर विद्यमान बड़े बाबा की द्वादश फुट ऊंची पद्मासन भव्य

श्रुतज्ञान की परंपरा—भगवान महावीर ने मंगलमय धर्म की देशना की थी तथा तत्वों का निरूपण किया था। उन्हें अर्थकर्ता कहा गया है तथा गौतम स्वामी को ग्रंथकर्ता स्वीकार किया गया है। गुणभद्र स्वामी ने उत्तर पुराण में कहा है, कि गौतम गणधर द्वारा द्वादश अंगों की रचना पूर्व रात्रि में की गई थी और पूर्वों की रचना उन्होंने रात्रि के अंतिम भाग में की थी। "अंगानां ग्रंथसंदर्भं पूर्वरात्रे व्यधाम्यहम्। पूर्वाणां पश्चिमे भागे……"(७४–३७१, ३७२)। तिलोयपण्णत्ति में कहा है:—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"इय मूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदिविप्पवरो।
उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस–आइरिया ॥१।८०॥

इस प्रकार श्री वीर भगवान मूल तंत्रकर्ता, विप्रशिरोमणि इंद्रभूति उपतंत्रकर्ता तथा शेष आचार्य अनुतंत्रकर्ता हैं। अनुबद्ध केवली की अपेक्षा महावीर भगवान के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् बासठ वर्ष पर्यन्त सर्वज्ञता का सूर्य विश्व को पूर्ण प्रकाश प्रदान करता हुआ अज्ञानतम का क्षय करता रहा।

इसके पश्चात् विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु इन पंच श्रुतकेवलियों में सौ वर्ष का समय पूर्ण हुआ। इन पंच श्रुत-केवलियों की गणना भी परिपाटी क्रम अर्थात् अनुबद्ध रूप से की गयी, जो इस बात को सूचित करती है, कि यहां अपरिपाटी क्रम से पाये जाने वाले श्रुतकेवलियों की विवक्षा नहीं की गई। तिलोयपण्णत्ति तथा उत्तर पुराण में प्रथम श्रुतकेवली "विष्णु" को "नंदि" नाम से संकीर्तित किया गया है। धवला, जयधवला, श्रुतावतार, हरिवंशपुराण में "विष्णु" नाम आया है।

पंच श्रुतज्ञान पाथोधि-पारगामी महर्षियों के अनंतर एकादश मुनीश्वर ग्यारह अंग और दस पूर्व के पाठी हुए। उनके नाम पर इस प्रकार है—१. विशाखाचार्य, २ प्रोष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जय, ५ नागसेन,

---

प्रतिमा के बहिर्भाग में श्यामवर्णीय लगभग छह इंची चरणयुगल हैं। उनमें लिखा है, "कुंडलगिरी श्रीधर स्वामी"। इससे यह स्वीकार करना उचित है, कि कुंडलगिरि अननुबद्ध केवली श्रीधर भगवान की निर्वाण भूमि है। अनुबद्ध अर्थात् क्रमबद्ध केवलियों में जंबूस्वामी अंतिम केवली हुए तथा अक्रमबद्ध केवलियों में श्रीधर स्वामी हुए, जिन्होंने कुण्डलगिरि से मोक्ष प्राप्त किया। जंबूस्वामी का निर्वाण स्थल उत्तरपुराण में राजगिरि का विपुलाचल पर्वत कहा गया है।

६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गंगदेव, ११ धर्मसेन । इन मुनीन्द्रों का एक सौ तिरासी वर्ष प्रमाणकाल कहा गया है। तिलोय-पण्णत्ति तथा श्रुतावतार कथा में विशाखाचार्य का नाम क्रमशः विशाख तथा विशाखदत्त आया है। श्रुतावतार कथामें बुद्धिल के स्थान में बुद्धिमान शब्द आया है। तिलोयपण्णत्ति में धर्मसेन की जगह सुधर्म नाम दिया गया है। इन मुनिराजों के विषय में गुणभद्राचार्य ने लिखा है कि ये "द्वादशांगार्थ-कुशलादशपूर्वधराश्च ते" (उ. पु. पर्व ७६, श्लोक ५२३) द्वादशांग के अर्थ में प्रवीण तथा दस पूर्वधर थे।

इनके अनंतर एकादश अंग के ज्ञाता दो सौ बीस वर्ष में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पंच महाज्ञानी हुए। श्रुतावतार कथा में ध्रुवसेन की जगह 'द्रुमसेन' शब्द आया है। जयधवला में जयपाल को 'जसपाल' तथा हरिवंशपुराण में 'यशपाल' कहा

गमार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इनके पश्चात् श्रुतज्ञान की परंपरा और क्षीण होती गई और आचारांग के ज्ञाता सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य एक सौ अठारह वर्ष में हुए। श्रुतावतार कथा में यशोभद्र की जगह अभयभद्र तथा यशोबाहु के स्थान में जयबाहु नाम आया है।

महावीर भगवान के निर्वाण के पश्चात् अनुबद्ध क्रम से उपरोक्त अट्ठाईस महाज्ञानी मुनीन्द्र छह सौ तिरासी वर्ष (६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३) में हुए। यह कथन क्रमबद्ध परंपरा की अपेक्षा किया गया है।

श्रुतावतार कथा में लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि तथा माघनंदि इन छह महा पुरुषों को अंग तथा पूर्व के एक देश के ज्ञाता कहा है। अन्य ग्रंथों में ये नाम नहीं दिए गए हैं। संभवतः ये आचार्य अनुबद्ध परंपरा के क्रम में नहीं होंगे। इनके युग में और भी अक्रमबद्ध परंपरावाले मुनीश्वर रहे होंगे।

गुणधर स्थविर—जयधवला टीका में लिखा है, "तदो अंग-पुव्वाणमेगदेसो चेव आइरिय-परम्पराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो" (जय. ध. भाग १ पृ. ८७) लोहाचार्य के पश्चात् अंग और पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्य परंपरा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ। गुणधर आचार्य के समान धरसेन आचार्य भी अंग तथा पूर्वों के एक देश के ज्ञाता थे। धवलाटीका में लिखा है, "तदो सव्वेसि-मंग-पुव्वाणमेगदेसो आइरिय परम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो" (१,६७)। आचार्य गुणधर

तथा आचार्य धरसेन विनयधर श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि और माघनंदि मुनीश्वरों के समान अंग-पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे। ये नाम क्रमबद्ध परंपरागत न होने से तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रंथों में नहीं पाये जाते हैं। प्रतीत होता है कि इनका मुनीश्वरों के समय में कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर न रहने से इनका पृथक् रूपसे काल नहीं कहा गया है। उपरोक्त गुरु-परंपरा के कथन के प्रकाश में यह बात ज्ञात होती है, कि सर्वज्ञ भगवान महावीर तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का अंश गुणधर आचार्य को अवगत था। अतः गुणधर आचार्य रचित कषायपाहुड सूत्र का सर्वज्ञवाणी से परंपरागत संबन्ध स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से इस ग्रंथ की मुमुक्षु जगत् के मध्य अत्यन्त पूज्य स्थिति हो जाती है।

गुणधर आचार्य का समय — त्रिलोकसार में लिखा है, कि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वीरनिर्वाण के छहसौ पांच वर्ष तथा पांच माह व्यतीत होने पर शक नामका राजा उत्पन्न हुआ। इसके अनंतर तीन सौ चौरानवे वर्ष सात माह बाद कल्की हुआ।[१] इस गाथा की टीका में माधवचंद्र त्रैविद्यदेव कहते हैं,—"श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंच (५) मासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते"। यहां शक राजा का अर्थ विक्रम राजा किया गया है। इस कथन के प्रकाश में अंग-पूर्व के अंश के पाठी मुनियों का सद्भाव विक्रम संवत् ६८३ – ६०५ = ७८ आता है। विक्रम संवत् के सत्तावन वर्ष बाद ईसवी सन् प्रारंभ होता है। अतः ७८ – ५७ = २१ वर्ष ईसा के पश्चात् आचारांगी लोहाचार्य हुए। उनके समीप ही गुणधर आचार्य का समय अनुमानित होने से उनका काल ईसवी की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये।

दिगम्बर आम्नाय पर श्रद्धा करने वालों की दृष्टि में वीर-निर्वाण काल विक्रम से ६०५ वर्ष पांच माह पूर्व मानने पर इस विक्रम संवत् २०२५ में ६०५ + २०२५ = २६३० होगा। डाक्टर जैकोबी ने लिखा है कि श्वे० संप्रदाय के अनुसार वीरनिर्वाण विक्रम से चार सौ सत्तर वर्ष पूर्व हुआ था तथा दिगम्बरों की परंपरा के अनुसार यह छह सौ पांच वर्ष

---

[१] पण-छस्सय-वस्सं पणमास जुदं गमिय वीर-णिव्वुइदो। सगराजो तो कक्की चदु-णव-तिय-महियसग-मासं ॥ ८५० ॥

पूर्व हुआ था। *अतः दिगम्बर परंपरा के अनुसार गुणधर आचार्य को ईसा की प्रथम शताब्दी में मानना होगा। ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व वीर-निर्वाण की प्रचलित मान्यता के प्रकाश में गुणधर स्वामी का समय १४४ ईसवी सन अर्थात् दूसरी शताब्दी कहा जायेगा।

ग्रंथ निर्माण का कारण—गुणधर स्वामी के चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि मेरे पश्चात् इस परमागम रूप कषायपाहुड ग्रंथ का लोप हो जायगा, अतः इसका संरक्षण करना चाहिए। इस श्रुत संरक्षण की समुज्ज्वल भावना से प्रेरित होकर महाज्ञानी गुणधर भट्टारक ने इस रचना की ओर प्रवृत्ति की। जयधवला टीका में वीरसेन स्वामी ने कहा है, "अंग और पूर्वों का एक देश ही आचार्य परंपरा से आकर गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्व की दसवी वस्तु तृतीय कषायप्राभृत रूपी महासमुद्र के पारगामी श्री गुणधर भट्टारक ने—"गंथवोच्छेद भएण पवयणवच्छल-परवसीकयहियएण एदं पेज्जदोस-पाहुडं सोलसपदसहस्स पमाणं होतं असीदिसदमेत्त-गाहाहि उवसंघारिदं" (पृष्ठ ८७, भाग १)— जिनका हृदय प्रवचन के वात्सल्य से भरा हुआ था, सोलह सहस्त्र पद प्रमाण इस पेज्जदोस पाहुड शास्त्र का विच्छेद हो जाने के भयसे केवल एक सौ अस्सी गाथाओं के द्वारा उप-संहार किया। यहाँ पद का प्रमाण मध्यम पद जानना चाहिए। आचार्य इंद्रनंदि ने लिखा है:—

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम् ।
विवरणगाथानां च व्यधिकं पंचाशतमकार्षीत् ॥ १५३ ॥

मूल सूत्रगाथाओं का प्रमाण १८० है तथा विवरण गाथाओं की संख्या ५३ है। इस प्रकार १८० + ५३ मिलकर २३३ गाथाएं हैं। जिस प्रकार धरसेन आचार्य के द्वारा उपदिष्ट महाकम्मपयडि पाहुड का उपसंहारकर षट्खंडागम रचे गए, इसी प्रकार गुणधर आचार्य ने १८० गाथाओं में कषायपाहुड द्वारा आगम का उपसंहार किया था।

---

* The traditional date of Mahavira's Nirvana is 470 years before Vikrama according to the Svetambaras and 605 according to the Digambaras. महावीर निर्वाण के विषय में मैसूर के आस्थान महाविद्वान स्व.पं. शांतिराज शास्त्री ने तत्वार्थ सूत्र की भास्करनंदी रचित संस्कृत ग्रंथ की भूमिका में विस्तृत विवेचन किया था।

उनके सिवाय शेष त्रेपन विवरण गाथाओं के विषय में यह बात ज्ञातव्य है, कि १२ संबंध गाथाएँ, अद्धा परिणाम संबंधी ६ तथा प्रकृति संक्रम वृत्ति विषयक ३५ गाथाएं मिलकर त्रेपन गाथाएं होती हैं। उनमें १८० का योग होने पर दो सौ तेत्तीस गाथाओं की संख्या निष्पन्न होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रवचन वत्सलता—गुणधर आचार्य यद्यपि सप्तविधभयों से विमुक्त थे, किन्तु जिनेन्द्र शासन के लोप के भय से प्रेरित हो उन्होंने कषायपाहुड सूत्र की रचना का कार्य संपन्न किया। उनकी आत्मा वीतरागता के अमृत रस से परिपूर्ण थी, तथा उनका हृदय प्रवचन वत्सलता की भावना से समलंकृत था। तत्वार्थराजवार्तिक में आचार्य श्री अकलंकदेव ने कहा है: "यथा धेनुर्वत्सेऽकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गत-स्नेहार्द्रीकृत-चित्तता प्रवचनवत्सलत्वमुच्यते। यः सधर्मसु स्नेहः स एव प्रवचन-स्नेहः" (पृ० २६७, अ० ६, सूत्र २४)—जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर अकृत्रिम स्नेह को धारण करती है, उसी प्रकार साधर्मियों को देखकर उनके विषय में स्नेह से द्रवीभूत चित्त का होना प्रवचनवत्सलत्व है। जो साधर्मी बंधुओं में स्नेह भाव है, वह प्रवचन वत्सलपना अथवा प्रवचन के प्रति स्नेह है।

महापुराण में लिखा है, कि भगवान वृषभनाथ के जीव वज्रनाभि ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के पादमूल में सोलह कारण भावना भायी थीं। उनमें प्रवचन वत्सलता भी थी। उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :—

> वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनि धर्मवत्सलः।
> विनेयान् स्थापयन् धर्मे जिन-प्रवचनाश्रितान् ॥ ११,७७ ॥

धर्म वत्सल उस वज्रनाभि मुनिराज ने जिनेन्द्र के प्रवचन का आश्रय लेने वाले शिष्यों को धर्म में स्थापित करते हुए महान वात्सल्यभाव धारण किया।

इस प्रवचन वात्सल्य भावना से प्रवचनभक्ति नाम की भावना भिन्न है। उसका स्वरूप इस प्रकार कहा है :—

> परां प्रवचने भक्तिं आप्तोपज्ञे ततान सः।
> न पारयति रागादीन् विजेतुं संततासः ॥ ११-७४ ॥

वह सर्वज्ञ प्ररूपित जिनागम में अपनी उत्कृष्टभक्ति धारण करता था, क्योंकि जो व्यक्ति शास्त्र की भक्ति से शून्य रहता है, वह

रागादि शत्रुओं को नहीं जीत सकता है। रागादिशत्रुओं को जीतने में आगम का प्रेम तथा अभ्यास महान हितकारी है।

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, कि आगम के अभ्यास द्वारा अनेक लाभ होते हैं। "अण्णाणस्स विणासो"—अज्ञान का विनाश होता है, "णाण-दिवायरस्स उप्पत्ती"—ज्ञान सूर्य की उत्पत्ति होती है तथा "पडिसमय-मसंखेज्जगुणसेढि-कम्मणिज्जरणं"—प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणि रूप कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रवचन वत्सलता में जिनेन्द्र भगवान के आराधकों के प्रति हार्दिक स्नेह का सद्भाव आवश्यक है तथा प्रवचन भक्ति में प्रकृष्ट वचन रूप प्रवचन अर्थात् सर्वज्ञवाणी के प्रति विनय तथा आदर का सद्भाव रहता है। अकलंक स्वामी के ये शब्द विशेष प्रकाश डालते हैं, "अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः" (त. रा. पृ. २३७, अ. ६, सू. २४)—अर्हन्त भगवान, आचार्य परमेष्ठी, बहुश्रुत अर्थात् महान ज्ञानी व्यक्ति तथा जिनागम के प्रति भावविशुद्धि युक्त अनुराग भक्ति है। प्रवचन में भावों की निर्मलता युक्त अनुराग को प्रवचन भक्ति कहा है। भक्ति पूज्य के प्रति की जाती है। वात्सल्य में पारस्परिक प्रेम एवं हार्दिक स्नेह का सद्भाव पाया जाता है।

गुणधर आचार्य ने प्रवचन वात्सल्य भावना से प्रेरित हो जिनेन्द्रभक्तों के कल्याणार्थ इस ग्रंथ की रचना की। वीरसेन स्वामी का कथन है कि कषाय पाहुड संबंधी सूत्र गाथाएँ आचार्य परंपरा से आती हुई आचार्य आर्यमंक्षु तथा नागहस्ती आचार्य को प्राप्त हुईं—"पुणो ताओ चेव सुत्त-गाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु—णागहत्थीणं पत्ताओ।" (जयधवला पृ. ८८) उन गाथाओं पर प्रवचन-वत्सल यतिवृषभ भट्टारक ने चूर्णिसूत्रों की रचना की। "जयिवसह-भडारएण पवयण-वच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।" उन चूर्णिसूत्रों का प्रमाण छह हजार श्लोक है। इंद्रनंदि आचार्य ने कहा है; "तेन यतिपतिना रचितानि षट्सहस्र-ग्रंथान्यथ चूर्णिसूत्राणि" (श्लोक १५६)। उन सूत्रों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका आचार्य वीरसेन तथा जिनसेन ने बनाई। भट्ट हेमचंद्र ने श्रुतस्कंध में लिखा है:—"सत्तरि सहस्सधवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो। महबंधं चालीसं सिद्धंत-तयं अहं वन्दे।" धवलग्रंथ सत्तर सहस्र प्रमाण है। जयधवल साठ हजार प्रमाण है। महाबंध चालीस हजार प्रमाण है। जिनसेनाचार्य ने जयधवला की प्रशस्ति में कहा है, "टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसंद्योतिनी"—यह जय चिह्न युक्त महान धवल टीका सूत्रों के अर्थों पर भली प्रकार प्रकाश डालती है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ग्रंथकार के जीवन पर प्रकाश—गुणधर आचार्य के जीवन पर प्रकाश डालने वाली विशेष सामग्री का अभाव है। जयधवलाकार कषायपाहुड सूत्र को अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध करते हुए यह हेतु देते हैं, कि इसके रचयिता आचार्य का व्यक्तित्व महान था। वे "जिय-चउ-कसाया" क्रोध, मान, माया तथा लोभ स्वरूप कषायों के विजेता थे। वे "भग्ग-पंचिंदिय-पसरा"—पांचों इंद्रियों की स्वच्छंदता वियुक्त अर्थात् इंद्रिय-विजेता थे। उन्होंने "चूरिय-चउ-सएणसेणा"—आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह रूप चार संज्ञाओं की सेना का जय किया था अर्थात् वे इन संज्ञाओं के वशवर्ती नहीं थे। वे ऋद्धि गारव, रस गारव तथा साता गारव रहित थे; "इड्ढि-रस-साद-गारवुम्मुक्का"। परिग्रह सम्बन्धी तीव्र अभिलाषा को गारव दोष कहा है; "गारवाः परिग्रहगताः तीव्राभिलाषाः"। (मूलाराधना टीका गाथा ११२१)। विजयोदया टीका में कहा है, "ऋद्धित्यागासहता ऋद्धिगारवम्, अभिमतरसात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगारवम्। निकामभोजने निकामशयनादौ वा आसक्तिः सातगारवम्।" ऋद्धि आदि के होने पर उनसे अपने गौरव की भावना को धारण करना ऋद्धिगारव है। रसना को प्रिय लगने वाले रसों का त्याग न करना तथा अप्रिय रसों के प्रति मन में अनादर नहीं होना रसगारव है। [illegible] सद्भाव पाया जाता है। अधिक भोजन, अधिक निद्रा तथा विश्राम लेने में प्रवृत्ति या आसक्ति सात-गारव दोष है। महर्षि गुणधर भट्टारक में इन दोषों का अभाव था। वे रस परित्यागी, तपानुरक्त तथा विनम्र प्रकृति युक्त साधुराज थे। वे "सरीर-वदिरित्ता-सेस-परिग्गह-कलंकुत्तिण्णा"—शरीर को छोड़कर समस्त परिग्रह रूप कलंक से रहित थे। वे महान प्रतिभा-संपन्न थे। समस्त शास्त्रों में पारंगत थे, "सयल-गंथत्थावहारया"। वे मिथ्या प्रतिपादन करने में निमित्त रूप कारण सामग्री से रहित थे। इस कारण उनका कथन प्रमाण रूप है, "अलीयकारणाभावेण अमोह-वयणा तेण कारणेणेदे पमाणं"। पूर्वोक्त गुणों के कारण आचार्य गुणधर के सिवाय आर्यमंक्षु-नागहस्ति तथा यतिवृषभ आचार्य की वाणी भी प्रमाणता को प्राप्त होती है। वक्ता की प्रामाणिकता के कारण वचनों में प्रमाणिकता आती है। वीरसेन आचार्य के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं,—"प्रमाणीभूत-पुरुष-पंक्तिक्रमायात-वचनकलापस्य नाप्रामाण्यम् अति-प्रसंगात्"—प्रमाणकोटि को प्राप्त पुरुष परंपरा से उपलब्ध वचन समुदाय को अप्रमाण नहीं कह सकते हैं, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायगा। उससे सर्वत्र व्यवस्था का लोप हो जायगा। महान ज्ञानी, श्रेष्ठ चरित्र युक्त तथा पापभीरु महापुरुषों की कृतियों में पूर्णतया दोषों का अभाव रहता है, ऐसी मान्यता पूर्णतया न्याय्य तथा समीचीन है। समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है:—वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः

साध्य तद्धेतुसाधितम्। आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागम-साधितम्॥७८॥ वक्ता यदि अनाप्त है, तो युक्ति द्वारा सिद्ध बात हेतु-साधित कही जायगी। यदि वक्ता आप्त है तो उनके कथन मात्र होने से ही बात सिद्ध होगी। इसे आगम-साधित कहते हैं।

इस 'कसायपाहुडसुत्त' की रचना अंग-पूर्व के एक-देश ज्ञाता गुणधर आचार्य ने स्वयं की। धरसेन आचार्य भी अंग तथा पूर्वों के एक देश के ज्ञाता थे। वे षट्खंडागम सूत्र की रचना स्वयं न कर पाए। उन्होंने भूतबलि तथा पुष्पदन्त मुनीन्द्रों को महाकम्मपयडि-पाहुड का उपदेश देकर उनके द्वारा 'षट्खंडागम' सूत्रों का प्रणयन कराया। श्रुतावतार कथा में लिखा है—धरसेन आचार्य को अग्रायणी पूर्व के अंतर्गत पंचम वस्तु के चतुर्थभाग महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। अपने निर्मल ज्ञान में उन्हें यह भासमान हुआ, कि मेरी आयु थोड़ी शेष रही है। यदि श्रुतरक्षा का कोई प्रयास न किया जायगा, तो श्रुतज्ञान का लोप हो जायगा। ऐसा विचार कर उन्होंने वेणातटाकपुर में विराजमान महामहिमा-शाली मुनियों के समीप एक ब्रह्मचारी के द्वारा इस प्रकार पत्र भेजा था, "स्वस्ति श्री वेणातटाकवासी यतिवरों को उर्जयन्त तट निकटस्थ चंद्रगुहानिवासी धरसेनगणि अभिवन्दना करके यह सूचित करता है, कि मेरी आयु अत्यन्त अल्प रह गई है। इससे मेरे हृदयस्थ शास्त्र की व्युच्छित्ति हो जाने की संभावना है। अतएव उसकी रक्षा के लिए आप शास्त्र के ग्रहण, धारण में समर्थ तीक्ष्ण बुद्धि दो यतीश्वरों को भेज दीजिये।" *

विशेष बात—इस कथन के प्रकाश में यह कहना होगा, कि कषायपाहुडसुत्त अंग-पूर्व के एकदेश के ज्ञाता गुणधर आचार्य की साक्षात् रचना है। षट्खण्डागम की रचना में इससे भिन्न बात है। वह महान् ज्ञानी धरसेन आचार्य की साक्षात् रचना न होकर उनके दो महान् शिष्यों की कृति है, जिसमें धरसेन स्वामी का ही मनोगत निबद्ध है (जिसे उन्होंने गुरु परंपरा द्वारा प्राप्त किया था)। धरसेन स्वामी ने जो पत्र वेणातटाकपुर के संघ नायक को भेजा था, उससे यह स्पष्ट होता है, कि आचार्य गुणधर तथा धरसेन स्वामी सदृश महान ज्ञानी मुनीश्वरों का अनेक स्थानों पर सद्भाव था। संघाधिपति आचार्य महान् ज्ञानी रहे हों।।

ग्रन्थ की पूज्यता—यह ग्रंथ द्वादशांग वाणी का अंश रूप होने से अत्यन्त पूज्य, प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण है। द्वादशांगवाणी

* देखिए—महाबंध की हमारी प्रस्तावना पृष्ठ ११

को वेद कहा गया है। इस दृष्टि से यह वेदांश या वेदांग रूप है। महर्षि जिनसेन का कथन है।

> श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशांगमकल्मषम् ।
> हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥ महापुराण ३९-२२ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविहितसागर जी महाराज

यह सुरचित द्वादशांग वेद है। यह किसी प्रकार के दोष से दूषित नहीं है। जो जीव वध का निरूपण करने वाली रचना है, वह वेद नहीं है। वह तो कृतान्त की वाणी है।

यह भी ज्ञातव्य है, कि षट्खंडागम सूत्र की महान कृति की रचना होने पर ज्येष्ठ सुदी पंचमी को वैभवपूर्वक श्रुत की पूजा की गई थी तथा उस समय से श्रुतपंचमी नाम से सरस्वती की समाराधना का पर्व प्रारंभ हुआ। गुणधर स्वामी कृत इस कषायपाहुड सूत्र में केवल २३३ गाथाएं हैं। षट्खंडागम महाशास्त्र है। उसके छठवें ख० महाबंध की रचना चालीस हजार श्लोक प्रमाण है। शेष पांच खण्ड लगभग छह छह हजार श्लोक प्रमाण होंगे। षट्खंडागम की रचना होने पर देवताओं ने हर्षोत्सव मनाया था। कसायपाहुड सूत्र के विषय में ऐसा इतिहास नहीं है। यह कसायपाहुड अहेतुवाद, स्वयं प्रमाण स्वरूप आगम होने से प्रामाण्यता को प्राप्त है। यह रचना अत्यन्त कठिन और दुरूह होते हुए भी स्वाध्याय करने वाली आत्माओं को विशुद्धिप्रद है। इसे जिनेन्द्रवाणी का साक्षात् अंश मानकर विनय सहित पढ़ने तथा तथा सुनने वाले भव्य जीव का कल्याण होगा। आत्म कल्याण के प्रेमी, भद्र परिणामी भव्यों के लिए ऐसी रचनाएँ अमृतोपम हैं।

मंगलाचरण का अभाव—कषायपाहुड सूत्र ग्रंथ का परिशीलन करते समय एक विशेष बात दृष्टिगोचर होती है, कि अन्य ग्रंथों की परंपरा के अनुसार इस शास्त्र में मंगल रचना न करके गुणधर स्वामी ने एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। उनका अनुगमन कर यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णिसूत्रों के आरंभ में मंगल नहीं किया है।

शंका—जयधवला में कहा है, गुणधर भट्टारक ने गाथा सूत्रों के आदि में तथा यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णिसूत्रों के आदि में मंगल क्यों नहीं किया?

उत्तर—यह कोई दोष की बात नहीं है। प्रारंभ किए गये कार्यों में विघ्नकारी कर्मों के विनाशार्थ मंगल किया जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति परमागम के उपयोग द्वारा होती है। यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध भावों के द्वारा कर्मों का क्षय नहीं स्वीकार किया गया, तो अन्य उपाय द्वारा कर्मों का क्षय असंभव होगा। ❀

शंका—शुभ भाव कषायों के उदय से होते हैं। उनसे कर्मबंध ही होगा। उन्हें कर्मक्षय का हेतु क्यों कहा गया है?

उत्तर—शुभ भावों में तीव्र कषाय का अभाव रहता है। उनमें मंद कषाय रूप परिणति होती है। शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होने पर अशुभ योगों का संवर होता है। संवर रूप परिणामों से कर्मों की निर्जरा मानने में कोई बाधा नहीं है। कार्तिकेयानप्रेक्षा में कहा है, "मंद-कसायं धम्मं" (४७०) मंद कषाय धर्म है। कुन्दकुन्द स्वामी रचित बारह अनुप्रेक्षा में कहा है :—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुह-जोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥ ६३ ॥

शुभ योगों में प्रवृत्ति से अशुभ योग का निरोध अर्थात् संवर होता है। शुभ योगों का निरोध शुद्ध उपयोग द्वारा संभव है।

शुभ योगों में जितना निवृत्ति अंश है, उतना धर्म रूप तत्व है। जितना अंश सरागता युक्त है, उतना पुण्य बंध का हेतु कहा गया है। शुभोपयोग परिणत आत्मा में भी धर्म रूप परिणत सद्भाव प्रवचनसार में बताया गया है। कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है :—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध-संपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ प्रवचनसार-११ ॥

जब आत्मा धर्म परिणत स्वभाव युक्त हो शुद्धोपयोग को धारण करता है, तब मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। जब आत्मा धर्म परिणत स्वभाव युक्त हो शुभ उपयोग रूप परिणत होता है, तब वह शुभोपयोग के द्वारा स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है।

❀ मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्ज-विग्घयरकम्म-विणासणट्ठं। तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं; सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो। उत्तं च-

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभय-वज्जिओ होइ ॥पृ.६,जयधवला, भाग १॥

भ्रम निवारण—गुणधर आचार्य ने मंगल रचना न करके यह विशेष बात स्पष्ट की है, कि परमागम का अभ्यास बौद्धिक व्यायाम सदृश मनोरंजक नहीं है, किन्तु उसके द्वारा भी निर्मल उपयोग होने से कर्म निर्जरा की उपलब्धि होती है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि जन साधारण मंगल स्मरण कार्य से विमुख हो जावे। स्वयं चतुर्ज्ञान समलंकृत गौतम गोत्रीय गणधर इन्द्रभूति ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आरंभ में मंगल किया है। यतिवृषभ स्थविर तथा गुणधर भट्टारक ने विशुद्ध नय के अभिप्राय से मंगल नहीं किया, किन्तु गौतम स्वामी ने मार्गदर्शक व्यवहार [illegible] प्रकार अपेक्षा भेद है।

शंका—भूतार्थ होने से एक निश्चय नय ही उपादेय है; व्यवहार नय अभूतार्थ होने से त्यागने योग्य है। उस व्यवहार नय का आश्रय श्रुतकेवली गणधर ने लिया, इसमें क्या रहस्य है?

समाधान—गौतम गणधर का कथन है, कि व्यवहार नय त्याज्य नहीं है। उसके आश्रय से अधिक जीवों का कल्याण होता है। "जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वोत्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं (ज० ध० पृ० ८ भा० १) जो व्यवहार नय बहुत जीवों का हितकारी है, उसका त्याग न कर उसका आश्रय लेना चाहिये, ऐसा अपने मन में निश्चयकरके गौतम स्थविर ने मंगल किया है। उनके ही पथ का अनुसरण कर कुन्दकुन्द, समंतभद्र आदि महर्षियों ने व्यवहार नय का आश्रय लेकर स्वयं को तथा अनेक जीवों को कल्याण मार्ग में लगाने के हेतु शास्त्रों में मंगल रचना की है। इस प्रकाश में उन आत्माओं को अपनी विपरीत दृष्टि का संशोधन करना चाहिये, कि व्यवहार नय व्यर्थ है तथा वह निन्दा का ही पात्र है। वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप परिणत महा मुनि निश्चय नय का आश्रय लेकर स्वहित संपादन करते हैं। सामान्य मुनिजन भी जब निश्चय नय रूपी सुदर्शन चक्र को धारण करने में असमर्थ हैं, तब परिग्रह-पिशाच से अभिभूत इंद्रियों और विषयों का दास गृहस्थ उसके धारण की जो बातें सोचता है, यह उसका अति साहस है। वह जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा को पकड़ने की बालोचित तथा महर्षियों द्वारा असमर्थित चेष्टा करता है। एकान्त पक्ष हानिप्रद है।

मंगल का महत्व—व्यवहार नय की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए जयधवला में वीरसेन स्वामी अरहंत स्मरण रूप मंगल का

महत्व व्यक्त करते हुए कहते हैं, "तेण सोवण-भोयण-पयाण-पच्चावत्त सत्थपारंभादिकिरियासु णियमेण अरहंतणमोक्कारो कायव्वो"—(पुण्णर्द्धविध:-) [illegible] प्रत्यावर्तन (वापिस आना) तथा शास्त्र के प्रारंभ आदि क्रियाओं में नियम से (णियमेण) अर्हंत नमस्कार अर्थात् णमो अरिहंताणं रूप महा मंत्र का स्मरण करना चाहिये ।

मूलाचार में कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है :—

अरहंत-णमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ ७-५ ॥

जो निर्मल बुद्धि मानव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सब दुखों से मुक्त हो जाता है ।

वास्तव में यह महामंत्र द्वादशांग वाणी का सार है, जो श्रावक, मुनियों तथा अन्य जीवों का कल्याण करता है। इसके द्वारा पापों का क्षय होने से दुःखों का भी नाश होता है। पापों के विपाकवश ही जीव दुःख प्राप्त करते हैं । इसके द्वारा पुण्य का बंध होता है, इससे मनोवांछित सुखदायक सामग्री प्राप्त होती है। यह पंच परमेष्ठी का स्मरण रूप मंगल संपूर्ण मंगलों में श्रेष्ठ है। कहा भी है :—

एसो पंच णमोयारो सव्वपाव-प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

यह पंच नमस्कार मंत्र संपूर्ण पापों का क्षय करने वाला है। यह संपूर्ण मंगलों में सर्वोपरि है। श्रमणों के जीवन में इस मंत्र का, प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाओं के करते समय, अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

महत्व की बात—पंच परमेष्ठियों में अष्ट कर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान सर्व श्रेष्ठ हैं, फिर भी महामंत्र में चार घातिया कर्मों का क्षय करने वाले अरहंत को प्रणाम के पश्चात् सिद्धों को प्रणाम किया गया है। इसका कारण यह है, कि व्यवहार नय की अपेक्षा अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा अगणित जीवों को कल्याण पथ में प्रवृत्त कराने वाले अरहंत प्रथम पूजनीय माने गए हैं। यहां निश्चय नय की अपेक्षा न करके व्यवहार की उपयोगिता को लक्ष्य में ले बहुजीव-अनुमहार्थ

"णमो अरहंताणं" को मुख्यता दी गई है। निश्चय दृष्टि में कोई किसी का कल्याण या उपकार नहीं करता है। उसकी अपेक्षा ली जाती, तो पंचपरमेष्ठी रूप नमस्कार मंत्र केवल सिद्ध परमेष्ठी की अभिवंदना रूप रह जाता।

प्राचीन मंत्र—यह पंच परमेष्ठी स्मरण मंत्र अनादि मूलमंत्र है। 'अनादि-मूल-मंत्रोयम्' यह वाक्य जैन परंपरा में प्रसिद्धि को प्राप्त है। श्वेताम्बर संप्रदाय भी इसे अनादि मूलमंत्र मानता है। मूलाराधना टीका में अपराजित सूरि ने कहा है, कि सामायिक आदि लोकबिन्दुसार पर्यन्त समस्त परमागम में णमो अरिहंताणं इत्यादि शब्दों द्वारा गणधरों ने पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है। उक्त ग्रंथ के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं;

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"यद्येवं सकलस्य श्रुतस्य सामायिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्भिर्गणधरैः णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पंचानां नमस्कारः कृतः?"

गौतम गणधर रचित प्रतिक्रमण ग्रंथ त्रयी से णमोकार मंत्र की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। उसमें यह पाठ पढ़ा जाता है; "जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोकारं करेमि, पज्जुवासं करेमि ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि"—जब तक मैं अरहंत भगवान को नमस्कार करता हूं, तथा पर्युपासना करता हूं, तब तक मैं पापकर्म तथा दुश्चरित्र के प्रति—"उदासीनो भवामि"—उदासीनता को धारण करता हूं। टीकाकार प्रभाचंद्र ने पर्युपासना को इस प्रकार स्पष्ट किया है; "एकाग्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्विंशत्युत्तर-शतत्रयादि-उच्छ्वासै-रष्टोत्तर-शतादिवारान् पंचनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्युपासनकरणं" (पृ० १५१) एकाग्रचित्त हो विशुद्ध मनोवृत्तिपूर्वक तीन सौ चौबीस उच्छ्वासों में एक सौ आठ बार पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण करना अर्हन्त की पर्युपासना है।" इससे स्पष्ट होता है, कि प्रतिक्रमण करते समय १०८ बार णमोकार की जाप रूप पर्युपासना का कार्य परम आवश्यक है।

धर्मध्यान के दूसरे भेद पदस्थ ध्यान में मंत्रों के जाप और ध्यान का कथन किया गया है। द्रव्यसंग्रह की गाथा ४६ की टीका में बारह हजार श्लोक प्रमाण पंचनमस्कार संबंधी ग्रंथ का उल्लेख किया गया है।

"द्वादश-सहस्रप्रमित-पंचनमस्कार-ग्रंथकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं ....ज्ञात्वा ध्यातव्यम्"—(२०४ बृहद् द्रव्यसंग्रह)

भ्रान्त कल्पना—मंत्रों में श्रेष्ठ णमोकार मंत्र की अनादि मूल मांगलिकता में कल्पित अंश का समावेश उस समय से हुआ, जब से धवला टीका का हिन्दी अनुवाद सहित प्रथम भाग प्रकाश में आया तथा उसके आधार पर यह प्रचार किया गया, कि पुष्पदंत आचार्य ने इसकी रचना की, अतः यह निबद्ध नाम का पारिभाषिक मंगल है, जिसका भाव है ग्रंथ कर्ता की यह रचना है। जीवट्ठाण खण्ड के प्रारंभ में कहा गया है "इदं जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं"। इसका यह अर्थ लगाना, कि जीवट्ठाण में पारिभाषिक निबद्ध मंगल है, असंगत है। जीवट्ठाण सूत्र का नाम नहीं है। यह एक ग्रंथ का नाम है। षट्खंडागम के प्रथम खण्ड को जीवट्ठाण संज्ञा प्रदान की गई है। उस ग्रंथ में मंगल संलग्न रहने से कहा है, कि यह जीवट्ठाण मंगल ग्रंथ सहित है। यदि पारिभाषिक मंगल "निबद्ध" शब्द का अभिधेय होता, तो "इदं जीवट्ठाणं सणिबद्धमंगलं" पाठ होता। ऐसा नहीं है, अतः णमोकार को पुष्पदन्त आचार्य की रचना कहना 'गगनारविन्द सुरभिः'—आकाश का कमल सौरभ संपन्न है यह कथन-सदृश असत्य और अपरमार्थ मात्र है।

विचारक बुद्धि (Common Sense) के द्वारा चिंतन करने पर, यह ज्ञात होगा कि जिस धर्म की चौबीस सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने देशना दी उस धर्म की आधार शिला रूप णमोकार मंत्र को किस प्रकार दूसरी सदी में उत्पन्न मानने को विवेक द्वारा समर्थन मिलेगा? ऐसी महान सांस्कृतिक विशुद्ध धारणा के विरुद्ध नई शोध के नाम पर अयथार्थ प्रचार पक्ष का मोह अमंगल कार्य है। श्रमण संस्कृति के मूलाधार श्रमण जीवन की दैवसिक क्रियाओं में क्षण क्षण में इस महामंत्र णमोकार के स्मरण की आवश्यकता बताई गई है। अतः धार्मिक एवं विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है, कि पक्ष व्यामोह वश किए प्रचार के अनुसार अपनी धारणा न बनावें। आगम, युक्ति तथा परंपरादि के अनुसार विचारों को विशुद्ध बनाना समीचीन कार्य होगा।

जयधवला टीका की ताम्रपत्रीय प्रति—कषायपाहुड सूत्र की जयधवला टीका की ताडपत्रीय प्रति मूडबिद्री के सिद्धान्त मंदिर में विद्यमान है। यह पुरातन कानडी लिपि में है। भाषा कहीं संस्कृत है, कहीं प्राकृत है। इस प्रकार 'मणि-प्रवाल' न्यायानुसार यह भाषा पाई जाती है। यह प्रति सात, आठ सौ वर्ष पुरातन कही जाती है। उसे ही आज मूल प्रति माना जाता है। चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की इच्छा पूर्ति हेतु उक्त साठ हजार प्रमाण ग्रंथ की ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण प्रति आचार्य शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था के द्वारा तैयार कराई गई। इसी प्रकार धवला टीका भी ताम्रपत्र में

उत्कीर्ण हुई। महाबंध भी ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हो गया है। ये ग्रंथ फलटण, बंबई में रखे गए हैं। परिपूर्ण महाबंध मूलग्रंथ का संपादन, प्रकाशन का पुण्य कार्य आचार्य महाराज की आज्ञानुसार हमारे द्वारा संपन्न हुआ था। हमने महाबंध प्रथम 'पयडिबंध' का हिन्दी अनुवाद किया था। उसका दूसरा संस्करण मुद्रित हुआ है।

धर्मध्यान का साधक—

शास्त्रकारों ने धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को निर्वाण का साधन कहा है। इस दुःषमा नामके पंचमकाल में शुक्लध्यान की सामर्थ्य नहीं पाई जाती है। धर्मध्यान की पात्रता पाई जाती है। उसके तृतीय भेद विपाक-विचय धर्मध्यान में कर्मों के विपाक का चिंतवन किया जाता है। आचार्य अकलंक ने कहा है—"कर्मफलानुभवनविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-प्रत्यय फलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः" (त० रा० पृ० ३५३) कर्मों के फलानुभवन-विपाक के प्रति उपयोग [illegible] महाराज धर्मध्यान का साधक है।

ज्ञानावरणादिक कर्मों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के निमित्त से जो फलानुभवन होता है, उस ओर चित्तवृत्ति को लगाना विपाक विचय है। कर्मों के स्वरूप तथा विपाक का चिंतवन करने पर रागादि की मन्दता होती है तथा कषाय विजय का कार्य सरल हो जाता है। यह शास्त्र धर्मध्यान का साधक है।

तात्विक दृष्टि—समयप्राभृत की देशना के प्रकाश में जीव यह सोचता है—

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभाय-ठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजम - लद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

इस जीव के न तो वर्ग है, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न अध्यवसाय स्थान है, न अनुभाग स्थान है। जीव के न योगस्थान है,

न बंधस्थान है, न उदयस्थान है, न मार्गणा स्थान है, न स्थितिबंध स्थान है, न संक्लेश स्थान है, न विशुद्धिस्थान है, न संयमलब्धि स्थान है। जीव के न जीवस्थान है, न गुणस्थान है, कारण ये सब पुद्गल के परिणाम हैं।

विवेक पथ—यह है परिशुद्ध पारमार्थिक दृष्टि। मुमुक्षु आत्मा एकान्त पक्ष का परित्याग कर व्यवहार दृष्टि को भी दृष्टिगोचर रखता है। यदि व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर एकान्तरूप से निश्चय दृष्टि को अपनाया जाय, तो वह जीव मोक्ष मार्ग के विषय में अकर्मण्य बनकर स्वच्छन्द आचार द्वारा पाप का आश्रय लेगा तथा उसके विपाकवश दुःखपूर्ण पर्यायों में जाकर वह वर्णनातीत व्यथा का अनुभव करेगा।

पंचास्तिकाय की टीका में (गाथा १७२) अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—"जो एकान्त से निश्चयनय का आलंबन लेते हुए रागादि विकल्पों से रहित परमसमाधिरूप शुद्धात्मा का लाभ न पाते हुए भी तपस्वी के आचरणयोग्य सामायिकादि छह आवश्यक क्रिया के पालन का तथा श्रावक के आचरण के योग्य दान, पूजा आदि का खण्डन करते हैं, वे निश्चय [illegible] तथा व्यवहार आचरण के योग्य अवस्था से भिन्न कोई अवस्था को न जानते हुए पाप को ही बांधते हैं।"* प्रमाद का आश्रय लेने वाला निश्चयाभासी आत्मा का विकास न करता हुआ पतन अवस्था को प्राप्त करता है तथा व्यवहाराभासी पुण्यआचरण द्वारा स्वर्ग जाता है। विवेकी साधक समन्वय के पथ को स्वीकार करता हुआ कहता है :—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥ स.प्रा. ॥

---

* "येपि केवलनिश्चयनयावलंबिनः संतोपि रागादि-विकल्परहित परमसमाधिरूपं शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधनाचरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकाचरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयन्ते, तेप्युभयभ्रष्टाः संतो निश्चय-व्यवहारानुष्ठानयोग्यावस्थान्तर-मजानन्तः पापमेव बध्नंति।" (पंचास्तिकाय टीका पृष्ठ २६) यह भी कहा गया है—"ये केचन...... व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकक्लेश-परंपरया संसारं परिभ्रमंतीति"—जो एकान्तवादी व्यवहारनय को ही मोक्षमार्ग स्वीकार करते हैं, वे देवलोक के कृत्रिम सुख रूप क्लेश परंपरा का अनुभव करते हुए संसार में भ्रमण करते हैं।

ये वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव में पाये जाते हैं। निश्चय नय की अपेक्षा ये जीव के भाव नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्त्वज्ञान तरंगिणी में कहा है :—

> व्यवहारेण विना केचिन्नष्टाः केवलनिश्चयात् ।
>
> निश्चयेन विना केचित् केवलव्यवहारतः ॥

कोई लोग व्यवहार का लोपकर निश्चय के एकान्त से विनाश को प्राप्त हुए और कोई निश्चय दृष्टि को भूलकर केवल व्यवहार का आश्रय लेकर विनष्ट हुए।

> द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोकनम् ।
>
> यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं च स्याद्वादिभिः ॥

जैसे दोनों नेत्रों के बिना सम्यक् रूप से वस्तु का अवलोकन नहीं होता, उसी प्रकार दोनों नयों के बिना भी यथार्थरूप में वस्तु का ग्रहण नहीं होता, ऐसा भगवान का कथन है।

कषायपाहुड का प्रमेय—इस ग्रंथ में मोहनीय कर्म के भेद कषाय पर विशेष प्रकाश डाला गया है। आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने कषाय के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

> सुहदुक्ख-सुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
>
> संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥ २८२ ॥ गो. जी.

जिस कारण सुख, दुःख रूप बहु प्रकार के तथा संसार रूप सुदूर मर्यादा युक्त ज्ञानावरणादि रूप कर्म क्षेत्र (खेत) का कर्षण (हल आदि के द्वारा जोतना आदि) किया जाता है, इस कारण इसे कषाय कहते हैं।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप सेवक मिथ्यादर्शन आदि संक्लेश भाव रूप बीज को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध लक्षण कर्मरूप खेत में बोता हुआ कालादि सामग्री को प्राप्त कर सुख दुःख रूप बहुविध धान्यों को प्राप्त करता है। इस कर्म क्षेत्र की अनादि अनंत पंच परावर्तन संसार रूप सीमा है। यहां ("कृषतीति कषायः") इस प्रकार निरुक्ति की गई है। इस ग्रंथ का प्रमेय कषाय के विषय में 'पेज्ज-दोस पाहुड' के अनुसार प्रतिपादन करना है।

इस जीव के कर्मबन्ध होने में कषाय मुख्य कारण है। तत्त्वार्थ-सूत्र में कहा है—"सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बंधः"—जीव कषाय सहित होने से कर्मरूप परिणत होने योग्य पुद्गलों को—कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है, उसे बंध कहते हैं। कषाय की मुख्यता से होने वाले कर्मबंध के द्वारा यह जीव कष्ट भोगा करता है।

> जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावडियं।
> एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावडियं ॥ गो. जी. २०१

जैसे कोई बोझा ढोने वाला पुरुष काँवड़ को ग्रहण कर बोझा ढोता है, इसी प्रकार यह जीव शरीर रूप काँवड़ में कर्मभार को रखकर ढोया करता है।

कर्म संबंधी मान्यताएं—इस कर्म सिद्धान्त का समादर सर्वत्र पाया जाता है; किन्तु जैन आगम में जिस प्रकार इसका प्रतिपादन किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं है। सामान्यतया 'क्रिया' को 'कर्म' संज्ञा प्रदान की जाती है। गीता में "योगः कर्मसु कौशलम्"—कर्म में कुशलता को योग कहा है। गीता [illegible] में [illegible] ([illegible]) को [illegible] माना गया है। इसी कारण वहां "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" अकर्मा बनने की अपेक्षा कर्मशीलता को अच्छा कहा है। ऐसी भी मान्यता है कि क्योंकि सत् अथवा असत् कार्य विशिष्ट संस्कारों को छोड़ जाता है; उस संस्कार से आगामी जीवन की क्रियाएं प्रभावित होती हैं। उसी संस्कार विशेष को कर्म कहा जाता है। इस संस्कार को कर्माशय, धर्म, अधर्म, अदृष्ट या दैव नाम से कह देते हैं। तुलसीदास ने कहा है :—

> तुलसी काया खेत है मनसा भयो किसान।
> पाप पुण्य दोउ बीज हैं, बुवै सो लुनै निदान ॥

बुद्ध धर्म की दृष्टि कर्म के विषय में किस रूप में है, यह बुद्ध के इस आख्यान द्वारा अवगत होती है। कहते हैं, एक बार गौतम बुद्ध भिक्षार्थ किसी संपन्न किसान के यहां गये। उस कृषक ने उनसे कहा, "आप मेरे समान किसान बन जाइये। मेरे समान आपको धन-धान्य की प्राप्ति होगी। उससे आपको भिक्षा प्राप्ति हेतु प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा।" बुद्धदेव ने कहा, "भाई! मैं भी तो किसान हूं। मेरा खेत मेरा हृदय है। उसमें मैं सत्कर्म रूपी बीज बोता हूं। विवेक रूपी हल चलाता हूं। मैं विकार तथा वासना रूपी घास की निदाई करता हूं तथा प्रेम और आनंद की अपार फसल काटता हूं।

महर्षियों ने पूर्वबद्ध कर्मों को बलवान कहा है। यह सूक्ति महत्वपूर्ण है—

वैद्या वदन्ति कफ–पित्त–मरुद्विकारान् ।
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति ॥
भूताभि–भूतमिति भूतविदो वदन्ति ।
प्राचीनकर्म बलवन्मुनयो वदंति ॥

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मीमांसा दर्शन में पशु बलिदान आदि क्रियाकाण्डों को कर्म संज्ञा प्रदान की गई है। वैयाकरण पाणिनि ने कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट को कर्म कहा है। महाभारत में उसे कर्म कहा है, जिससे जीव बंधन को प्राप्त करता है—"कर्मणा बध्यते जन्तुः, विद्यया तु प्रमुच्यते" (२४०–७) पतंजलि के योगसूत्र में "क्लेश का मूल कारण कर्म (कर्माशय) कहा गया है। कर्माशय-कर्म की वासना इस जन्म में तथा जन्मान्तर में अनुभवगोचर हुआ करती है। योगी के अशुक्ल एवं अकृष्ण कर्म होते हैं। संसारी जीवों के शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण कर्म कहे गए हैं।—"क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्"— (यो. द. कैवल्यपाद)।

क्रियात्मक क्षणिक प्रवृत्ति से उत्पन्न धर्म तथा अधर्म पदवाच्य आत्मसंस्कार कर्म के फलोपभोग पर्यन्त पाया जाता है।

अशोक के शिलालेख नं० ८ में लिखा है, "इस प्रकार देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।' 'मिलिन्द प्रश्न' बौद्ध रचना में मिलिन्द नरेश को भिक्षु नागसेन ने कर्म का स्वरूप इस प्रकार समझाया है, जीव कर्मों के अनुसार नाना योनियों में जन्म धारण करते हैं। कर्म से ही जीव ऊँचे-नीचे हुए हैं।—"कम्मपरिसरणा। कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनप्पणीततायीति"* जैन वाङ्मय में कर्म का सुव्यवस्थित, शृङ्खलाबद्ध तथा वैज्ञानिक वर्णन है। कर्म विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। कर्म के बंध पर प्रकाश डालने

*"O Maharaja, it is because of differences of action that men are not like, for some live long and some are short-lived; some are hale and some weak; some comely and some ugly; some powerful and some without power; some rich, some poor, some born of noble, some meanly stock, some wise and some foolish"—The Heart of Buddhism p. 85.

वाला महाबंध शास्त्र चालीस हजार श्लोक प्रमाण है, जो प्राकृत भाषा में रचा गया है। बंध के मूल कारण क्रोधादि कषायों का वर्णन करने वाली रचना जयधवला साठ हजार श्लोक प्रमाण है। इत्यादि इस प्रकार के विपुल साहित्य के परिशीलन द्वारा यह अवगत हो जाता है, कि सर्वज्ञ होने के कारण जैन तीर्थंकरों की कर्म सम्बन्धी देशना मौलिक, सारपूर्ण तथा वैज्ञानिक है। इस कर्म की सुस्पष्ट विवेचना से इस बात का हृदयग्राही समाधान प्राप्त होता है, कि परमात्मा को शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, अनंत शक्ति सम्पन्न स्वीकार करते हुए भी उसका विश्व निर्माण तथा कर्म फल प्रदान कार्य में हस्तक्षेप न होते हुए किस प्रकार लोक व्यवस्था में बाधा नहीं आती।

जैन दर्शन में कर्म—कर्म का स्वरूप समझने के पूर्व यदि हम इस विश्व का विश्लेषण करें, तो हमें सचेतन तथा अचेतन ये दो तत्त्व प्राप्त होते हैं। चैतन्य (Consciousness) अर्थात् ज्ञान-दर्शन गुणयुक्त आत्म तत्त्व है। आकाश, काल, गमन तथा स्थिति रूप परिवर्तन के माध्यम रूप धर्म तथा अधर्म नाम के तत्त्व और पुद्गल (Matter) ये पाँच अचेतन द्रव्य हैं। इन छह द्रव्यों के समुदायरूप यह विश्व है। इनमें आकाश, काल, धर्म और अधर्म तो निष्क्रिय द्रव्य है। इनमें प्रदेश-
मार्गदर्शक: आचार्य श्री सुविधिसागर जी
संचलनरूप क्रिया का अभाव है। अगुरुलघु नाम के गुण के कारण षड्-गुणीहानि-वृद्धि रूप परिणमनमात्र पाया जाता है। ऐसा न मानें, तो द्रव्य कूटस्थ हो जायगी।

[1]जीव तथा पुद्गल में परिस्पंदात्मक क्रिया प्रत्येक के अनुभव गोचर है। पंचाध्यायी में कहा है :—

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः॥
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येक-वस्तुनि॥२।२५, २६॥

जीव तथा पुद्गल में भाववती और क्रियावती शक्ति पायी जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल में भाववती शक्ति उपलब्ध होती है। प्रदेशों के संचलनरूप परिस्पंदन को क्रिया कहते हैं। धारावाही एक वस्तु में जो परिणमन पाया जाता है, उसे भाव कहा जाता है।

---

[1]भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ। परिणाममात्रलक्षणो भावः। परिस्पंदनलक्षणा क्रिया। (प्रवचनसार टीका गाथा १२६)

वैभाविक नाम की शक्ति विशेष वश जीव और पुद्गल संयुक्त हो बंधनबद्ध हो जाते हैं। [1]जिस प्रकार चुंबक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार वैभाविक शक्ति विशिष्ट जीव रागादि भावों के कारण कार्माण वर्गणा तथा आहार, तैजस, भाषा तथा मनोवर्गणा रूप नोकर्मवर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने लिखा है[2], कि जिस प्रकार तप्त लोह पिण्ड सर्वांग में जल को खेंचकर आत्मसात् करता है, उसी प्रकार रागादि से संतप्त जीव भी[3] कार्माण तथा नोकार्माण वर्गणाओं को खेंचा करता है। अनंतानंत परमाणुओं के प्रचय को वर्गणा कहते हैं। पद्मनंदि पंचविंशतिका में कहा है :—

धर्माधर्म-नभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते।
चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु॥
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो नोकर्म-कर्माकृतिः।
वैरी बंधकृदेष संप्रति मया भेदासिना खंडितः॥२५॥

आलोचना अधिकार

धर्म, अधर्म, आकाश और काल मेरा तनिक भी अहित नहीं करते हैं। ये गमन, स्थिति आदि कार्यों में मेरी सहायता किया करते हैं। एक पुद्गल द्रव्य ही कर्म और नोकर्म रूप होकर मेरे समीप रहता है। अब मैं बंध के कारण उस कर्म रूप शत्रु का भेद-विचार रूपी तलवार के द्वारा विनाश करता हूँ।

परिभाषा—परमात्म प्रकाश में कहा है :—

विसय-कसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति॥६२॥

विषय तथा कषायों के कारण आकर्षित होकर जो पुद्गल के परमाणु जीव के प्रदेशों में लगकर उसे मोहयुक्त करते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य की तेईस प्रकार की वर्गणाओं में कार्माण वर्गणा कर्म रूप होती है तथा आहार, तैजस, भाषा और मनोवर्गणा नोकर्म रूपता को प्राप्त होती हैं। शेष अष्टादश प्रकार का पुद्गल कर्म-नोकर्मरूपता

---

[1]अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिः विभावाख्या मिथो बंधाधिकारिणी॥पंचा. २।४२॥

[2]देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायस-पिंडओव्व जलं॥ गो० क० ३॥

[3]परमाणूहि अणंताहि वग्गणसण्णा दु होदि एक्का हु॥ गो.जी. २४४॥

को नहीं प्राप्त होता है। उनका आत्मा के साथ साथ संबंध होने के लिए यह आवश्यक है कि वे उपरोक्त पंच प्रकार की वर्गणाओं के रूप में परिणत हों। प्रवचनसार में कहा है :—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि-भावेहिं ॥९५॥

=ं० जब राग-द्वेष युक्त आत्मा शुभ तथा अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब कर्म रूपी धूली ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है।

यहाँ कुंदकुंद स्वामी ने कर्म को धूलि सदृश बताया है। तैल लिप्त शरीर पर जिस प्रकार धूलि चिपक जाती है; इसी प्रकार रागादि से मलिन आत्मा के साथ कर्म रूपी रज का बंध होता है। पुद्गल के परमाणु स्निग्धपना तथा रूक्षपना के कारण परस्पर बंध अवस्था को प्राप्त कर इस विश्व में विविध रूपता का प्रदर्शन करते हैं। अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं, कि दो अणु आदि अनंतानंत परमाणु युक्त पुद्गलों का कर्ता जीव नहीं है। वे परमाणु ही स्वयं इन अवस्थाओं के उत्पादक हैं। 'अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानंत-पुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोस्ति" इस विश्व में सर्वत्र सूक्ष्म तथा स्थूल पर्याय परिणत अनन्तानन्त पुद्गलों का सद्भाव पाया जाता है। "ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोस्ति"— इससे यह निश्चय किया जाता है कि पुद्गल पिण्डों को लाने वाला पुरुष नहीं है। वे पुद्गल बिना बाधा उत्पन्न किये ही समस्त लोक में पाये जाते हैं।*

=ं० [जैसे नवीन मेघ के जल का भूमि से संबंध होने पर पुद्गलों का स्वयमेव दूर्वा, विविध कीटादि रूप परिणमन होता है, इसी प्रकार जिस समय यह आत्मा राग तथा द्वेषयुक्त हो शुभ तथा अशुभ भावों से परिणत होता है उस समय आत्म प्रदेश परिस्पंदन रूप योग के द्वारा प्रवेश को प्राप्त कर्म रूप पुद्गल स्वयमेव विचित्रताओं को प्राप्त ज्ञाना-वरणादि रूप से परिणत होते हैं।] इससे अमृतचन्द्र सूरि यह निष्कर्ष निकालते हैं, "स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम्"—कर्मों की विचित्रता स्वभाव जनित है। वह आत्मा के द्वारा उत्पन्न नहीं की गई है। आत्मा और पुद्गल के कर्म पर्याय रूप परिणमन करने में निमित्त नैमित्तिकपना पाया जाता है। जीव और पुद्गल द्रव्य पूर्णतया पृथक् हैं। उनमें उपादान-उपादेयता का पूर्णतया अभाव है। आचार्य अकलंकदेव

---

*ओगाढ़-गाढ़ णिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥१६८॥ प्रव. सा.

राजवार्तिक में लिखते हैं—"यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरस-बीज-पुष्प-फलानां मदिराभावेन परिणामः, तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः"। जैसे पात्र विशेष में डाले गए अनेक रसवाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरा रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार योग तथा कषाय के कारण आत्मा में स्थित पुद्गलों का कर्मरूप से परिणमन होता है।

समयसार में महर्षि कुंदकुंद कहते हैं :—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गल-कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

बंध में निमित्त नैमित्तिकपना—जीव परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल का कर्मरूप से परिणमन होता है। इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से जीव का भी रागादि रूप से परिणमन होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किशनसिंह जी ने क्रियाकोष में कहा है :—

सूरज सन्मुख दरपण धरै, रूई ताके आगे करै ।
रवि-दर्पणको तेज मिलाय, अगनि उपज रूई बलि जाय ॥५४॥

नहि अगनी इकली रूइ मांहि, दरपन मध्य कहूँ है नांहि ।
दुहुयनि को संयोग मिलाय, उपजै अगनि न संशै थाय ॥५५॥

समयसार का यह कथन मार्मिक है :—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८१॥

—तात्विक दृष्टि से विचार किया जाय, तो जीव न तो कर्म में गुण करता है और न कर्म ही जीव में कोई गुण उत्पन्न करता है। जीव तथा पुद्गल का एक दूसरे के निमित्त से विशिष्ट रूप से परिणमन हुआ करता है।

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गल-कम्म-कयाणं दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

इस कारण से आत्मा अपने भाव का कर्ता है। वह पुद्गल कर्मकृत समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

अमृतचन्द्र सूरि का कथन है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमंते पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ पु. सि.१२॥

— जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप में परिणमन करते हैं ।

— जैसे सूर्य की किरणों का मेघ के अवलंबन से इंद्रधनुषादि रूप से परिणमन हो जाता है; इसी प्रकार स्वयं अपने चैतन्यमय भावों से परिणमन शील जीव के रागादिरूप परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त पड़ा करता है। यदि जीव और पुद्गल में निमित्त भाव के स्थान में उपादान उपादेयत्व हो जावे, तो जीव द्रव्य का अभाव होगा अथवा पुद्गल द्रव्य का अभाव हो जायगा। भिन्न द्रव्यों में उपादान-उपादेयता नहीं पाई जाती।

प्रवचनसार की टीका में अमृतचंद आचार्य ने कहा है, पुद्गल-स्कन्ध कर्मत्व परिणमन शक्ति के योग से स्वयमेव कर्मभाव से परिणत होते हैं। इसमें जीव के रागादिभाव बहिरंग साधन रूप से अवलम्बन होते हैं।

देह—देही—भेद—कुंदकुंद स्वामी कहते हैं, शरीर जीव से पूर्णतया भिन्न है—

ओरालियो य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥प्र. सा.१७१॥

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक तथा कार्माण शरीर ये सभी पुद्गलद्रव्य रूप हैं। "ततो अवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति" इससे यह निश्चय किया जाता है, कि शरीर पुरुष रूप नहीं है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि जीवका असाधारण लक्षण क्या है?

अरस—मरूव—मगंधं अव्वत्तं चेदणागुण—मसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १७२

जीव रस, रूप, गंध रहित है; अव्यक्त है। चैतन्य गुण युक्त है; शब्द रहित है; बाह्य लिंग (चिह्न) द्वारा अग्राह्य है तथा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

क्षत्रचूडामणि में कहा है :—

> एवं भिन्नस्वभावोयं देही स्वत्वेन देहकम् ।
>
> मुच्यते पुनरज्ञानादतो देहेन बध्यते ॥७ । १६॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस देह में स्थित आत्मा उस शरीर से भिन्न स्वभाव वाला है। यह देही अज्ञानवश देह को अपना मानता है, इस कारण वह शरीर से बंधन को प्राप्त होता है।

शंका—पुद्गल स्कन्धों को कर्म कहा जाता है; जीव के भावों को कर्म कहने का क्या हेतु है ?

उत्तर—आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहइ कम्मसंजुत्तं ।

> तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥

कर्म के कारण मलिन अवस्था को प्राप्त आत्मा कर्मसंयुक्त परिणमन को प्राप्त करता है। इससे कर्मों का संबंध होता है। अतः रागादि परिणामों को कर्म कहते हैं।

कर्मबंध की प्रक्रिया—रागादि भावों से होने वाली कर्मबंध की प्रक्रिया को वादीभसिंह सूरि इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

> संसृतौ कर्म रागाद्यैस्ततः कायान्तरं ततः ।
>
> इंद्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्याश्चक्र पुनः ॥क्ष.चू. ११।४०॥

रागादिभावों से संसार में कर्म बंधते हैं। उस कर्म द्वारा नवीन शरीर का निर्माण होता है। उससे इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इंद्रियों द्वारा विषयों का उपभोग होने पर द्वेषादि परिणाम होते हैं। इस प्रकार बंध का चक्र चला करता है।

पंचास्तिकाय का यह कथन महत्वपूर्ण है :—

> जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
>
> परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
>
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
>
> तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥

खामगांव जि. बुलडाणा

जायदि जीवस्सेवं भावो संसार-चक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादि-णिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

संसारी जीव के अनादि कालीन बंधन की उपाधि के वश से "स्निग्धः परिणामो भवति"—स्निग्ध रूप परिणाम होता है। उन स्निग्ध परिणामों से पुद्गल परिणाम रूप कर्म आता है। उससे नरकादि गतियों में गमन होता है। नरकादिगतियों में जाने पर शरीर प्राप्त होता है। शरीर में इंद्रियां होती हैं। इंद्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषय ग्रहण द्वारा राग तथा द्वेषभाव पैदा होते हैं। रागद्वेष से पुनः स्निग्ध परिणाम होता है—"रागद्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धपरिणामः" उनसे कर्म बंधता है। इस प्रकार परस्पर में कार्य कारण स्वरूप जीवों तथा पुद्गलों के परिणाम रूप कर्म जाल संसार चक्र में जीव के अनादि अनंत अथवा अनादि सान्त रूप से चक्र के समान परिवर्तन को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान का कथन है।

अमूर्त आत्मा के बंध का कारण—प्रवचनसार टीका में यह प्रश्न उठाया गया है "कथं अमूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् बंधो भवति"—आत्मा स्वभाव से अमूर्त है। उसमें स्निग्धपना, रूक्षपना नहीं पाया जाता है। उसके बंध कैसे होता है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—इस शंका को प्रवचनसार में इस प्रकार रखा गया है—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥१७३॥

रूपादि गुण युक्त होने से मूर्तिमान पुद्गल का अन्य पुद्गल के साथ बंध होना उपयुक्त है, किन्तु आत्मा तो रूपादिगुण रहित है, वह किस प्रकार पौद्गलिक कर्मों का बंध करता है?

समाधान—इस प्रश्न के समाधानार्थ कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि ॥१७४॥प्र.सा.॥

आत्मा स्वयं रूप, रस, गंध तथा वर्ण रहित है, फिर भी वह रूप रस आदि युक्त द्रव्य तथा गुणों को देखता है तथा जानता है; इसी प्रकार रूपादि रहित आत्मा रूपी कर्मपुद्गलों से बंध को प्राप्त होता है।

उनका यह स्पष्टीकरण भी ध्यान देने योग्य है :—

> उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जदि वा पदुस्सेदि ।
> पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥१७५॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह जीव उपयोग अर्थात् ज्ञान दर्शन स्वरूप है। यह विविध परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञेय रूप पदार्थों के संपर्क को प्राप्त करके मोह, राग तथा द्वेष रूप भावों को उत्पन्न करता है, इस कारण उसके कर्मों का बंध होता है।

जीव के भावों के अनुसार द्रव्य बंध होता है तथा द्रव्य बंध द्वारा भाव बंध होता है। प्रवचनसार टीका में* अमृतचन्द्रसूरि ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि यह आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। शरीर, वाणी तथा मनो-वर्गणाओं के अवलंबन से उस आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन अर्थात् सर्वांगीण रूप से कंपन होता है। उस समय कर्म रूप पुद्गल काय में स्वयमेव परिस्पंदन उत्पन्न होता है और वे कर्म पुद्गल आत्मा के प्रदेशों में प्रवेश को प्राप्त होते हैं। जीव के राग, द्वेष तथा मोह होने पर वे बंध को भी प्राप्त हुआ करते हैं। "ततो अवधार्यते द्रव्यबंधस्य भावबंधो हेतुः"—अतः यह निश्चय किया जाता है, कि रागादि भावबंध से द्रव्यबंध होता है।

द्रव्य कर्मबंध-भाव कर्मबंध—गोम्मटसार कर्मकांड में "पोग्गल-पिंडो दव्वं"—पुद्गल के पिंड को द्रव्यकर्म कहा है। "तस्सत्ती भावकम्मं तु"—उसमें रागादि उत्पन्न करने की शक्ति भाव कर्म है। अध्यात्म दृष्टि से जीव के प्रदेशों के सकंप होना भावकर्म है। जीव के प्रदेशों के कंपन द्वारा पुद्गल कर्मों का जीव प्रदेशों में आगमन होता है। पश्चात् राग, द्वेष, मोहवश बंध होता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य तथा भावबंध के विषय में इस प्रकार कहा है :—

> बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
> कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥द्र० सं० ३२॥

चैतन्य की जिस रागादि रूप परिणति के द्वारा कर्मों का बंध होता है, उसे भावबंध कहते हैं। कर्मों और आत्मा का परस्पर में प्रवेश हो जाना द्रव्य बंध है।

---

*प्रवचनसार गाथा १७८ की टीका।

शुद्ध जीव में रागादि विकारों का असद्भाव है। शुद्ध पुद्गल में भी क्रोधादि का अभाव अनुभवगोचर है। उन पुद्गलों के साथ जीव का संबंध होने पर बंध रूप एक नवीन अवस्था अनुभवगोचर होती है। उदाहरणार्थ हल्दी और चूना के सम्मिश्रण द्वारा जो विशेष लालिमा की उत्पत्ति होतीहै, वह दोनों की संयुक्त कृति है, जिसमें हल्दी ने पीलेपन का परित्याग किया है तथा चूना ने भी अपनी धवलता त्यागी है। दोनों के स्वगुणों की विकृति के परिणाम स्वरूप लालिमा नयनगोचर होती है। कहा भी है:—

हरदी ने जरदी तजी चूना तज्यो सफेद।
दोऊ मिल एकहि भए, रह्यो न काहू भेद॥

पंचाध्यायी में कहा है :—

बंधः परगुणाकारा क्रिया स्यात् पारिणामिकी।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥२।१३०॥

अन्य के गुणों के आकार रूप परिणमन होना बंध है। इस परिणमन के होने पर अशुद्धता आती है। उस काल में बंधन को प्राप्त होने वालों के स्वयं के गुणों की च्युति रूप विपरिणमन होता है।

बंध एक का नहीं होता है। 'बंधोऽयं द्वन्द्वजः स्मृतः' यह बंध दो से उत्पन्न होता है। उस बंध की दशा में बंध को प्राप्त द्रव्य अपनी स्वतंत्रता से विरहित हो परस्पर अधीनता को प्राप्त होते हैं।

आशाधरजी का यह कथन विशेष ध्यान देने योग्य है।

स बन्धो बध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशी—
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत् स्ववशताम्।
प्रदेशानां यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः॥—

अनगारधर्मामृत २।३८॥

जिस परिणति विशेष से कर्म अर्थात् कर्मत्व पर्याय प्राप्त पुद्गल-द्रव्य कर्मविपाक-अनुभव करने वाले जीव के द्वारा परतंत्र बनाये जाते हैं—योगद्वार से प्रविष्ट होकर पुण्य-पापरूप परिणमन करके भोग्य रूप से सम्बद्ध किये जाते हैं, वह बंध है अथवा जो कर्म जीव को अपने वश में

करता है, वह बंध है अथवा जीव और पुद्गल के प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बंध है।

सामान्य दृष्टि से लोक कहा करते हैं, कर्मों के द्वारा जीव अपनी स्वतंत्रता को खोकर परतन्त्रावस्था को प्राप्त होता हुआ संसार में परिभ्रमण किया करता है। इस विषय में आशाधरजी ने एक विशेष दृष्टि से चिंतन करके कहा है, कि न केवल जीव विवशता को प्राप्त होता है, बल्कि पुद्गल भी अपनी स्वाधीनता को खोकर स्थिति विशेष पर्यन्त जीव के साथ बंधन बद्धता का अनुभव करता है। यदि किसी जीव ने दर्शन मोहनीय का बंध किया है, तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त वह पुद्गल-स्कन्ध जीव के साथ सम्बद्ध रहेगा [illegible] पर्याय को अथवा परमाणु रूप सूक्ष्म परिणमन को नहीं प्राप्त होगा। सूक्ष्म आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही बनने वाला कर्म पुञ्ज भी अनंतानंत परमाणु प्रचय स्वरूप होते भी चक्षु इंद्रियादि के अगोचर रहता है। कर्म रज के पुद्गल स्कन्ध इतने सूक्ष्म रहते हैं, कि उनको छेदन, भेदन, दहनादि द्वारा तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती है। कार्माण वर्गणाएँ सूक्ष्म होने के साथ जीव के प्रदेशों पर अनंतानंत संख्या में पाई जाती हैं।

प्रश्न—बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका में यह प्रश्न किया है कि राग द्वेष आदि परिणाम "किं कर्मजनिताः किं जीवजनिताः इति" क्या कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से उत्पन्न हुए हैं?

समाधान—स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, चूना तथा हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुए वर्ण विशेष के समान राग और द्वेष जीव और कर्म के संयोग जन्य हैं। नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से राग द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं। अशुद्ध निश्चय नय से वे जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है।

प्रश्न—शुद्ध निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं?

समाधान—स्त्री और पुरुष के संयोग बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती है। चूना और हल्दी के संयोग बिना रंग विशेष की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य शुद्ध हैं। इनके संयोग का अभाव है। शुद्ध नय की अपेक्षा जीव का संसारी और मुक्त भेद नहीं पाया जाता है। उस नय की अपेक्षा जीव के कर्मों का अभाव है। वह नय सिद्धों तथा निगोदिया जीवों में भेद की

कल्पना नहीं करता है। इस दृष्टि से भव्य और अभव्य भी भिन्न नहीं ज्ञात होंगे। शुद्ध नय की अपेक्षा पुद्गल की स्कन्ध पर्याय का असद्भाव है। वह नय परमाणु को ही ग्रहण करता है। शुद्ध पुद्गल का परमाणु परमाणु-प्रचय रूप कर्म नहीं कहा जा सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीव का कारागार—वस्तु का पूर्ण रूप से स्वरूप समझने के लिए विविध दृष्टियों को बताने वाले भिन्न२ नयों का आश्रय लेना सम्यग्ज्ञान का साधक है। एक ही दृष्टि को सत्य स्वीकार करने वाला तत्त्वज्ञान रूप अमृत की उपलब्धि नहीं कर पाता। वह अज्ञान और अविद्या के गहरे गर्त में गिर कर दुःखी होता है। अनुभव के स्तर पर यदि कर्मबंध के सम्बन्ध में विचार किया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि जीव वर्तमान पर्याय में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत सुख तथा अनंतवीर्यादि आत्मगुणों से समलंकृत नहीं है, यद्यपि शक्ति की अपेक्षा ये गुण आत्मा में सर्वदा रहते हैं। जिस प्रकार अग्नि के संपर्क से शीतल स्वभाव वाला जल उष्णरूपता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार पौद्गलिक कर्मों के कारण जीव की अनंतरूप अवस्थाएं हुआ करती हैं। गुणों में वैभाविक परिणमन हो जाने से यह आत्मा अज्ञानी, अशक्त और दुःखी देखा जाता है। उसे वर्तमान पर्याय में सकलज्ञ तथा अनंत सुखी मानना प्रशान्त चिंतन, तर्क और अनुभव के अनुरूप नहीं है। यदि जीव के सर्वथा बंधाभाव जैनागम को मान्य होता, तो महाबंध, कसायपाहुड आदि ग्रन्थों की रचनाएं क्यों की जातीं ? द्वादशांग वाणी में जिस प्रकार आत्मप्रवाद पूर्व है, उसी प्रकार कर्म प्रवाद पूर्व की अवस्थिति कही गई है। यदि यह जीव कर्मोदय के कारण परतंत्र न होता, तो मूत्र, पुरीष, रक्त, अस्थि आदि घृणित वस्तुओं के अद्भुत अजायबघर सदृश मानव शरीर में क्यों कर निवास करता है ? इस अपवित्र शरीर में जीव का आवास उसकी भयंकर असमर्थता और मजबूरी को सूचित करते हैं। शरीर यथार्थ में जीव का कारागार (Prison-house of the soul) तुल्य है। मुनि दीक्षा लेने के पूर्व जीवंधर स्वामी अपने शरीर के स्वरूप पर गंभीरता पूर्ण दृष्टि डालते हुए सोचते हैं—

अस्पष्टं दृश्यमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
रम्यमूढे किमन्यत्स्यान्मल-मांसास्थि-मज्जतः ॥ ११-५१-क्ष.चू.

यथार्थ में कर्मरूपी शिल्पी की कुशलता के कारण शरीर अपने असली रूप में नहीं दिखाई देता है। इसलिए यह रमणीय दिखाई पड़ता है, किन्तु यदि विवेकी पुरुष विचार करे तो मल, मांस, अस्थि और मज्जा के

सिवाय इस शरीर में क्या है ? जीवन्धर स्वामी का यह शरीर स्वरूप का चिन्तन कितना मार्मिक और सत्य है, इसे सहृदय व्यक्ति अनुभव कर सकता है। वे अपनी आत्मा से मंत्रणा करते हुए सोचते हैं—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्वहिर्देहस्य किं परैः ।
आस्तामनुभवेच्छेय-मात्मन् को नाम पश्यति ॥ ११-५२॥

हे आत्मन् ! यदि दैववश देह का भीतरी भाग शरीर से बाहर आ जावे, तो इसके अनुभव की इच्छा तो दूर ही रहे, कोई इसे देखेगा भी नहीं ।

क्या आत्मा सर्वथा अमूर्तीक है ?—आत्मा और कर्मों के संबंध के विषय में अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट रूप से समझाते हुए पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में यह आगम की गाथा उद्धृत करते हैं;

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥

बंध की अपेक्षा जीव और कर्म को एकता है। स्वरूप की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है। इससे जीव के अमूर्तपने के बारे में एकान्त नहीं है। इस प्रसंग में आचार्य अकलंकदेव का कथन विशेष उद्बोधक है—"अनादि-कर्मबंधसंतान-परतंत्रस्यात्मनः अमूर्तिं प्रत्यनेकान्तो। बंधपर्यायं प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्तम्। तथापि ज्ञानादि-स्वलक्षणा परित्यागात् स्यादमूर्तिः।""मदमोह विभ्रमकरी सुरां पीत्वा नष्ट-स्मृतिर्जनः काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा कर्मेन्द्रियाभिभवादात्मा नाविर्भूत-स्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते (त. रा. पृ. ८१)—अनादिकालीन कर्मबंध की परंपरा के आधीन आत्मा के अमूर्तपने के विषय में एकान्तपना नहीं है। बंध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित् अमूर्तीक है, किन्तु अपने ज्ञानादि लक्षण का परित्याग न करने के कारण कथंचित् अमूर्तीक भी है। मद, मोह तथा भ्रमको उत्पन्न करने वाली मदिरा को पीकर मनुष्य स्मृति शून्य हो काष्ठ सदृश निश्चल हो जाता है तथा कर्मेन्द्रियों के अभिभव होने से अपने ज्ञानादि स्वलक्षण का अप्रकाशन होने से आत्मा मूर्तीक निश्चय किया जाता है।

कर्म मूर्तीक क्यों ?—यदि आत्मा को अमूर्तीक मानने के समान उसे बांधने वाले कर्मों को भी अमूर्तीक मान लें, तो क्या बाधा है। कर्मों को मूर्तियुक्त स्वीकार करने में क्या कोई हेतु है ?

समाधान—कर्म मूर्तीक हैं, क्योंकि कर्म का फल मूर्तीक द्रव्य

के संबंध से दृष्टिगोचर [illegible] विष। मूषक के विष द्वारा जो शरीर में शोथ आदि विकार उत्पन्न होता है, वह इन्द्रियगोचर होने से मूर्तिमान है। अतः उसका मूल कारण विष भी मूर्तिमान होना चाहिए। इसी प्रकार यह जीव भी मणि, पुष्प, वनितादि के निमित्त से सुख तथा सर्प, सिंहादि के निमित्त से दुःख रूप कर्म के विपाक का अनुभव करता है। अतः इस सुख और दुःख का कारण जो कर्म है, वह भी मूर्तिमान मानना उचित है।

जयधवला टीका में लिखा है (१। ५७)—"तं पि मुत्तं चेव। तं कथं णव्वदे? मुत्तो सह-संबंधेण परिणामांतरगमण—णाहाणुववत्तीदो। ण च परिणामान्तर-गमण-मसिद्धं; तस्स तेण विणा जर-कुट्ठ-क्खयादीणं विणासा-णुववत्तीए परिणामंतरगमण-सिद्धीदो।"—कर्म मूर्त हैं, यह कैसे जाना? इसका कारण यह है कि यदि कर्म को मूर्त न माना जाय, तो मूर्त औषधि के संबंध से परिणामान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् रुग्णावस्था में औषधि ग्रहण करने से रोग के कारण कर्मों की उपशांति देखी जाती है, वह नहीं बन सकती है। औषधि के द्वारा परिणामान्तर की प्राप्ति असिद्ध नहीं है, क्योंकि परिणामान्तर के अभाव में ज्वर, कुष्ठ तथा क्षय आदि रोगों का विनाश नहीं बन सकता, अतः कर्म में परिणामान्तर की प्राप्ति होती है, यह बात सिद्ध होती है।

शंका—कर्म मूर्तिमान तथा पौद्गलिक हैं। जीव अमूर्तीक तथा अपौद्गलिक है, अतः जीव से कर्मों को सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो क्या दोष है? इस विषय में वीरसेन आचार्य जयधवला में इस प्रकार प्रकाश डालते हैं;—"जीव से यदि कर्मों को भिन्न माना जाय, तो कर्मों से भिन्न होने के कारण अमूर्त जीव का मूर्त शरीर तथा औषधि के साथ संबंध नहीं हो सकता; इससे जीव तथा कर्मों का संबंध स्वीकार करना चाहिए। शरीर आदि के साथ जीव का संबंध नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं; कारण शरीर के छेदे जाने पर दुःख की उपलब्धि देखी जाती है। शरीर के छेदे जाने पर आत्मा में दुःख की उत्पत्ति होने से जीव तथा कर्मों का संबंध सूचित होता है। एक के छेदे जाने पर सर्वथा भिन्न दूसरी वस्तु में दुःख की उत्पत्ति नहीं पाई जाती। ऐसा मानने पर अव्यवस्था होगी।

जीव से कर्मों को भिन्न मानने पर जीव के गमन करने पर शरीर का गमन नहीं होना चाहिए, कारण दोनों में एकत्व का अभाव है। औषधि सेवन भी जीव को नीरोगता का संपादक नहीं होगा, कारण औषधि शरीर के द्वारा पीई गई है। अन्य के द्वारा पीई औषधि अन्य की नीरोगता को उत्पन्न नहीं करेगी। इस प्रकार की उपलब्धि नहीं होती।

जीव के कष्ट होने पर शरीर में कंप, दाह, गले का सूखना, नेत्रों की लालिमा, भौहों का चढ़ाना, रोमांच का होना, पसीना आना आदि बातें शरीर में नहीं होनी चाहिये, कारण उसमें भिन्नता है। जीवन की इच्छा से शरीर की गति, आगति, हाथ, पैर, सिर तथा अंगुलियों का हलन-चलन भी नहीं होना चाहिये, कारण वे पृथक् हैं। सपूर्ण जीवों के केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, विरति, सम्यक्त्वादि हो जाना चाहिये, कारण सिद्धों के समान, जीव से कर्मों का भिन्नपना है। अथवा सिद्धों में अनंत गुणों का अभाव मानना होगा, किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः कर्मों [illegible] को अभिन्न श्रद्धान करना चाहिये।

इस प्रकार की वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखने वाले विज्ञ पुरुष को उसका कर्त्तव्य बताते हुए ब्रह्मदेव बृहद् द्रव्यसंग्रह में लिखते हैं:- "यस्यैवामूर्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनन्तसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्तो मूर्त-पंचेन्द्रिय-विषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः" (गा. ७, पृ. २०)

इस जीवने जिस अमूर्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से अनादि संसार में भ्रमण किया है, उसी अमूर्त स्वभाव आत्मा का, मूर्त पंचेन्द्रिय के विषयों का परित्याग कर, निरन्तर ध्यान करना चाहिए।

अहंकारवश स्वयं को सर्वोच्च तथा महान सोचने वाला व्यक्ति यदि अपने जीवन को उच्च एवं पवित्रता की भूमि पर नहीं ले जाता है, तो वह नरभव के जीवन-दीप बुझने के पश्चात् निकृष्ट पर्यायों को प्राप्त कर अनंतकाल पर्यन्त विकास शून्य परिस्थिति में पड़कर अपने दुष्कर्मों का फल भोगा करता है।

कर्म बंधन मानने का कारण—पंचाध्यायी में कहा है:—

अहंप्रत्यय-वेद्यत्वाज्जीवस्या-स्तित्व-मन्वयात् ।
एको दरिद्रः एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ २।५०॥

"मैं हूं" इस प्रकार अहं प्रत्यय से जीवका अस्तित्व अवगत होता है। एक दरिद्र है, एक धनवान है, यह भेद कर्म के कारण उत्पन्न हुआ है।

यदि कर्म रूप बाधक सामग्री न होती, तो यह जीव अपने सत्, चित् तथा आनंद स्वरूप में निमग्न रहा आता। ऐसी स्थिति का अभाव प्रत्यक्ष में अनुभव गोचर हो रहा है; अतः उसका कारण प्रतिपक्षी सामग्री के रूप में कर्मों का अस्तित्व मानना तर्कसंगत है।

कोई कोई दार्शनिक यह सोचते हैं, कि जीव तो सदा शुद्ध है। यह कर्म बंधन से पूर्णतया पृथक् है। कर्म प्रकृति का खेल ही जगत् में दृष्टिगोचर होता है। सांख्य दर्शन की मान्यता है :—

तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ सां.त.कौ.६२॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इससे कोई भी पुरुष न बंधता है, न मुक्त होता है, न परिभ्रमण करता है। अनेक आश्रयों को ग्रहण करने वाली प्रकृति का ही संसार होता है, बंध होता है तथा मोक्ष होता है।

कर्तृत्व पर स्याद्वाद दृष्टि—इस विषय में स्याद्वाद शासन की दृष्टि को स्पष्ट करते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं, "ततः स्थितमेतत्, एकान्तेन सांख्यमतवदकर्त्ता न भवति। किं तर्हि? रागादिविकल्प-रहित-समाधि-लक्षण-भेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति। शेष काले भवति" (समयसार गाथा ३४४-टीका)—

अतः यह बात निर्णीत है कि आत्मा एकान्तरूप से सांख्य मत के समान अकर्ता नहीं है। फिर आत्मा कैसी है? रागादि-विकल्प रहित समाधि रूप भेद विज्ञान के समय वह कर्मों का कर्ता नहीं है। शेष काल में जीव कर्मों का कर्ता होता है। अर्थात् जब वह अभेद समाधिरूप नहीं होता है, तब उसके रागादि के कारण बंध हुआ करता है।

भेदविज्ञान वाला अविरत सम्यक्त्वी है और उसके बंध नहीं होता है, इस भ्रम के कारण वस्तु-व्यवस्था में बहुत गड़बड़ी आ जाती है। भेदविज्ञान निर्विकल्प समाधिका द्योतक है, जो मुनिपद धारण करने के उपरान्त ही प्राप्त होती है। आकुलता तथा विकल्पजाल पूर्ण गृहस्थावस्था में उस परम प्रशान्त एवं अत्यन्त उज्ज्वल आत्म-परिणति की कल्पना भी असंभव है। गृहस्थों के "प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य" प्रशस्त-राग लक्षण शुभोपयोग का मुख्यता से सद्भाव होता है। प्रवचनसार टीका (गाथा २५४) में अमृतचंद्र स्वामी लिखते हैं "गृहिणां समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्" गृहस्थों के पूर्ण त्याग रूप महाव्रत नहीं होने से शुद्ध आत्मा का प्रकाशन नहीं होता है। दिगम्बर जैन आगम की यह देशना है "उपधिसद्भावे मूर्छा जायते" बाह्य परिग्रह होने पर मूर्छा परिणाम रूप अन्तरंग परिग्रह पाया जाता है। चांवल में सर्वप्रथम बाह्य छिलका दूर किया जाता है। तत्पश्चात् उसका अंतरंग मल दूर होने की स्थिति प्राप्त होती है, जिसके दूर होने पर शुद्ध तंदुल की उपलब्धि होती है। बाहरी छिलका

समान बाहरी वस्त्र आदि परिग्रह का त्याग आवश्यक है। उसके बिना विचार मात्र से अन्तरंग दिगम्बरत्व रूप उज्वलता नहीं प्राप्त होगी। विचार मात्र से इष्ट सिद्धि नहीं होती। क्षत्रचूड़ामणि में कहा है "ध्यातो गरुडबोधेन न हि हंति विषं बकः"— कोई बगुला को समक्ष रखकर उसे गरुड़ मानकर गरुड़ का ध्यान करे, तो उसका विष दूर नहीं होगा। इससे स्पष्ट होता है, कि केवल कल्पना द्वारा साध्य की सिद्धि असंभव है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्मा के कर्तृत्व की गुत्थी को सुलझाते हुए अमृतचंद्रसूरि समयसार कलश में कहते हैं :—

कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः ।
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः ॥
ऊर्ध्वं तूद्धत-बोध-धाम-नियतं प्रत्यक्षमेव स्वयम् ।
पश्यन्तु च्युत-कर्मभाव-मचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ २०५ ॥

अर्हन्त भगवान के भक्तों को यह उचित है, कि वे सांख्यों के समान जीव को सर्वथा अकर्ता न मानें, किन्तु उनको भेदविज्ञान होने के पूर्व आत्मा को सदा कर्ता स्वीकार करना चाहिये। जब भेदविज्ञान की उपलब्धि हो जाये, तब आत्मा का कर्मभाव रहित अविनाशी, प्रबुद्धज्ञान का पुंज, प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञाता के स्वरूप में दर्शन करो। यह भेद विज्ञान रागादि विकल्प रहित निर्विकल्प समाधि की अवस्था में उत्पन्न होता है। यह सर्व प्रकार के परिग्रह का परित्याग करने वाले महान श्रमण के पाया जाता है। ऐसी स्थिति में विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है, कि वह उस उच्च स्थिति को ध्येय बनाकर उसकी उपलब्धि के लिए इंद्रिय विजय तथा संयम के साधना पथ में प्रवृत्त हो सच्चाई के साथ पुरुषार्थ करे। आत्म-वंचनायुक्त प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति से परम पद की प्राप्ति असंभव है।

जैन आगम के अनुसार संसारी जीव के सुख दुःखादि का कारण उसका पूर्व संचित कर्म है। वह यह नहीं मानता है, कि—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥
महाभारत वनपर्व ३०।२८॥

यह अज्ञ जीव अपने सुख तथा दुःख का स्वामी नहीं है। वह इस विषय में स्वतंत्र नहीं है। वह ईश्वर के द्वारा प्रेरित हो कभी स्वर्ग में जाता है और कभी नरक में पहुँचा करता है।

भाव संसार—इस संबंध में समंतभद्र स्वामी आप्तमीमांसा में जैन दृष्टि को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यः जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥ ९९ ॥

* काम, क्रोध, मोहादि की उत्पत्ति रूप जो भाव संसार है, वह अपने-अपने कर्मों के अनुसार होता है। वह कर्म अपने कारण रागादि से उत्पन्न होता है। वे जीव शुद्धता तथा अशुद्धता से समन्वित होते हैं। आचार्य विद्यानंदी अष्टसहस्री में लिखते हैं,—यह भावात्मक संसार अज्ञान मोह, तथा अहंकार रूप है। संसार एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नहीं है, कारण उसके कार्य सुख-दुःखादि में विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। जिस वस्तु के कार्य में विचित्रता पाई जाती है, वह एक स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न नहीं होती है; जैसे अनेक धान्य अंकुरादि रूप विचित्र कार्य अनेक शालिबीजादिक से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख विशिष्ट विचित्र कार्य रूप जगत् एक स्वभाव वाले ईश्वरकृत नहीं हो सकता।*

अनादि संबंध का अंत क्यों ?—आत्मा और कर्म का संबंध अनादि से है, तब उसका अंत नहीं होना चाहिए ?

समाधान—अनादि की अनंतता के साथ व्याप्ति नहीं है। बीज वृक्ष की संतति को परंपरा की अपेक्षा अनादि कहते हैं। यदि बीज को दग्ध कर दिया जावे, तो वृक्ष की परंपरा का क्षय हो जायेगा। कर्मबीज के नष्ट हो जाने पर भवांकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तत्त्वार्थसार में कहा है :—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवांकुरः ॥ ८ । ७ ॥

अकलंक स्वामी का कथन है, कि आत्मा में पाया जाने वाला कर्ममल आत्मा के प्रतिपक्षरूप है। वह आत्मा के गुणों के विकास होने

---

* संसारोयं नैकस्वभावेश्वरकृतः, तत्कार्यसुख-दुःखादि-वैचित्र्यात्। नहि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तम्, शालिबीजवत्॥ अष्टशती

पर जयशील है। जैसे प्रकाश के आते ही सदा अंधकार वाले प्रदेश से अंधकार दूर हो जाता है, अथवा शीत भूमि में उष्णता के प्रकर्ष होने पर शीत का अपकर्ष होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि के प्रकर्ष से मिथ्यात्वादि विकारों का अपकर्ष होता है। रागादि विकारों में हीनाधिकता को देखकर तार्किक समंतभद्र कहते हैं, कि कोई ऐसी भी आत्मा होती है, जिससे रागादि पूर्णतया दूर हो चुके हैं, उसे ही परमात्मा कहते हैं।

सादिबंध क्यों नहीं? पंचाध्यायी में लिखा है, जिस प्रकार जीव अनादि है, उसी प्रकार पुद्गल भी अनादि है। उनका संबंध भी स्वर्ण पाषाण के किट्ट-कालिमादि के संबंध सदृश अनादि है। ऐसा न मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। अभिप्राय यह है, कि पूर्व में अशुद्धता स्वीकार किए बिना बंध नहीं होगा। यदि शुद्ध जीव में बंध रूप अशुद्धता उत्पन्न हो गई, तो स्थायीरूप में निर्वाण का लाभ असंभव होगा। जब मोक्ष प्राप्त शुद्ध जीव कर्मों के कुचक्र में फंसेगा, तो संसार का चक्र सदा चलेगा और मोक्ष का अभाव हो जायेगा।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कर्मों की पराधीनता तो अनुभव सिद्ध है। यह पराधीनता यदि सादि मानी जाय, तो मोक्ष का अभाव हो जायेगा। सर्वज्ञ, अनंत-शक्तिमान, अनंत सुखी आत्मा मुक्त अवस्था में रहते हुए दुःख के कारण रागादि को उत्पन्न करेगा, यह कल्पना तर्क तथा गंभीर चिंतन के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति में अर्थापत्ति प्रमाण के प्रकाश में जीव और कर्मों का अनादि संबंध स्वीकार करना होगा।

कर्म आगमन का द्वार—आत्मा में कर्मों के प्रवेश द्वार को आस्रव कहा गया है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणा में से किसी एक के अवलंबन से आत्म प्रदेशों में सकंपता उत्पन्न होती है। उससे कर्मों का आगमन हुआ करता है। धवला टीका में योगों का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है, "भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः। काय क्रिया-समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काय-योगः—भावमन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है। वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह वचनयोग है। काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह काययोग है। यह योग विशेष पारिभाषिक संज्ञा रूप है। यह ध्यान के पर्यायवाची योग से भिन्न है। यह पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ संबंध कराने में निमित्त कारण है।

श्री चन्द्रप्रभु
... जैन ...
खामगांव जि. बुलढाणा

शंका—सर्वार्थसिद्धि में यह शंका की गई है, कि जिस योग के द्वारा पुण्य का आस्रव होता है, उसी के द्वारा क्या पाप कर्म का आस्रव होता है ?

समाधान—शुभ योग के द्वारा पुण्य का आस्रव होता है। अशुभ योग के द्वारा पाप का आस्रव होता है। शुभ परिणामों से रचित योग शुभ है और अशुभ परिणाम से रचित योग अशुभ है। "शुभ परिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाशुभः"। प्रवचनसार टीका में मोह तथा द्वेषमय परिणामों को अशुभ कहा है। रागभाव यदि संक्लेशता युक्त है तो वह अशुभ है और यदि वह विशुद्धता सहित है, तो वह शुभ है। शुभ परिणाम को पुण्य रूप पुद्गल के बंध का कारण होने से पुण्य कहा है। पाप रूप पुद्गल के बंध का कारण होने से अशुभ परिणाम को पाप कहा है।— "तत्र पुण्य-पुद्गलबंधकारणत्वात् शुभ-परिणामः पुण्यः पाप-पुद्गल-बंधकारणत्वादशुभ-परिणामः पापं"—(प्रव. सा. टीका गाथा १८१, पृ. १२२) दोनों उपयोग पर द्रव्य के संयोग में कारण रूप होने से अशुद्ध हैं। यदि उपयोग संक्लेश भाव रूप उपराग युक्त है, तो वह अशुभ है तथा यदि वह विशुद्ध भाव रूप उपराग युक्त है तो उसे शुभ कहते हैं। अमृतचंद्रसूरि ने अशुद्ध की व्याख्या इन शब्दों में की है; "उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धि-संक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्त-द्वैविध्यः"। (प्रव. सार. गाथा १५६ टीका) "यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते, स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य"—जब शुभ तथा अशुभरूप अशुद्ध भाव का अभाव होता है, तब शुद्ध उपयोग होता है। वह शुद्ध उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं होता है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह शुद्धोपयोग मुनिराज के ही पाया जाता है। प्रवचनसार में कहा है:—

सुविदिद-पदत्थसुत्तो संजम-तव-संजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ १४॥

सूत्रार्थज्ञान के द्वारा वस्तु का स्वरूप जानने वाला, संयम तथा तप संयुक्त, रागरहित, सुख और दुःख में समान भाव युक्त श्रमण को शुद्धोपयोग कहा है।

आस्रव-बंध के हेतु—इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुंद-कुंद स्वामी ने गृहस्थ को शुद्धोपयोग का अपात्र माना है।

* गोम्मटसार कर्मकाण्ड में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, तथा योग को आस्रव कहा है। उनके क्रमश पांच, द्वादश, पच्चीस तथा पंद्रह भेद हैं। तत्वार्थसूत्रमें इन कारणों को बंध का कारण कहा है। समयसार में बंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग कहे गए हैं।

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंध-कत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोधव्वा ॥ १०९ ॥

इन भिन्न कथनों का समन्वय कैसे होगा ?

समन्वय पथ—‡ अध्यात्मकमल मार्तण्ड में कहा है, कि मिथ्यात्व आदि चारों कारण आस्रव तथा बंध में हेतु हैं, क्योंकि उनमें दोनों प्रकार की शक्तियां हैं; जिस प्रकार अग्नि में दाहकत्व और पाचकत्व रूप शक्तियों का सद्भाव पाया जाता है। जो मिथ्यात्व आदि प्रथम समय में आस्रव के कारण होते हैं, उनसे ही द्वितीय क्षण में बंध होता है। इसलिए पूर्वोक्त कथन में अपेक्षा कृत भेद है। देशना में भिन्नता नहीं है।

शंका—श्लोकवार्तिक में यह शंका उत्पन्न की गई है, "योग एव आस्रवः सूचितो न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह"—सूत्र में योग को ही आस्रव कहा है, मिथ्यादर्शन आदि को आस्रव नहीं कहा है। इसका क्या कारण है ?

---

* मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण-बारस-पणुवीसं-पण्णरसा होंति तब्भेया ॥ ७८६ ॥

‡ चत्वारः प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबन्ध—
श्चैकत्वात् वस्तुतस्तो मत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयात्स्यात्।
एकस्यापीह वह्नेर्दहन–पचन–भावात्म – शक्तिद्वयाद्वै ।
वह्निः स्यात् दाहकश्च स्वगुणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः ॥
मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः।
पश्चात्तत्कर्मबंधं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित् ॥
नव्यानां कर्मणागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात्।
आयत्यां स्यात्स बंधः स्थितिमिदिलय-पर्यन्तमेषोनयोर्भिदा॥परिच्छेद४

समाधान—ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण मिथ्यादर्शन मिथ्यादृष्टि के ही होता है। सासादन सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है। असंयत के पूर्णतया अविरतिपना है। देशसंयत के एक देश अविरति पाई जाती है, संयत के नहीं पाई जाती है। प्रमाद भी प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है, अप्रमत्तादि के नहीं। कषाय सकषाय के ही पायी जाती है। उपशान्त कषायादि के वह नहीं पाई जाती है। योगरूप आस्रव सयोगकेवली पर्यन्त सबके पाया जाता है। अतः उसे आस्रव कहा है। मिथ्यादर्शनादि का संक्षेप से योग में ही अंतर्भाव हो जाता है (६, र, पृ० ४४३)। द्रव्य संग्रह में कहा है :—

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि महाराज

दव्वासवो स णेयो अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ ३१ ॥ द्र.सं.

ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमन करने योग्य जो पुद्गल आता है, वह द्रव्यास्रव है। उसके अनेक भेद हैं, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। जीव के जिन भावों के द्वारा कर्मों का आस्रव होता है, उनको भावास्रव कहा है।

मिच्छत्ताविरदि-पमाद-जोग-कोहादओऽथ विण्णेया।

पण-पण-पणदस-तिय-चदु-कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ ३० ॥

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोधादि कषाय भावास्रव के भेद हैं, उनके क्रमशः पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद कहे हैं। मिथ्यात्व के एकान्त, विपरीत, संशय, विनय तथा अज्ञान ये पांच भेद हैं। पांचों इंद्रिय सम्बन्धी अविरति, पांच प्रकार की है। प्रमाद के पंद्रह भेद हैं। योग मन, वचन तथा काय के भेद से तीन प्रकार। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार है।

अनगारधर्मामृत में लिखा है, "आस्रवे योगो मुख्यो, बंधे च कषायादिः; यथा राजसभायामनुग्राह्य-निग्राह्ययोः प्रवेशने राजादिष्टपुरुषो मुख्यः, तयोरनुग्रह-निग्रहकरणे राजादेशः"—(११२)—

आस्रव में योग की मुख्यता है, बंध में कषायादि की मुख्यता है। जैसे "राजसभा में अनुग्रह करने योग्य तथा निग्रह करने योग्य पुरुषों के प्रवेश कराने में राज्यकर्मचारी मुख्य है, किन्तु प्रवेश होने के पश्चात् उन व्यक्तियों को सत्कृत करना या दण्डित करना इसमें राजाज्ञा मुख्य है।"

आस्रव तथा बंध के पौर्वापर्य के विषय में अनगारधर्मामृत का यह स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है—"प्रथमक्षणे कर्मस्कंधानामागमनमास्रवः, आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः।" (पृ० ११२)—प्रथम क्षणमें कर्मस्कन्धों का आगमन—आस्रव होता है। आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण के आदि में कर्मवर्गणाओं की जीव के प्रदेशों में जो अवस्थिति होती है, वह बंध कहा गया है। इस प्रकार काल की अपेक्षा उनमें अन्तर है।

शंका—योग की प्रधानता से आकर्षित किये गए तथा कषायादि की प्रधानता से आत्मा से सम्बन्धित कर्म किस भांति जगत् की अनंत विचित्रताओं को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं? कोई एकेन्द्रिय है, कोई दो इंद्रिय है, आदि चौरासी लाख योनियों में जीव कर्मवश अनंत पर्याय धारण करता है। यह परिवर्तन किस प्रकार संपन्न होता है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—इस विषय में समाधान हेतु कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंस-वसा-रुहिरादीभावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९ ॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णय-परिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥समयसार

जैसे पुरुष के द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्त वश मांस, चर्बी, रुधिर आदि पर्यायों के रूप परिणमन करता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् जीवके पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव बहुत भेदयुक्त कर्मों को बांधते हैं। वे जीव परमार्थदृष्टि से रहित हैं। आचार्य पूज्यपाद तथा अकलंक देव ने भी पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा समाधान प्रदान किया है। सर्वार्थसिद्धि (८।२।५२२) में लिखा है, "जठराग्न्य-नुरूपाहार-ग्रहणवत्तीव-मंद मध्यम-कषायाशयानुरूप-स्थित्यनुभव-विशेष-प्रतिपत्त्यर्थम्"— जिस प्रकार खाई गई वस्तु प्रत्येक के आमाशय में पहुँचकर नाना रूपों में परिणत होती है, उसी प्रकार योग के द्वारा आकर्षित किये गया कर्म आत्मा के साथ संश्लेष रूप होने पर अनंत प्रकार से परिणमन को प्राप्त होता है। इस परिणमन की विविधता में कारण रागादि भावों की हीनाधिकता है।

<u>पुण्य-पाप मीमांसा</u> —जीव के भावों में विशुद्धता आने पर जो कार्माण वर्गणाएं आती हैं, उनकी पुण्य रूपसे परिणति होती है तथा संक्लेश परिणामों के होने पर कार्माण वर्गणाओं का पापरूप के परिणमन होता है। संसार के कारण रूप होने से पुण्य तथा पाप समान माने गए हैं; किन्तु इस विषय में एकान्तवाद नहीं है। अमृतचन्द्रसूरि ने तत्वार्थसार में कहा है:—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हेतु-कार्य-विशेषाभ्यां विशेषः पुण्य-पापयोः ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव शुभाशुभे ॥१०३॥ आस्रवतत्त्व

पुण्य और पाप में साधन और फल की अपेक्षा भिन्नता है। पुण्य का कारण कषायों की मन्दता है; पाप का कारण कषायों की तीव्रता है। पुण्य का कारण शुभ परिणाम है; पाप का कारण अशुभ परिणाम है। पुण्य का फल सुख तथा सुखदायी साधन-सामग्री की प्राप्ति है। पाप का फल दुःख तथा दुःखप्रद सामग्री की प्राप्ति है। कारण की भिन्नता होने पर कार्य में भेद स्वीकार करना न्यायशास्त्र तथा अनुभव सम्मत बात है। पुण्य की प्रकाश से तथा पाप की अंधकार से तुलना की जाती है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तीव्र तृष्णा द्वारा पाप का बंध होता है। उसके परिणाम रूप यह जीव दीन, दुःखी मनुष्य, तिर्यंच तथा तथा नारकी होकर सहस्रों प्रकार की व्यथाओं से पीड़ित होते हैं। समंतभद्र स्वामी ने हिंसादि को "पाप-प्रणालिका" पाप की नाली कहा है। गृहस्थ का मन भोगों से पूर्णतया विरक्त नहीं हो पाता है, यद्यपि वह सम्यक्त्व के प्रकाश में तथा जिनेन्द्र की आज्ञा के द्वारा भोगोपभोगों की निस्सारता को बौद्धिक स्तर पर स्वीकार करता है। इस प्रकार की मनोदशा वाला श्रावक श्रमणों की अभिवंदना करता हुआ यथा-शक्ति विषयों के त्याग को अपनाता हुआ भोग-विजय के पथ में प्रवृत्त होता है। इस आचरण द्वारा विवेकी श्रावक मुक्तिपथ में प्रगति करता हुआ शीघ्र ही निर्वाण-रूप परम सिद्धि को प्राप्त करता है।

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तहबंधे चिंततो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

जैसे कोई बंधनों से बंधा पुरुष बंध का विचार मात्र करने से बंधन-मुक्त नहीं होता है, उसी प्रकार बंध के बारे में केवल विचार करने वाला व्यक्ति मोक्ष नहीं पाता है। "बंधेछित्तूण य जीवो संपावइ

विमोक्षं"—कर्म बंधन का नाश करने वाला ही मोक्ष पाता है। (१६२ गाथा) सर्वार्थसिद्धि में विद्यमान महान तत्त्वज्ञ देव तेंतीस सागर पर्यन्त उत्कृष्कोटि का तत्वानुचिन्तनादि कार्य करते हैं, फिर भी वे शीघ्र मोक्ष नहीं जा पाते, क्योंकि वहां विशेष कर्मोदयवश पाप तथा पुण्य बंध के कारण तप का परिपालन संभव नहीं है। इसी कारण से विवेकी देवराज यह भावना किया करते हैं—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'कदा नु खलु मानुष्यं प्राप्स्यामि स्थिति-संक्षये।'

देव पर्याय की स्थिति पूर्ण होने पर मैं कब मनुष्य पर्याय को धारण करूँगा? वे ये भी विचारते रहते हैं—

विषयारिं परित्यज्य स्थापयित्वा वशे मनः।
नीत्वा कर्म प्रयास्यामि तपसा गतिमार्हतीम्॥ पद्मपुराण पर्व ११४

इस मनुष्य पर्याय में विषयरूपी शत्रुओं का त्याग करूँगा और मन को वश में करके कर्मों का क्षय करके तप द्वारा अर्हन्त की पदवी को प्राप्त करूँगा।

<u>परिपालनीय मध्यम पथ</u>—जो पुरुष श्रमण अवस्था के योग्य उच्च मनोबल तथा विशुद्धता को नहीं प्राप्त कर पाता, वह जिनेन्द्र भक्ति आदि सत्कार्यों में संलग्न हो धर्म ध्यान का आश्रय लेता है। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति द्वारा संसार के श्रेष्ठ सुख तथा मोक्ष का महान सुख भी प्राप्त होते हैं। धन, धान्य, तथा वैभव विभूति में जिसका मन लगा हुआ है, उसे महापुराणकार के ये शब्द ध्यान देने योग्य ही नहीं, तत्काल परिपालन के योग्य भी हैं:—

पुण्यं जिनेन्द्र-परिपूजनसाध्यमाद्यम्।
पुण्यं सुपात्र-गत-दान-समुत्थमन्यत्।
पुण्यं व्रतानुचरणा-दुपवास-योगात्।
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्॥२८।२१६॥

जिनेन्द्र भगवान की पूजा से उत्पन्न पुण्य प्रथम है। सुपात्र को दान देने से उत्पन्न पुण्य दूसरा है। व्रतों के पालन द्वारा प्राप्त पुण्य तीसरा है। उपवास करने से उत्पन्न पुण्य चौथा है। इस प्रकार पुण्यार्थी को पूजा, दान, व्रत, तथा उपवास द्वारा पुण्य का उपार्जन करना चाहिये।

अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले महान तत्त्वज्ञानी चक्रवर्ती भरतेश्वर ने गृहस्थावस्था में पुण्य का समुचित मूल्यांकन किया था। इससे उन्होंने प्रभु आदिनाथ की पुण्यदायिनी स्तुति करने के पश्चात् ये महत्वपूर्ण शब्द कहे थे—

भगवन् ! त्वद्गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमर्जितम् ।
तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदा मे ॥२३।२६६॥म. पु.॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हे भगवन ! मैंने आपके गुण-स्तवन द्वारा जो पुण्य प्राप्त किया है, उसके फल स्वरूप आपके चरणकमलों में मेरी सर्वदा श्रेष्ठ भक्ति होवे। जो व्यक्ति पापों तथा व्यसनों में आसक्त होते हुए पुण्यार्जन के विरुद्ध प्रलाप किया करते हैं, वे विष का बीज बोते हुए उन सुमधुर फलों को चाहते हैं, जो पुण्यरूपी वृक्ष पर लगा करते हैं; किन्तु पाप बीज से उत्पन्न वृक्ष द्वारा जब दुःखरूपी फलों की प्राप्ति होती है, तब वे आर्त और रौद्रध्यान की मूर्ति बनकर और भी कष्ट-परंपरा का पथ पकड़ते हैं। विवेकी गृहस्थ को जिनसेन स्वामी इस प्रकार समझाते हैं—

पुण्य का फल—

पुण्यात् चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियम् ।
पुण्यात् तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते ।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणा-माविर्भवेद् भाजनम् ।
तस्मात्पुण्य मुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥३०॥२६॥

पुण्यसे सर्व विजयिनी चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त होती है। पुण्य से इन्द्र की दिव्यश्री प्राप्त होती है। पुण्य से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा परम कल्याणरूप मोक्ष लक्ष्मी भी पुण्यसे प्राप्त होती है। इस प्रकार पुण्यसे ही यह जीव चार प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्त करता है। इससे हे सुधीजनो ! तुम लोग भी जिनेन्द्रभगवान के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।

प्रश्न—पुण्य सम्पादक पूजा, दान, व्रत तथा उपवास से आत्मा को क्या लाभ होगा ?

समाधान—पूजादि कार्यों से कषाय भाव मन्द होते हैं। आत्मा की विभाव परणति न्यून होने लगती है। उससे अशुभ कर्म का

संवर होता है। पूर्वबद्ध पापराशि प्रलय को प्राप्त होती है। इस प्रकार दान पूजादि द्वारा पुण्य के बंध के साथ संवर तथा निर्जरा का भी लाभ होता है।

समाधिशतक में पूज्यपाद स्वामी का यह मार्गदर्शन महत्वपूर्ण है :—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

सर्व प्रथम प्राणातिपात, अदत्तादान, असत्य-संभाषण, कुशील-सेवन परिग्रह की आसक्ति रूप पाप के कारण अव्रतों को त्यागकर अहिंसा अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप व्रतों में पूर्णता प्राप्त करना चाहिए। व्रतों के परिपालन में उच्च स्थिति होने के अनंतर आत्मा के निर्विकल्प स्वरूप में लीन हो परम समाधि को प्राप्त करता हुआ महामुनि उन विकल्प रूप व्रतों को छोड़कर आत्मा के परम पद को प्राप्त करे। यह भी स्पष्ट है कि व्रतों के द्वारा पुण्य बंध होता है तथा अव्रतों से पाप का बंध होता है। यदि गृहस्थ ने पुण्य के साधन व्रतों का आश्रय नहीं लिया, तो वह पाप के द्वारा पशु तथा नरक पर्याय में जाकर कष्ट पावेगा। मनुष्य की सार्थकता व्रतों का यथाशक्ति परिपालन करने में है। धर्म ध्यान का शरण ग्रहण करना इस काल में श्रावकों तथा श्रमणों का परम कर्तव्य है। दुःषमा काल में शुक्लध्यान का अभाव है।

शंका— बंध का कारण अज्ञान है। अतः मुमुक्षु को ज्ञान के पथ में प्रवृत्त होना चाहिए। व्रत पालन का कष्ट उठाना अनावश्यक है। अमृतचंद्रसूरि ने अज्ञान को बंध का कारण कहा है :—

अज्ञानात् मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः।
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्र-करणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्।
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्री भवन्त्याकुलाः ॥५८॥

अज्ञान के कारण मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति वश मृगगण पानी पीने को दौड़ा करते हैं। अज्ञान के कारण मनुष्य रस्सी में सर्प वश भागते हैं। जैसे पवन के वेग से समुद्र में लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अज्ञानवश विविध विकल्पों को करते हुए स्वयं शुद्धज्ञानमय होते हुए भी अपने को कर्त्ता मानकर ये प्राणी दुःखी होते हैं।

श्री [illegible]प्रभु
[illegible] ग्रंथमाला
खामगांव जि. बुलडाणा

समाधान—यहां मिथ्याभाव विशिष्ट ज्ञान को अज्ञान मानकर उस अज्ञान की प्रधानता की विवक्षावश उपरोक्त कथन किया गया है। वास्तव में रागद्वेषादि विकारों सहित अज्ञान बंध का कारण है। यदि अल्प भी ज्ञान वीतरागता-संपन्न हो, तो वह कर्मराशि को विनिष्ट करने में समर्थ हो जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मूलाचार में कुन्दकुन्द महर्षि ने कहा है—

> धीरो वइरग्गपरो थोवंपि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
> ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥ ३-३ ॥

धीर (सर्व उपसर्ग-सहन-समर्थः) तथा विषयों से पूर्ण विरक्त व्यक्ति अल्प भी (सामायिकादि स्वरूप प्रमाण) ज्ञान को धारणकर कर्मों का क्षय करता है; वैराग्यभाव शून्य व्यक्ति सर्व शास्त्रों को पढ़कर भी मोक्ष नहीं पाता है।

आचार्य की यह मंगलवाणी सार-पूर्ण है:—

> थोवह्मि सिक्खिदे जियइ बहुसुदं जो चरित्त—संपुण्णो।
> जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥ ३–६ ॥

जो चारित्र-पूर्ण व्यक्ति है, वह अल्प ज्ञान युक्त होते हुए भी दशपूर्व के पाठी बहुश्रुतज्ञ को पराजित करता है। जो चारित्र-हीन है, उसके बहुश्रुत होने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

टीकाकार वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है, "स्तोके शिक्षिते पंच-नमस्कारमात्रेऽपि परिज्ञाते तस्य स्मरणे सति जयति बहुश्रुत दशपूर्वधरमपि करोत्यधः"— अल्पज्ञानी होने का अभिप्राय है, कि पंच नमस्कार मात्र का ज्ञान तथा स्मरण संयुक्त व्यक्ति यदि चारित्र-संपन्न है, तो वह दशपूर्वधारी महान ज्ञानी से आगे जाता है।

सम्यक्चारित्र का महत्व—प्रवचन सार में यह महत्वपूर्ण कथन आया है :—

> ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
> सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥

यदि तत्त्वार्थ की श्रद्धा नहीं है, तो आगम के ज्ञान मात्र से सिद्धि नहीं प्राप्त होती है। तत्त्वों की श्रद्धा भी हो गई, किन्तु यदि वह व्यक्ति

संयम अर्थात् चारित्र से शून्य है, तो भी उसे मोक्ष का लाभ नहीं होगा। अमृतचंद्रसूरि टीका में लिखते हैं, "संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः"—संयम शून्य श्रद्धा अथवा ज्ञान से सिद्धि नहीं प्राप्त होती है।

सम्यग्ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में उन कर्मों का क्षय करता है, जिनका क्षय करोड़ों भवों में नहीं होता है; यह कथन किया जाता है। प्रमाणरूप में यह गाथा उपस्थित की जाती है :—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भव-सय-सहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥प्र.सा.

यहाँ निर्विकल्प समाधि रूप त्रिगुप्ति स्वरूप चारित्र की महिमा अवगत होती है। संसार के कारण रूप मन, वचन तथा काय की क्रिया के निरोध रूप गुप्ति नामक सम्यक् चारित्र है। अतः सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र का संगम आवश्यक है। द्रव्यसंग्रह में कहा है :—

बहिरब्भंतर-किरिया-रोहो भवकारण-प्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

संसार के कारणों का क्षय करने के लिये जो बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं के निरोध रूप ज्ञानी के जो कार्य होता है, उसे जिनेन्द्र देव ने सम्यक्-चारित्र कहा है। इस आप्त वाणी के प्रकाश में अल्पकाल में होने वाली महान् निर्जरा में ज्ञान के स्थान में सम्यक्चारित्र का महत्व ज्ञात होता है।

शंका—समयसार में सम्यक्त्वी जीव के आस्रव और बंध का निरोध कहा है। इस कारण चारित्र का महत्व मानना उचित नहीं प्रतीत होता?

समाधान—समयसार में उक्त गाथा के पश्चात् की गाथा द्वारा यह स्पष्ट सूचित किया गया है, कि रागादि से विप्रमुक्त पुरुष अबंधक है। राग और द्वेष चारित्र मोहनीय के भेद हैं। चारित्र धारण किये बिना राग और द्वेष का अभाव सोचना अनुचित है। अतः चारित्र की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार क्षति नहीं प्राप्त होती। समयसार की ये गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादि-विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

जीव के द्वारा किया गया रागादिभाव बंधक कहा गया है। रागादि से विमुक्त अर्थात् वीतराग भाव अबंधक है। वह ज्ञायक भाव कहा गया है।

सम्यक्त्वी के बंध पर आगम—ज्ञानी के बंध का सर्वथा अभाव मानने की धारणा आगम के प्रतिकूल है, इस बात का स्पष्टीकरण समयसार की इस गाथा द्वारा होता है। उसमें यह कहा गया है कि जब सम्यक्त्वी के ज्ञान गुण का जघन्य रूप से परिणमन होता है, तब बंध होता है।

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१ ॥

जिस कारण ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण से अन्य रूपसे परिणमन करता है, इस कारण वह ज्ञानगुण बंधक कहा गया है।

जो अविरति युक्त सम्यक्त्वी को सर्वथा अबंधक सोचते हैं, उनके संदेह को दूर करते हुए टीकाकार अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
"यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभावि-राग-सद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्"—यथाख्यात चारित्र रूप अवस्था के नीचे अर्थात् सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त नियम से राग का अस्तित्व पाया जाता है, अतः उस राग से बंध होता है।

दंसण-णाण-चरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ स.सा.

इस कारण, दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र जघन्य भाव से परिणमन है; अतएव ज्ञानी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों का बंध करता है। 'जघन्यभाव' का अर्थ सकषायभाव है। जयसेनाचार्य कहते हैं, "जघन्यभावेन सकषायभावेन।"

इस प्रकार आगम का कथन देखकर भी कुछ लोग यह कहा करते हैं, सम्यक्त्वी के बंध नहीं होता है। जो बंध है, वह भी कथन मात्र है। यथार्थ में वह बंध रहित है। यह एकान्त पक्ष का समर्थन विशुद्ध चिंतन तथा आगम की देशना के प्रतिकूल है। जब अविरत सम्यक्त्वी के बंध के कारण अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप चार कारण विद्यमान हैं तथा उनके द्वारा चारों प्रकार कर्मबंध होता है,

तब उसके सर्वथा अबंधपने का कथन करना उचित कार्य नहीं है। आगम के अनुसार अपनी श्रद्धा को बनाना विचारवान व्यक्ति का कर्तव्य है।

जिस षट् खंडागम सूत्र का संबंध क्रमागत परंपरा से सर्वज्ञ भगवान महावीर प्रभु की वाणी से [illegible] में कहा है "सम्मादिट्ठी बंधा वि अत्थि, अबंधा वि अत्थि" (क्षुद्रक बंध भाग, सूत्र २६) सम्यक्त्वी के बंध होता है, अबंध भी होता है। टीकाकार धवला टीका में कहते हैं, "कुदो ? सासवाणासवेसु सम्मदंसणुवलंभा"—आस्रव तथा अनास्रव अवस्था युक्त जीवों के सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अयोग केवली भगवान को निरास्रव कहा है। 'णिरुद्ध णिस्सेस-आसवो जीवो" अयजोगो केवली'। आगम जब सर्वज्ञ सयोगी जिनको आस्रव रहित नहीं कहता है, तब अविरति सम्यक्त्वी को निरास्रव मानना उचित नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

महत्वपूर्ण कथन—उत्तरपुराण में गुणभद्र आचार्य ने कहा है कि विमलनाथ भगवान वैराग्य भाव उत्पन्न होने पर सोचते हैं :—

चारित्रस्य न गन्धोपि प्रत्याख्यानोदयो यतः ।
बंधश्चतुर्विधोप्यस्ति बहु-मोह-परिग्रहः ॥३५॥
प्रमादाः संति सर्वेपि निर्जराप्यल्पिकैव सा ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं मान्द्यामस्य मिहैव हि ॥३६॥ सर्ग ५६॥

प्रत्याख्यानावरण का उदय होने से मेरे चारित्र की गंध भी नहीं है; बहुल मोह तथा परिग्रह युक्त चार प्रकार का कर्म बंध भी हो रहा है। मेरे सभी प्रमाद पाए जाते हैं। मेरे कर्मों की निर्जरा भी अत्यन्त अल्प प्रमाण में हो रही है। अहो! यह मोह की महिमा है, जो मैं (तीर्थंकर होते हुए भी) इस संसार में शिथिलतावश बैठा हुआ हूं।

<u>रत्नत्रय का महत्व</u>—इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि चारित्र ही सब कुछ है। श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं है। यथार्थ में मोक्ष का कारण रत्नत्रय धर्म है। सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक में मार्मिक बात कही है, जिससे रत्नत्रय धर्म का महत्व स्पष्ट होता है :—

सम्यक्त्वात् सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता ।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥

सम्यक्त्व के द्वारा देव तथा मनुष्य गति मिलती है, ज्ञान के द्वारा यश का लाभ होता है तथा चारित्र से पूजापना मिलता है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र के द्वारा होती है।

रयणसार में कुंदकुंद स्वामी का यह कथन सच्चे तत्त्वज्ञ को महत्वपूर्ण लगेगा :—

> [illegible] णाणी ।
> विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के प्रभाव से कर्मों का क्षय करता है यह कथन करने वाला अज्ञानी है। मैं वैद्य हूं, मैं औषधि को जानता हूं क्या इतने जानने मात्र से व्याधि का निवारण हो जायेगा ? —

सम्यक्त्व सुगति का हेतु है यह कथन कुंदकुंद स्वामी द्वारा समर्थित है :—

> सम्मत्तगुणाइ सुगइ मिच्छादो होई दुग्गई णियमा ।
> इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुचेइ तं कुणहो ॥ ६६ ॥

सम्यक्त्व के कारण सुगति तथा मिथ्यात्व से नियमतः कुगति होती है, ऐसा जानो। अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? जो तुझ को रुचे वह कर।

तत्त्वार्थसूत्र में "सम्यक्त्वं च" (६। २१) सूत्र द्वारा कहा है, कि सम्यक्त्व देवायु का कारण है। इस विवेचन का यह अर्थ नहीं है, कि मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का मूल्य नहीं है। रत्नत्रय रूपी वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है; उसका स्कन्ध ज्ञान है; चारित्र उसकी शाखा है। जिस जीव ने निर्दोष सम्यक्त्व रूप आत्म-प्रकाश प्राप्त कर लिया है, उसके लिए सर्वांगीण विकास तथा आत्मीक उन्नति का मार्ग खुला हुआ है। लौकिक श्रेष्ठ सुखादि की सामग्री केवल सम्यक्त्वी ही पाता है। तीर्थंकर की श्रेष्ठ पदवी के लिए बंध करने वाला जीव सम्यग्दर्शन समलंकृत होता है। वह सम्यक्त्वी संयम और संयमी की हृदय से अभिवंदना करता हुआ उस ओर प्रवृत्ति करने का सदा प्रयत्न किया करता है। वह अपने असंयमी जीवन पर अभिमान न कर स्वयं की शिथिल प्रवृत्तियों की निन्दा-गर्हा करता है। सच्चे सम्यक्त्वी का आदर्श परमात्म पद की प्राप्ति है, अतः वह अपनी यथार्थ स्थिति को समझकर स्व-स्तुति के स्थान पर स्वयं की समालोचना करने में तत्पर

होता है। ऐसे निर्मल सम्यक्त्वी के विषय में यशस्तिलक में सोमदेव-सूरि कहते हैं :—

चक्रश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीः दर्शनोत्सुका ।

तस्य दूरे न मुक्तिश्रीः निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चक्रवर्ती की श्री उसको आश्रय ग्रहण करने को उत्कंठित रहती है, देवों की लक्ष्मी उसके दर्शन के लिए उत्सुक रहती है, तथा मोक्ष लक्ष्मी भी उसके समीप है, जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है।

आत्मश्रद्धा युक्त अल्पज्ञान भी यदि सम्यक्चारित्र समन्वित है, तो मोक्ष की प्राप्ति सुनिश्चित है। चारित्र मोहरूप शत्रु पर विजय होने पर अल्पज्ञान भी अद्भुत शक्ति संपन्न हो जाता है।

आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं।

अज्ञानान्मोहिनो बंधो न ज्ञानाद्वीतमोहतः ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

मोहविशिष्ट अर्थात् मिथ्यात्वयुक्त व्यक्ति के अज्ञान से बंध होता है। मोह रहित व्यक्ति के ज्ञान से बंध नहीं होता है। मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। मोही के ज्ञान से बंध होता है।

यहां बंध का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नहीं है। मोह सहित ज्ञान बंध का कारण है। मोह रहित ज्ञान मोक्ष का कारण है। इस कथन में अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है।

शंका—यह कथन सूत्रकार उमास्वामी के "मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बंध-हेतवः" (८ । १) इस सूत्र के विरुद्ध पड़ता है ?

समाधान—विद्यानंदि स्वामी अष्टसहस्री (२६७) में कहते हैं, कि मोहविशिष्ट अज्ञान में संक्षेप से मिथ्यादर्शन आदि का संग्रह किया गया है। इष्ट, अनिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बंधन का हेतु कषायैकार्थसमवायी अज्ञान के अविनाभावी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को कहा गया है। मोह और अज्ञान में मिथ्यात्व आदि का समावेश होता है।

कर्मसिद्धान्त और एकान्तवाद—यह कर्म सिद्धान्त अनेकान्त शासन में ही सुव्यवस्थित रूप से सुघटित होता है। तत्वचिंतन के प्रकाश में एकान्तवादी सौगतादिक की दार्शनिक मान्यताओं के साथ उनके द्वारा स्वीकृत कर्म सिद्धान्त का कथन असम्बद्धसा अवगत होता है। महान तार्किक समंतभद्र स्वामी इस सम्बन्ध में समीक्षा करते हुए कहते हैं :—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥आ. मी. ८॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्व सिद्धान्त तथा अनेकांत सिद्धान्त के विपक्षी नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदि पक्षों में अनुरक्तों के यहां कुशल अर्थात् पुण्य कर्म, अकुशल अर्थात् पाप कर्म तथा परलोक नहीं सिद्ध होते हैं।

नित्यैकान्त अथवा अनित्यैकान्त पक्ष में क्रम तथा अक्रमपूर्वक अर्थक्रिया नहीं बनती है। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में पुण्य-पाप के बंधादि की व्यवस्था भी नहीं बनती है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है, कि 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' सत्व युक्त होने से सभी पदार्थ क्षणिक हैं। उसमें कर्मों का बंधन, फल का उपभोग आदि कथन स्वसिद्धान्त विपरीत पड़ता है। हिंसा आदि पाप कार्यों का करने वाला, अकुशल कर्म का फलानुभवन के पूर्व क्षय को प्राप्त हो जाने से, फलानुभवन नहीं करेगा। इस विषय पर समंतभद्र स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

हिनस्त्यनभि-सन्धातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत्।
बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥५१॥आ. मी.

हिंसा का संकल्प करने वाला चित्त द्वितीय क्षण में नष्ट हो चुका, (क्योंकि वह क्षण स्थायी था), अतः संकल्पविहीन चित्त के द्वारा प्राणघात संपन्न हुआ। हिंसक व्यक्ति भी दूसरे क्षण में नष्ट हो गया, अतः हिंसा के फलस्वरूप दण्ड का भोगने वाला चित्त ऐसा होगा, जिसने न तो हिंसा का संकल्प किया और न हिंसा का कार्य ही किया। इसी क्रम के अनुसार बंधन-बद्ध चित्त उत्तर क्षण में नष्ट हो गया, अतः मुक्ति को पानेवाला चित्त नवीन ही होगा। सूक्ष्म चिंतन द्वारा ऐसी अव्यवस्था तथा अद्भुत स्थिति क्षणिकैकान्त पक्ष में उत्पन्न होती है। इस एकान्त पक्ष में नैतिक जिम्मेदारी का भी अभाव हो जाता है। कृत कर्मों का नाश और अकृतकर्मों का फलोपभोग होगा।

एकान्त नित्य पक्ष में क्रियाशीलता का अभाव हो जाने से देश से देशान्तर गमन रूप देश-क्रम नहीं होगा। शाश्वतिक रहने से कालक्रम नहीं बनेगा। सकल काल-कलाव्यापी वस्तु को विशेष काल में विद्यमान मानने पर नित्य पक्ष का व्याघात होगा। सहकारी कारण की अपेक्षा क्रम मानने पर यह प्रश्न होता है कि सहकारी कारण उस वस्तु में कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि विशेषता पैदा करते हैं, ऐसा मानते हो, तो नित्यत्व पक्ष को क्षति पहुँचती है। यदि विशेषता नहीं उत्पन्न करते हैं, यह पक्ष मानते हो, तो सहकारी की अपेक्षा लेना व्यर्थ हो जाता है। अकार्यकारी को सहयोगी सोचना तर्क बाधित है।

नित्य पक्ष में युगपद् अर्थक्रियाकारित्व मानने पर एक ही समय में-एक ही क्षण में समस्त कार्यों का प्रादुर्भाव होगा; द्वितीय क्षण में क्रिया का अभाव होने से वस्तु अवस्तु रूप हो जायेगी। अतः नित्य पक्ष में भी अर्थक्रिया का अभाव होने से कर्मबंध की व्यवस्था नहीं बनेगी।

अद्वैत पक्ष में भी कर्म सिद्धांत की मान्यता बाधित होती है। आप्त मीमांसा में कहा है:—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् बंध-मोक्षद्वयं तथा ॥२५॥

लौकिक-वैदिक कर्म, कुशल-अकुशल कर्म, पुण्य-पाप कर्म, लोकद्वैत, विद्या-अविद्या का द्वैत तथा बंध-मोक्ष द्वैत भी अद्वैत पक्ष में सिद्ध नहीं होते। "अद्वैत" शब्द स्वयं "द्वैत" के सद्भाव का ज्ञापक है। प्रतिषेध्य के बिना संज्ञावान पदार्थ का प्रतिषेध नहीं बनता है। यदि युक्ति द्वारा अद्वैत तत्व को सिद्ध करते हो, तो साधन और साध्य का द्वैत उपस्थित होता है। यदि वचनमात्र से अद्वैत तत्त्व मानते हो, तो उसी न्याय से द्वैत पक्ष भी क्यों नहीं सिद्ध होगा?

<u>कर्मसिद्धान्त का अतिरेक</u>—कोई व्यक्ति दैव, भाग्य, नियति आदि का नाम लेकर यह अतिरेक कर बैठते हैं, कि जैसा कुछ विधाता ने भाग्य में लिखा है, वह कोई नहीं टाल सकता है। "यदत्र भाले लिखितं, तत् स्थितस्यापि जायते"। दैव ही शरण है। 'विधिरेव शरणं'। एक मात्र दैव ही शरण है।

इस दैवैकान्त की आलोचना करते हुए समंतभद्र स्वामी कहते हैं-दैव से ही प्रयोजन सिद्ध होता है, तो यह बताओ जीव के प्रयत्न

द्वारा दैव की उत्पत्ति क्यों होती है ? आज जिसे पुरुषार्थ कहा जाता है; वही आगे दैव कहा जाता है। पुरुषार्थ द्वारा बाँधा गया कर्म ही आगे दैव कहा जाता है। दैवैकान्त की दुर्बलता को देख पुरुषार्थ का एकान्तवादी कहता है पूर्वबद्ध कर्मों में क्या ताकत है ? 'दैवमविद्वांसः प्रमाणयंति'—अज्ञानी लोग ही दैव को प्रमाण मानते हैं।

येषां बाहुबलं नास्ति, येषां नास्ति मनोबलम् ।
तेषां चंद्रबलं देव किं कुर्यादम्बरस्थितम् ॥ यश.ति.३।५४॥

जिनकी भुजाओं में शक्ति नहीं है और जिनके पास मनोबल नहीं है, ऐसे व्यक्तियों का आकाश में स्थित चंद्रबल (ग्रह आदि की विशेष स्थिति) क्या करेगा ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस एकान्त विचार की समीक्षा करते हुए समंतभद्र स्वामी पूछते हैं— यह बताओ तुम्हारा पुरुषार्थ दैव से कैसे उत्पन्न हुआ ? कदाचित् यह मानो कि सब कुछ पुरुषार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो सभी प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिये। कर्म के तीव्र उदय आने पर पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता है। समान पुरुषार्थ करते हुए भी पूर्वकृत कर्म के उदयानुसार फलों में भिन्नता पाई जाती है। समान श्रम करने वाले किसान दैववश एक समान फसल नहीं काटते हैं।

समन्वय पथ—दैव और पुरुषार्थ की एकान्त दृष्टि का निराकरण करते हुए सोमदेव सूरि इस प्रकार उनमें मैत्री स्थापित करते हैं। इस लोक में फल-प्राप्ति दैव अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म तथा मानुष कर्म अर्थात् पुरुषार्थ इन दोनों के अधीन है। यदि ऐसा न माना जाय, तो क्या कारण है कि समान चेष्टा करने वालों के फलों में भिन्नता प्राप्त होती है ?

यशस्तिलक में कहा है—

परस्परोपकारेण जीवितौषधयोरिव ।
दैव-पौरुषयोर्वृत्तिः फलजन्मनि मन्यताम् ॥ यश. ति. ३।३३

जैसे औषधि जीवन के लिए हित प्रद है और आयु कर्म औषधि के प्रभाव के लिए आवश्यक है अर्थात् फलोत्पत्तिमें आयुकर्म औषधि सेवन परस्पर में एक दूसरे को लाभ पहुंचाते हैं, उसी प्रकार दैव और पौरुष की वृत्ति है।

वे कहते हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के अगोचर अतीन्द्रिय आत्मासे दैव संबंधित है, और प्राणियों की समस्त क्रियाएं पुरुषार्थ पर निर्भर हैं, इससे उद्यम की ओर ध्यान देना चाहिये।

आत्मानुशासनमें – आचार्य [illegible] किया गया है—

"आयुः श्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितम्
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि ।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्य-कुशलाः कार्ये मंदोद्यमा :।
द्रागागामि-भवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥ ३७ ॥

यदि पूर्व संचित पुण्य पास में है, तो दीर्घ जीवन, धन, शरीर संपत्ति आदि मनोवांछित पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। यदि वह पुण्य रूप सामग्री नहीं है, तो स्वयं को अपार कष्ट देने पर भी वह सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव उचित अनुचित का सम्यक् विचार करने में प्रवीण श्रेष्ठ पुरुष भावी जीवन निर्माण के विषय में शीघ्र ही प्रीतिपूर्वक विशेष प्रयत्न करते हैं तथा इस लोक के कार्यों के विषय में मंद रूप से उद्यम करते हैं। ✓

नियतिवाद समीक्षा—कोई कोई प्रमादी व्यक्ति मानवोचित पुरुषार्थ से विमुख हो भावी दैव अथवा नियति (Destiny) का आश्रय लेकर अपने मिथ्या पक्ष को उचित ठहराने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं, जिस समय जहाँ जैसा होना है, उस समय वहाँ वैसा ही होगा। नियति के विधान को बदलने की किसी में भी क्षमता नहीं है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने ऐसे पौरुष शून्य तथा भीरुतापूर्ण भावों को मिथ्यात्वका भेद नियतिवाद कहा है।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ ८०२ । गो.क.॥

जो जिस काल में जिसके द्वारा, जैसे, जिसके, नियम से होता है, वह उस काल में, उससे उस प्रकार उसके होता है। इस प्रकार की मान्यता नियतिवाद है।

श्री [illegible]प्रभु
दि[illegible] जैन [illegible]
खामगाव जि. बुलडाणा

विवेकी तथा पुरुषार्थी धर्मात्मा दैव का दास न बनकर तथा नियतिवाद को आदर्श न बनाकर आत्मशक्ति, जिनेन्द्रभक्ति तथा जिनागम की देशना को अपने जीवन का आश्रय केन्द्र बनाकर सचरित्र होता हुआ उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करता है। जो कायर तथा पौरुष-शून्य दैव या नियतिवाद के गुण-गाथा गाते हुए पाप पथ का परित्याग करने से डरते हैं, वे प्रमादी अपने नर जन्म रूपी चिन्तामणि रत्न को समुद्र में फेंक देते हैं। नियतिवाद का एकान्त मिथ्यात्व है। अमृतचंद्रसूरि ने कथंचित् रूप में नियतिवाद का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है "नियतिनयेन नियमितौष्ण्य-वह्निवन्नियत-स्वभावासि। अनियतिनयेना नियतनिमित्तौष्ण्यपानीयवद् नियतस्वभावासि"—नियति नय से जीव नियमित उष्णतायुक्त अग्नि सदृश नियत स्वभाव युक्त है। अनियत नय से वह अनियमित निमित्तवश उष्णतायुक्त जल सदृश अनियत स्वभाव है। (प्रवचनसार गाथा २७५ टीका)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रसंग में समंतभद्र स्वामी का यह दार्शनिक विश्लेषण महत्वपूर्ण मार्गदर्शन करता है:—

> अबुद्धि - पूर्वापेक्षाया—मिष्टानिष्टं स्वदैवतः
> बुद्धिपूर्वव्यपेक्षाया—मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ आ. मी. ६१

अबुद्धिपूर्वक अर्थात् अतर्कितरूप से उपस्थित इष्ट - अनिष्ट कार्य अपने दैव की मुख्यता से होता है। बुद्धिपूर्वक इष्ट अनिष्ट फल की जो प्राप्ति होती है, उसमें पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है।

इस विषय को बुद्धिग्राही बनाने के लिए सोमदेवसूरि यह दृष्टांत देते हैं— सोते हुए व्यक्ति का सर्प से स्पर्श होते हुए भी मृत्यु का नहीं होना दैव की प्रधानता को सूचित करता है। सर्प को देखकर बुद्धिपूर्वक आत्म संरक्षण का उद्योग पुरुषार्थ की विशेषता को व्यक्त करता है। भोगी तथा अंधकार पूर्ण भविष्य वाला व्यक्ति आत्माराधन के कार्य में दैव तथा नियतिवाद का आश्रय लेता है तथा जीवन को उच्च और मंगल मय बनाने के कर्तव्य से विमुख बनकर पाप के गर्त में पटकने वाले हिंसा, असत्य, चोरी, छल, कपट, तीव्र तृष्णा, परस्त्री सेवन, सुरापान आदि कार्यों में इच्छानुसार अनियंत्रित प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार भोगी प्राणी दैव और पुरुषार्थ के विवेचन रूप महासागर का मंथन कर अमृत के स्थान में विष को निकाला करता है। विषय भोग संबंधी कार्यों में वह पुरुषार्थ की मूर्ति बनता है तथा त्याग एवं सदाचार के विषय में वह दैव का आश्रय ले दरा करता है। ऐसी कमजोर आत्मा को

चारित्र चक्रवर्ती १०८ चपकराज आचार्य शांतिसागर महाराज को ३६ दिन पर्यन्त होने वाली यम सल्लेखना के २६ वें दिन दी गई धर्मदेशना को स्मरण करना चाहिए, जिसमें उन्होंने सान्त्वना तथा अभय प्रद वाणी में कहा था, "अरे प्राणी ! भय का परित्याग कर और संयम का आश्रय अवश्य ग्रहण कर।" मोक्ष परम पुरुषार्थी को मिलता है। यह स्वयं चतुर्थ पुरुषार्थ कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में कहा है, कि अत्यन्त अल्पज्ञानी होते हुए भी शिवभूति नामकी पुरुषार्थी आत्मा ने सकल कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। उस आत्मा ने भोगों पर विजय प्राप्त करके मुनि पद को धारण किया तथा सत्साहस सहित हो कर्मों के साथ युद्ध किया तथा अन्त में मोह कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। उन्होंने नियतिवाद का आश्रय न ले पुरुषार्थ का मार्ग अंगीकार किया था। भावपाहुड में लिखा है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥

निर्मल परिणाम युक्त तथा महान् प्रभावशाली शिवभूति मुनि ने 'तुष-माष भिन्न'—दाल और छिलका जैसे पृथक् हैं, इसी प्रकार मेरा आत्मा भी कर्मरूपी छिलके से जुदा है, इस पद को स्मरण करते हुए (भेद विज्ञान द्वारा) केवलज्ञान पाया था। शिवभूति मुनिराज का यह दृष्टान्त उन लोगों को सत्पथ बतलाता है, जो मन्दज्ञानी व्यक्ति को सदाचरण में प्रवृत्त होने से रोकते हैं अथवा विघ्न उपस्थित करते हैं। यथार्थ बात है कि यदि चित्त में सच्चा वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया है, तो अल्पज्ञानी को आत्म कल्याण हेतु उच्च त्याग में प्रवृत्त होते देखकर हर्षित होना चाहिए, न कि विघ्नकारी तत्त्व बनना चाहिए।

आत्मा की शक्ति अपार है। कर्म की शक्ति भी अद्भुत है। यह अनंतशक्तिधारी तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि से अनंत ज्ञानवान आत्मा को निगोदिया की पर्याय में अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञानवाला बनाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

पुद्गल कर्म की भी ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है, जिसके कारण जीव का केवलज्ञान स्वभाव विनाश को प्राप्त हो गया है।

ऐसी अद्भुत शक्ति युक्त कर्मराशि का क्षय अकर्मण्य बनकर "मैं स्वयं परमात्मा हूं" ऐसी बातों मात्र द्वारा नहीं होगा। इसके लिए धनादि तथा इष्ट जनों का संपर्क त्यागकर वीतराग महामुनि की दीक्षा लेकर आगमकी आज्ञानुसार रत्नत्रय धर्म को स्वीकार करना होगा। रत्नत्रय की तलवार के प्रचण्ड प्रहार द्वारा कर्म सैन्य का सम्राट मोहनीय कर्म क्षय को प्राप्त होता है। वीरसेन आचार्य ने वेदना खण्ड के मंगलाचरण में लिखा है :—

तिरयण-खग्ग णिहाएणुत्तारिय-मोहसेण्ण-सिर-णिवहो ।
आइरिय-राउ-पसियउ परिवालिय-भविय-जिय-लोओ ॥

जिन्होंने रत्नत्रयरूपी खड्ग के प्रहार से मोहरूपी सेना के शिर-समूह का नाश कर दिया है तथा भव्य-जीव-लोक का परिपालन किया है, वे आचार्य महाराज[illegible]होवें आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

<u>कर्मों के विविध प्रकार</u>—इस कर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं। ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तेरानवे, गोत्र के दो तथा अंतराय के पांच ये सब मिलकर (१४८) भेद होते हैं। इनको कर्म प्रकृति नाम से कहा जाता है। शब्द की दृष्टि से कर्म के असंख्यात भेद हैं। अनंतानंतात्मक स्कन्धों के परिणमन की अपेक्षा कर्म के अनंत भेद हैं। ज्ञानावरणादि के अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा भी अनंत भेद कहे गए हैं।

कर्म के बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशम, निधत्ति तथा निकाचना रूप दश भेद कहे गये हैं।

"कम्माणं संबंधो बंधो"—मिथ्यात्वादि परिणामों से पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरण आदिरूप से परिणत होता है, तथा ज्ञानादि गुणों का आवरण करता है इत्यादि रूप कर्म का संबंध होना बंध है। "स्थित्यनुभागयोः वृद्धिः उत्कर्षणं" स्थिति और अनुभाग की वृद्धि उत्कर्षण है। "परप्रकृतिरूप-परिणमनं संक्रमणं"—अन्य प्रकृतिरूप परिणमन को संक्रमण कहते हैं। "स्थित्य-नुभागयो र्हानिरपकर्षणं नाम"—स्थिति और अनुभाग की हानि को अपकर्षण कहते हैं। "उदयावलि-बाह्यस्थित-द्रव्यस्यापकर्षण-वशादुदयावल्यां निक्षेपण-मुदीरणा खलु"—उदयावली बाह्य स्थित द्रव्य को अपकर्षण के वश से उदयावली में निक्षेपण करना उदीरणा है। 'अस्तित्वं सत्वं'—कर्मों के अस्तित्व को सत्व कहा है। "स्वस्थितिं प्राप्तमुदयो भवति"—कर्म का

स्वकीय स्थिति को प्राप्त होना उदय है। "यत्कर्म उदयावल्यां निक्षेप्तुमशक्यं तदुपशांतं नाम"—जो कर्म उदयावली में निक्षिप्त करने में अशक्त है, उसे उपशम कहते हैं। "उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुं चाशक्यं तन्निधत्तिर्नाम"—जो कर्म उदयावली में प्राप्त करने में तथा अन्य प्रकृति रूप में संक्रमण किए जाने में असमर्थ है, वह निधत्ति है। "उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुमुत्कर्षयितुं अपकर्षयितुं चाशक्यं तन्निकाचितं नाम भवति"—जो कर्म उदयावली में न लाया जा सके, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण किए जाने को समर्थ नहीं है, वह निकाचित है।

सात कर्मों में ये दशकरण पाये जाते हैं। आयु कर्म में संक्रमण नाम का करण नहीं पाया जाता है। अपूर्व करण गुणस्थान पर्यन्त दश करण होते हैं उससे आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त उपशांत, निकाचना और निधत्ति को छोड़कर शेष सात करण कहे गए हैं। वहां भी संक्रमण करण के बिना सयोगी पर्यन्त छह करण हैं। अयोगी के "सत्तं उदयं अजोगि त्ति"—सत्व और उदय मात्र होते हैं। उपशान्तकषाय गुणस्थान में मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति के परमाणुओं का सम्यक्त्व प्रकृतिरूप संक्रम होता है। शेष प्रकृतियों के छह करण होते हैं।

मिश्र गुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त आयु बिना सात तथा आयु सहित आठ कर्मों का बंध होता है। मिश्र गुण स्थान अपूर्व करण तथा अनिवृत्तिकरण में आयु तथा मोह के बिना छह कर्म बंधते हैं। उपशांत कषाय, क्षीणकषाय तथा सयोगी जिनके एक वेदनीय का ही बंध होता है। "अबंधगो एक्को"—एक अयोगी जिन अबंधक हैं। (गो.क.४५२)

उदय की अपेक्षा दशवें गुणस्थान पर्यन्त आठों कर्मों का उदय होता है। उपशान्त कषाय तथा क्षीणमोह गुणस्थानों में मोह को छोड़ सात कर्मों का उदय होता है। तेरहवें सयोगकेवली तथा चौदहवें अयोगी जिनके चार अघातिया कर्मों का ही उदय होता है।

उदीरणा के विषय में यह ज्ञातव्य है कि मोहनीय की उदीरणा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर्यन्त होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय की उदीरणा क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त होती है। वेदनीय और आयु की उदीरणा प्रमत्त संयत पर्यन्त होती है। नाम और गोत्र की उदीरणा सयोगी जिन पर्यन्त होती है।

कर्मों की दश अवस्थाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है, कि जीव के परिणामों के आश्रय से कर्म को हीन शक्ति युक्त अथवा

अधिक शक्तियुक्त भी बनाया जा सकता है। उदीरणा के द्वारा कर्मों का अनियत काल में उदय होकर निर्जरा होती है। तप के द्वारा जो असमय में निर्जरा होती है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" यह बात सर्वथा रूप से जैन सिद्धान्त में नहीं मानी गई है। जब आत्मा में रत्नत्रय की ज्योति प्रदीप्त होती है, तब अनंतानंत कार्माण वर्गणाएं बिना फल दिए हुए निर्जरा को प्राप्त हो जाती हैं। केवली भगवान के एक समय की स्थिति वाला साता वेदनीय कर्म का बंध होता है, जो अनंतर समयमें उदय को प्राप्त होता है। उसी साता वेदनीय रूपमें परिणत होकर असाता वेदनीय की निर्जरा हो जाती है; इस कारण केवली भगवान के क्षुधा आदि की पीड़ा का अभाव सर्वज्ञोक्त शासन में स्वीकार किया गया है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण का स्वभाव जीव के ज्ञान और दर्शन गुणों का आवरण करना है। बौद्धिक विकास में न्यूनाधिकता का संबंध ज्ञानावरण कर्म से है। सुख तथा दुःख का अनुभवन कराना वेदनीय कर्म का कार्य है। आत्मा के श्रद्धा और चारित्र को विकृत बनाना मोहनीय का कार्य है। इसके द्वारा आत्मा के सुख गुणको भी क्षति प्राप्त होती है। यह मदिरा के समान जीव को अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति नहीं होने देता है। मनुष्यादि पर्यायों में नियत काल पर्यन्त जीव की अवस्थिति का कारण आयु कर्म है। शरीरादि की रचना का कारण नाम कर्म है। यह चित्रकार सदृश जीव को विविध रूपता प्रदान करता है। लोक पूजित अथवा उच्च नीच देह पिण्ड की प्राप्ति में कारण गोत्र कर्म है। यह कुंभकार के समान माना गया है। दान, लाभ तथा भोगादि में विघ्न करने वाला अंतराय कर्म कहा गया है। जीव में उच्चपना नीचपना, समाज की कल्पना नहीं है। जैन शासन में इसे गोत्र कर्म जन्य माना गया है।

वेदनीय कर्म यद्यपि अघातिया है, फिर भी यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण के पश्चात् तथा मोहनीय रूप घातिया कर्मों के मध्य में रखा गया है, क्योंकि मोह का अवलंबन प्राप्त कर यह कर्म जीव के गुण का घात करता है। वेदनीय का स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इस प्रकार दिया गया है :—

> अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं ।
> दुःखसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥१४॥

इंद्रियों का अपने विषयों का अनुभवन अर्थात्, जानना वेदनीय है। जो दुःख स्वरूप अनुभवन कराता है, वह असाता वेदनीय है तथा जो

सुख रूप अनुभवन करावे, वह साता वेदनीय है। टीकाकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "इंद्रियाणां अनुभवनं विषयावबोधनं वेदनीयं। तत् सुख-स्वरूपं सातं, दुःखस्वरूपमसातं वेदयति ज्ञापयति इति वेदनीयम्"। इन कर्मों की निरुक्ति करते हुए इस प्रकार स्पष्टीकरण गोम्मटसार की संस्कृत टीका में किया गया है :—

उदाहरण—ज्ञानावरण के विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं, "ज्ञानमावृणोति ज्ञानावरणीयं। तस्य का प्रकृतिः? ज्ञानप्रच्छादनता। किंवत्? देवतामुखवस्त्रवत्।" जो ज्ञान का आवरण करे, वह ज्ञानावरण है। उसका क्या स्वभाव है? ज्ञान को ढांकना स्वभाव है। किसके समान? देवता के समक्ष डाले गए वस्त्र की तरह वह ज्ञान का आवरण करता है।

दर्शनावरण—"दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयं। तस्य का प्रकृतिः दर्शनप्रच्छादनता। किंवत् राजद्वार-प्रतिनियुक्त-प्रतीहारवत्।" जो दर्शन का आवरण करे, वह दर्शनावरणीय है। उसकी क्या प्रकृति है? दर्शन को ढांकना उसका स्वभाव है। किस प्रकार? वह राजद्वार पर नियुक्त द्वारपाल के समान है।

वेदनीय—"वेदयतीति वेदनीयं। तस्य का प्रकृतिः? सुख-दुःखोत्पादनता, किं वत्? मधुलिप्तासिधारावत्"—जो अनुभवन करावे, वह वेदनीय है। उसका क्या स्वभाव है? सुख-दुःख उत्पन्न कराना उसका स्वभाव है। किस प्रकार? मधु लिप्त तलवार की धार के समान उसका स्वभाव है। मधु द्वारा सुख प्राप्त होता है, तलवार की धार द्वारा जीभ को क्षति पहुंचने से कष्ट भी होता है।

मोहनीय—"मोहयतीति मोहनीयं। तस्य का प्रकृतिः? मोहोत्पादनता। किंवत्? मद्य-धत्तूर-मदनकोद्रववत्"—जो मोह को उत्पन्न करे, वह मोहनीय है। उसका क्या स्वभाव है? मोह को उत्पन्न करना। किस प्रकार? मदिरा, धतूरा तथा मादक कोदों के समान वह मादकता उत्पन्न करता है। राजवार्तिक में मोहनीय की निरुक्ति इस प्रकार की है, "मोहयति, मुह्यते अनेनेति वा मोहः" जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा जीव मोहित किया जाता है, वह मोह है।

आयु—"भवधारणाय एति गच्छतीति आयुः। तस्य का प्रकृतिः? भवधारणता। किंवत्? हलिवत्"—भव अर्थात् मनुष्यादि की पर्याय को धारण करने को उसके उदय से जीव जाता है, इससे उसे आयु कहते हैं। उसकी क्या प्रकृति है? भव को धारण करना। किस प्रकार? जिस प्रकार हलि अर्थात् काष्ठ के यंत्र में पैर को फंसाकर नियत-

काल तक दंडित व्यक्ति पराधीन बनता है, उसी प्रकार पर्याय विशेष में नियत काल पर्यन्त जीव पराधीन रहा आता है।

नाम—"नाना मिनोतीति नाम। तस्य का प्रकृतिः? नर-नारकादि-नानाविधि विभिकरणता। किंवत्? चित्रकवत्।"—नाना प्रकार के कार्य को संपादन करे सो नाम है। इसकी क्या प्रकृति? जिस प्रकार चित्रकार नाना प्रकार के चित्रनिर्माण करता है, उसी प्रकार यह नर नारकादि रूपों को बनाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गोत्र—"उच्चनीचं गमयतीति गोत्रं। तस्य का प्रकृतिः? उच्चनीचत्व-प्रापकता। किंवत्? कुंभकारवत्।" जो उच्च, नीचपने को प्राप्त करावे वह गोत्र है। उसकी क्या प्रकृति है? उच्चता, नीचता को प्राप्त कराना। किस प्रकार? कुंभकार के समान। जैसे कुंभकार छोटे, बड़े बर्तन बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म नीच, ऊंच भेदों का जनक है।

अंतराय—"दातृ - पात्रयोरंतरमेतीति अंतरायः। तस्य का प्रकृतिः? विघ्नकरणता। किंवत्? भांडागारिकवत्।" दाता तथा पात्र के मध्य जो आवे, वह अंतराय है। उसकी क्या प्रकृति है? विघ्न उत्पन्न करना। किस प्रकार? जैसे भंडारी देने में विघ्न करता है, इसी प्रकार यह पात्र के द्रव्य लाभ में विघ्न उत्पन्न करता है। दाता ने आज्ञा दे दी, कि पात्र को दान दे दिया जाय, किन्तु भण्डारी देने में विघ्न उत्पन्न करता है।

इस प्रकार आठों कर्मों का स्वरूप समझना चाहिये।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनंतवीर्य रूप अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण घातिया कर्म कहे गए हैं। आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय अघातिया कहे गए हैं, कारण इनके द्वारा अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाधत्व रूप प्रतिजीवी गुणों का घात होता है। इनके बंधके चार भेद कहे गए हैं:—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोंश-विकल्पनम्।

कर्मों का नामानुसार जो स्वभाव है, वह प्रकृति है। उनका मर्यादित काल पर्यन्त रहना स्थिति है। उनमें रसदान की शक्ति का सद्भाव अनुभाग है तथा कर्म वर्गणाओं के परमाणुओं की परिगणना

प्रदेश बंध कहा है। योग के कारण प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं। कषाय के कारण स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

कर्मों का प्रधान—आठों कर्मों के सम्राट् के समान मोहनीय की स्थिति है। तत्वानुशासन ग्रंथ में लिखा है:—

> बंध - हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्री प्रकीर्तितः ।
> मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रयत् ॥ १२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समस्त बंध के कारणों में मोह कर्म चक्रवर्ती कहा गया है। उसका मंत्री मिथ्याज्ञान कहा गया है।

> ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ च तत्सुतौ ।
> यदायत्तः सुदुर्भेदो मोह—व्यूहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

उस मोह के ममकार और अहंकार नाम के दो पुत्र हैं, जो सेना नायक हैं। उन दोनों के आधीन मोह का अत्यन्त दुर्भेद्य सेना व्यूह-सेनाचक्र कार्य करता है।

ग्रन्थ का प्रमेय—इस कषाय पाहुड ग्रंथ में मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया है। वीरसेन आचार्य ने कहा है "एत्थ कसाय-पाहुडे सेस-सत्तण्हं कम्माणं परूवणा णत्थि त्ति भणिदं होदि"—इस कषाय पाहुड ग्रंथ में शेष सात कर्मों की प्ररूपणा नहीं की गई है।

मोहनीय के प्रभेद—मोहनीय कर्म के दो भेद हैं (१) दर्शन (२) चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा मिश्र प्रकृति ये तीन भेद हैं। चारित्र मोह के कषाय तथा अकषाय (नोकषाय) ये दो भेद हैं। क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप चार प्रकार कषाय हैं। उनमें प्रत्येक के अनंतानुबंधी; एक देश संयम को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण, सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण तथा जिस कषाय के रहते हुए भी संयम का परिपालन होता है तथा जिसके कारण यथाख्यात चारित्र नहीं हो पाता, वह संज्वलन कषाय रूपभेद हैं।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसक वेद ये नोकषाय या अकषाय कही गई हैं। अकषाय का अर्थ ईषत् कषाय है। क्रोधादि कषायों के होते हुए ये नोकषाय तीव्र रूप से जीव को

कष्ट देती हैं; किन्तु उनके अभाव में ये निस्तेज हो जाने से नोकषाय अथवा अकषाय कही गई हैं।

कषायपाहुड ग्रंथ के चतुः अनुयोगद्वार में गुणधर भट्टारक ने लिखा है :—

कोधो चउव्विहो वुत्तो माणो वि चउव्विहो भवे।
माया चउव्विहा वुत्ता लोभो वि य चउव्विहो ॥७०॥

क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। मान भी चार प्रकार का कहा गया है। माया चार प्रकार की कही गई है। लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है।

णग-पुढवि-वालुगोदय-राई-सरिसो चउव्विहो कोहो।
सेल-घण-अट्ठि-दारुअ-लदा समाणो हवे माणो ॥७१॥

नग राजि अर्थात् पर्वत की रेखा, पृथ्वी की रेखा, बालुका की रेखा तथा जल की रेखा समान क्रोध चार प्रकार है।

शैलघन अर्थात् शिला स्तंभ, अस्थि, दारु (काष्ठ) लता के समान मान चार प्रकार कहा गया है।

गोम्मटसार जीवकांड में क्रोध का बालुका की रेखा के समान उल्लेख के स्थान में 'धूलि रेखा' का उदाहरण दिया है। राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने गुणधर आचार्य के समान ही क्रोध को चार प्रकार कहा है "(क्रोधः) स चतुः प्रकारः पर्वत-पृथ्वी-बालुकोदक-राजितुल्यः" (अ. ८, सू. ६, पृ. ३०५)। मान भी उसी प्रकार चतुर्विध कहा है, "शैल-स्तंभास्थि-दारु-लतासमानश्चतुर्विधः"। जीवकांड गोम्मटसार में मान का दृष्टान्त 'लता' के स्थान में 'बेत' दिया गया है।

दीर्घ काल पर्यन्त टिकने वाला क्रोध पर्वत की रेखा सदृश कहा है। उसकी अपेक्षा न्यूनता पृथ्वी रेखा, बालुका रेखा तथा जल की रेखा सदृश क्रोध में पाई जाती है। आचार्य नेमिचंद सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है कि उक्त चार प्रकार के क्रोध से क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गति में उत्पाद होता है। (गो. जी. २८५)

जो मान दीर्घकाल तक रहता है, वह शैलघन सदृश है। वह नरक गति का उत्पादक कहा गया है। अस्थि, काष्ठ, तथा बेत समान

माया क्रमशः न्यून होती हुई तिर्यंच, नर एवं देवगति में जीव को पहुँचाती है।

माया के विषय में कहा है:—

> वंसी-जण्हुग सरिसी मेंढविसाण सरिसी य गोमुत्ती।
> अवलेहणी समाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ ७२ ॥

बांस की जड़ समान मेंढे के सींग समान, गोमूत्र समान तथा अवलेखनी अर्थात्, दातौन वा जीभी के समान माया चार प्रकार की है। मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत्यन्त भयंकर कुटिलता रूप माया बांस की जड़ तुल्य कही है। उसके होने पर यह जीव नरकगति में जाता है। उससे न्यून मेंढे के सींग, गोमूत्र तथा अवलेखनी समान माया के द्वारा क्रमशः तिर्यंच, मनुष्य तथा देव पर्याय में उत्पत्ति होती है।

गोम्मटसार में अवलेहनी के स्थान में 'खोरप्प'—शुरप्र का उदाहरण दिया गया है। बांस की जड़ समान उत्कृष्ट शक्ति युक्त माया कषाय नरकगति का कारण है। मेंढे के सींग सदृश माया अनुत्कृष्ट शक्ति युक्त माया मनुष्य गति का कारण है। अवलेखनी समान माया जघन्य शक्ति युक्त होने से देव गति का कारण कही गई है। राजवार्तिक में कषाय पाहुड के ही उदाहरण दिए हैं। "माया प्रत्यासन्न-वंश पर्वोपचितमूल-मेष शृंग-गोमूत्रिका-वलेखनी सदृशा चतुर्विधा"।

लोभ के विषय में कहा है:—

> किमिराय-रत्त-समगो अक्ख-मल-समो य पंसुलेवसमो।
> हालिद्दवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ ७३ ॥

कृमिराग रूप कीट विशेष से उत्पन्न डोरा से निर्मित वस्त्र के समान, अत्यन्त पक्का रंग सदृश, अर्थात् गाड़ी के औंगन के समान, पांशु लेप अर्थात् धूली के समान तथा हारिद्र अर्थात् हल्दी से रंगे वस्त्र के समान लोभ चार प्रकार का कहा गया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में लोभ का पांशुलेप अर्थात् धूली के लेप के स्थान में 'तणुमल'—शरीर के मल का उदाहरण दिया है। राजवार्तिक में लिखा है "लोभः कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हारिद्राराग सदृश-

अतुर्विधः"—कृमिराग, कज्जल, कर्दम तथा धूलि के समान लोभ चार प्रकार का कहा है। उत्कृष्ट शक्तियुक्त लोभ कृमिराग सदृश है। वह नरकगति का कारण है। अनुत्कृष्ट लोभ अक्षमल के समान है। वह तिर्यंचगति का हेतु है। अजघन्य लोभ पांशुलेप अर्थात् धूली समान है। वह मनुष्यगति का हेतु है। जघन्य लोभ हल्दी के रंग समान है। वह देवगति का कारण है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कसाय पाहुड के व्यंजन अनुयोग द्वार में क्रोधादि के पर्यायवाची नामों की परिगणना इस प्रकार की गई है—

कोहो य कोव रोसो य अक्खम संजलण कलह वड्ढी य।
झंझा दोस विवादो दस कोहेयाट्ठिया होंति ॥८६॥

क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद ये क्रोध के एकार्थवाची दस नाम हैं।

प्रत्येक नाम विशेष अर्थ का ज्ञापक है। उदाहरणार्थ क्रोध को वृद्धि संज्ञाप्रदान की गई। इसका स्पष्टीकरण जयधवला टीका में इस प्रकार किया है। 'वर्धन्तेऽस्मात् पापाशयः कलहवैरादय इति वृद्धिः"—इससे पापभाव, कलह, वैरादि की वृद्धि होती है। इससे क्रोध को वृद्धि कहा है। इस विषय में इस ग्रंथ के पृष्ठ ११७ पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

मान के पर्यायवाची इस प्रकार हैं—

माण मद दप्प थंभो उक्कास पगास तध समुक्कस्सो।
अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥८७॥

मान, मद, दर्प, स्तंभ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव तथा उत्सिक्त ये दश नाम मान कषाय के हैं।

माया के पर्यायवाची नाम—

माया य सादिजोगो णियदी वि य वंचणा अणुज्जुगदा।
गहणं मणुण्ण-मग्गण कक्क कुहक गूहणच्छण्णो ॥८८॥

माया, सातियोग, निकृति, वंचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञ-मार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न ये माया के एकादश नाम हैं।

दो गाथाओं में लोभ के बीस नाम इस प्रकार कहे हैं :—

कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्जदोसो य।
णेहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य गिद्धी य ॥८९॥
सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्ज जिब्भाय।
लोहस्स य णामधेज्जा वीसं एगट्ठिया भणिदा ॥९०॥

काम, राग, निदान, छंद, स्वता, प्रेय, द्वेष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, शाश्वत या साशता, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या तथा जिह्वा ये लोभ के एकार्थवाची बीस नाम हैं।

मार्गदर्शक लोभ [illegible] क्यों है ऐसी शंका के समाधानार्थ जयधवला टीका में ❀जिनसेन आचार्य कहते हैं. "विद्या जिस प्रकार दुराराध्य अर्थात् कष्टपूर्वक आराध्य होती है. उसी प्रकार लोभ भी है। कारण परिग्रह के उपार्जन, रक्षणादि कार्य में जीव को महान कष्ट उठाने पड़ते हैं। "विद्येव विद्या। क इहोपमार्थः ? दुराराध्यत्वम्।"

लोभ का पर्यायवाची जीभ कहने का क्या कारण है ? जिस प्रकार जीभ कभी भी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार लोभ की भी तृप्ति नहीं होती है। "जिह्वेव जिह्वेत्यसंतोष-साधर्म्यमाश्रित्य लोभ पर्यायत्वं वक्तव्यम्"—

(इन क्रोधादि के पर्यायवाची नामों पर विशेष प्रकाश इस ग्रंथ में पृष्ठ ११७ से १२१ पर्यन्त डाला गया है।)

दो परंपरा—नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव पर्याय में उत्पन्न जीव के प्रथम समय में क्रमशः क्रोध, माया, मान तथा लोभ का उदय होता है। नारकी के उत्पत्ति के प्रथम समय में क्रोध, पशु के माया, मनुष्य के अभिमान तथा देव के लोभ कषाय की उत्पत्ति होती है। यह कषायप्राभृत द्वितीय सिद्धान्तग्रंथ के व्याख्याता यतिवृषभ आचार्य का अभिप्राय है। पं० टोडरमल जी ने लिखा है "सो ऐसा नियम कषाय प्राभृत दूसरा सिद्धान्त का कर्ता यतिवृषभ नामा आचार्य ताके अभिप्रायकरि जानना" (पृष्ठ ६१६-संस्कृत बड़ी टीका का अनुवाद)। 'कषायप्राभृत-द्वितीय

❀ साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका की बीस हजार श्लोक प्रमाण रचना वीरसेन स्वामी कृत है। शेष रचना महाकवि जिनसेन की कृति है, ऐसा इंद्रनंदि श्रुतावतार में कहा है। इस कारण उपरोक्त टीका के इस भाग को हमने जिनसेन स्वामी द्वारा कथित लिखा है।

सिद्धान्तव्याख्यातुर्यति वृषभाचार्यस्य"—कषाय प्राभृत की रचना गुणधर आचार्य ने की है। उसके व्याख्या चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आचार्य हैं, यह बात स्पष्ट है। महाकर्म प्रकृति प्राभृतरूप प्रथम सिद्धान्त ग्रंथ के कर्ता भूतबलि आचार्य के मत से पूर्वोक्त नियम नहीं है। अन्य कषायों का भी उदय प्रथम क्षण में हो सकता है। इस प्रकार दो परंपराएँ हैं। नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं :—

णारय-तिरिक्ख-णर-सुर-गईसु उप्पण्णपढमकालम्हि ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥२८८॥ गो.जी.॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न होने के प्रथमकाल क्रमशः क्रोध, माया, मान तथा लोभ का उदय होता है अथवा इसमें कोई निश्चित रूप से नियम नहीं है।

पूर्वोक्त दो परंपराओं में किसे सत्य माना जाय, किसे सत्य न माना जाय, इसका निर्णय होना असंभव है, "अस्मिन् भरतक्षेत्रे केवलि-द्वयाभावात्" कारण इस समय इस भरतक्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव है उन महान ज्ञानियों का अभाव होने से इस विषय में निर्णय करने में आचार्य असमर्थ हैं। "आरातीयाचार्याणां सिद्धान्तद्वयकर्तृभ्यो ज्ञानातिशयवत्त्वाभावात्" (गो. जी. सं. टीका पृ. ६१६) आरातीय आचार्यों के सिद्धान्त द्वय के रचयिता भूतबलि तथा गुणधर आचार्यों की अपेक्षा विषय ज्ञान का अभाव है। यदि कोई आचार्य विदेह जाकर तीर्थंकर के पादमूल में पहुँचे, तो यथार्थता का परिज्ञान हो सकता है। ऐसी स्थिति के अभाव में पापभीरु आचार्यों ने दोनों उपदेशों को समादरणीय स्वीकार किया है।

ये क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय स्व को, पर को तथा उभय को बंधन, बाधन तथा असंयम के कारण होते हैं। जीवकाण्ड में कहा है :—

अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त कोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥२८९॥

अपने को, पर को, तथा दोनों को बंधन, बाधा, असंयम के कारणभूत क्रोधादि कषाय तथा वेदादि नो कषाय है। ये कषाय जिनके नहीं हैं, वे मल रहित अकषाय जीव हैं।

इन क्रोधादि के शक्ति की अपेक्षा चार प्रकार, लेश्या की अपेक्षा चौदह प्रकार तथा आयु के बंधस्थान की अपेक्षा बीस प्रकार कहे गये हैं।

शिला भेद समान जो क्रोध का उत्कृष्ट शक्ति स्थान है, उसमें कृष्ण लेश्या ही होती है।

भूमि भेद समान क्रोध के अनुत्कृष्ट शक्ति स्थान में क्रम से कृष्ण आदि छह लेश्या होती हैं। (१) वहां मध्यम कृष्ण लेश्या, (२) मध्यम कृष्ण लेश्या तथा उत्कृष्ट नील लेश्या, (३) मध्यम कृष्ण लेश्या, मध्यम नील लेश्या, उत्कृष्ट कपोतलेश्या, (४) मध्यम कृष्ण नील कपोत लेश्या जघन्य पीत; (५) मध्यम कृष्ण नील-कपोत-तेजो लेश्या, जघन्य पद्मलेश्या, (६) मध्यम कृष्ण-नील-कपोत-तेज-पद्म जघन्य शुक्ल लेश्या रूप स्थान है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रोध का पृथ्वी रेखा समान जो अनुत्कृष्ट स्थान है, उसमें छह भेद होते हैं (१) जघन्य कृष्णलेश्या, और शेष पांच मध्यम लेश्या (२) जघन्य नील तथा शेष चार मध्यम लेश्या (३) जघन्य कापोत तथा शेष तीन मध्यम लेश्या (४) उत्कृष्ट पीत, मध्यम पद्म तथा मध्यम शुक्ल (५) उत्कृष्ट पद्म तथा मध्यम शुक्ल (६) मध्यम शुक्ल रूप स्थान है।

क्रोध का जल रेखा समान जघन्य स्थान मध्य शुक्ल से रूप एक स्थान है। इस प्रकार क्रोध के छह लेश्याओं की अपेक्षा चौदह भेद हैं। ऐसे मानादि में भी जानना चाहिये।—"अनेनैव क्रमेण मानादीनामपि चतुर्दशलेश्याश्रितस्थानानि नेतव्यानि।" (पृ. ६२१ गो. जी.)

आयु के बीस बंधा बंधस्थानों का खुलासा गाथा २९३, से २९५ तक की गो. जीवकांड की बड़ी टीका में किया गया है। उनमें पांच स्थानों में आयु बंध नहीं होता है। शेष पंद्रह स्थानों में आयु का बंध होता है।

जीव मुख्य शत्रु—आत्मा के निर्वाण लाभ में बाधक होने से सभी कर्म जीव के लिए शत्रु हैं, किन्तु आगम में शत्रु रूप से मोह कर्म का उल्लेख किया जाता है। धवला टीका में 'णमो अरिहंताणं' इस पद की व्याख्या करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं—"नरक-तिर्यक्-कुमानुष्य-प्रेतावास-गताशेष-दुःखप्राप्ति-निमित्तत्वादरि-र्मोहः" (नरक, तिर्यंच, कुमनुष्य तथा प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को 'अरि' कहा है।

शंका—"तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेत्, न मोह को ही शत्रु मानने पर शेष कर्मों का कार्य विफलता को प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, "शेषकर्मणा मोहतंत्रत्वात्"—शेष कर्म मोह के आधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने अपने कार्य की निष्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाए जाते हैं।

प्रश्न—"मोहे विनष्टेपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणा सत्वोपलंभात्तेषां तदायत्तत्वमिति चेत्"—मोह के नष्ट हो जाने पर भी बहुत समय पर्यन्त शेष कर्मों का सत्व पाए जाने से उनको मोह के आधीन नहीं मानना चाहिये।

समाधान—ऐसा नहीं है। कारण मोहरूपी शत्रु के क्षय होने पर जन्म-मरण रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से "तत् सत्वस्यासत्व-समानत्वात्"—उनकी सत्ता असत्व के समान हो जाती है। केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्मा गुणों के आविर्भाव को रोकने में समर्थ कारण होने से मोह कर्म प्रधान शत्रु है उसके नाश होने से अरिहंत यह संज्ञा प्राप्त होती है। ध० टी० भा० १, प्र० १ पृ० ४३)

कषाय पर नय दृष्टि—मोहनीय के भेद क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषाय चतुष्टय विविध नयों की अपेक्षा 'पेज्ज'—प्रेय (राग) तथा 'दोस' (द्वेष) रूप कही गई हैं। चूर्णि सूत्रकार यतिवृषभ आचार्य ने कहा है कि "णेगम-संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो माया पेज्जं, लोहो पेज्जं"—नैगम नय तथा संग्रह नय की अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है तथा माया और लोभ प्रेय रूप हैं।

"ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, लोहो पेज्जं" व्यवहार-नय से क्रोध, मान, माया द्वेष रूप हैं, लोभ प्रेय है। ऋजुसूत्रनय से क्रोध द्वेष है, मान न द्वेष है न प्रेय है। लोभ प्रेय है।

शब्द नय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया तथा लोभ द्वेष रूप हैं। लोभ कथंचित् प्रेय है।

यहां विवेचन में विविधता का कारण भिन्न २ विवक्षा है। कौन कषाय हर्ष का हेतु है, तथा कौन हर्ष का हेतु नहीं है, यह विवक्षा मुख्य है।

नोकषायों में हास्य, रति, स्त्रीवेद पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद लोभ के समान राग के कारण है, अतः 'प्रेय है'। अरति, शोक, भय और जुगुप्सा द्वेष रूप हैं, क्योंकि वे क्रोध के समान द्वेष के कारण हैं (विशेष विवेचन ग्रंथ के पृष्ठ २४ से २८ पर्यन्त किया गया है।)

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मोह बंध के कारण—इस कसायपाहुड ग्रंथ में मोहनीय कर्म का कथन किया गया है। इस मोह के बंध के कारण इस प्रकार कहे गए हैं—

जिससे दर्शन मोह के कारण यह जीव सत्तरकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण संसार में दुःख भोगता है, उसके बंध में ये कारण हैं, जिनेन्द्र देव, वीतराग वाणी, निर्ग्रन्थ मुनिराज के प्रति काल्पनिक दोषों को लगाना धर्म तथा धर्म के फल रूप श्रेष्ठ आत्माओं में पाप पोषण की सामग्री का प्रतिपादन कर भ्रम उत्पन्न करना, मिथ्या प्रचार करना आदि असत् प्रवृत्तियों द्वारा दर्शन मोह का बंध होता है।

चारित्र मोह के उदय वश यह जीव चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण दुःख भोगा करता है। उससे यह जीव क्रोधादि कषायों को प्राप्त होता है। क्रोधादि के तीव्र वेगवश मलिन प्रचण्ड भावों का करना, तपस्वियों की निंदा तथा धर्म का ध्वंस करना, संयमी पुरुषों के चित्त में चंचलता उत्पन्न करने का उपाय करने से, कषायों का बंध होता है। अत्यंत हास्य, बहुप्रलाप, दूसरे के उपहास करने से स्वयं उपहास का पात्र बनता है। विचित्र रूप से क्रीड़ा करने से, औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने से रति वेदनीय का आस्रव होता है। दूसरे के प्रति विद्वेष उत्पन्न करना, पाप प्रवृत्ति करने वालों का संसर्ग करना, निंदनीय प्रवृत्ति की प्रेरणा प्रदान आदि अरति प्रकृति कारण हैं। दूसरों को दुःखी करना और दूसरों को दुःखी देख हर्षित होना शोक प्रकृति का कारण है। भय प्रकृति के कारण यह जीव भयभीत होता है। उसका कारण भय के परिणाम रखना, दूसरों को डराना, सताना तथा निर्दयतापूर्ण प्रवृत्ति करना है। ग्लानिपूर्ण अवस्था का कारण जुगुप्सा प्रकृति है। पवित्र पुरुषों के योग्य आचरण की निंदा करना, उनसे घृणा करना आदि से यह जुगुप्सा प्रकृति बंधती है। स्त्रीत्व विशिष्ट स्त्रीवेद का कारण महान क्रोधी स्वभाव रखना, तीव्र मान, इर्षा, मिथ्यावचन, तीव्रराग, परस्त्री सेवन के प्रति विशेष आसक्ति रखना, स्त्री सम्बन्धी भावों के प्रति तीव्र अनुराग भाव है। पुरुषत्व संपन्न पुरुषवेद के क्रोध की न्यूनता, कुटिलभावों का अभाव, लोभ तथा मान का अभाव, अल्पराग, स्वस्त्री संतोष, ईर्षा भाव की मंदता, आभूषण आदि के प्रति उपेक्षा के भाव आदि हैं। जिसके उदय से नपुंसक वेद मिलता है, उसके कारण प्रचुर प्रमाण में क्रोध, मान, माया, लोभ से दूषित परिणामों का सद्भाव, परस्त्री-सेवन, अत्यंत हीन आचरण एवं तीव्र रागादि हैं।

ग्रंथ के अधिकार—इस कसाय पाहुड ग्रंथ में दो गाथाओं द्वारा पंचदश अधिकारों के नाम इस प्रकार गिनाए हैं :—

पेज्ज-दोस विहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय ।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेव ॥ १३ ॥

सम्मत्त-देसविरयी संजम-उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धा परिमाण णिद्देसो ॥ १४ ॥

:-:- ० दर्शन और चारित्र मोह के संबंध में (१) प्रेयोद्वेष-विभक्ति (२) स्थिति-विभक्ति (३) अनुभाग-विभक्ति (४) अकर्म बंध की अपेक्षा बंधक (५) कर्मबंधक की अपेक्षा बंधक (६) वेदक (७) उपयोग (८) चतुः स्थान (९) व्यंजन (१०) दर्शनमोह की उपशामना (११) दर्शन मोह की क्षपणा (१२) देशविरति (१३) संयम (१४) चारित्र मोह की उपशामना (१५) चारित्र मोह की क्षपणा; ये पंद्रह अर्थाधिकार हैं।

इनसे सिवाय यतिवृषभ आचार्य द्वारा पश्चिम स्कंध अधिकार की भी प्ररूपणा की गई है। चूर्णिकार ने सयोगकेवली के अघातिया कर्म का कथन इसमें किया है।

कषायों से छूटने का उपाय—यह जीव निरन्तर राग द्वेष रूप परिणामों के द्वारा कर्मों का संचय किया करता है। बाह्य वस्तुओं के रहने पर उनसे राग या द्वेष परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं, अतः आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन में कहते हैं :—

रागद्वेषौ प्रवृत्ति स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थ-संबद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥ २३७ ॥

राग तथा द्वेष को प्रवृत्ति कहते हैं। राग-द्वेष के अभाव को निवृत्ति कहते हैं। राग और द्वेष का संबंध बाह्य पदार्थों से रहा करता है; इस कारण उन बाह्य पदार्थों का परित्याग करे।

पर वस्तुओं का परित्याग के साथ उनसे भिन्नपने अर्थात् अकिंचनत्व की भावना करे। इस अकिंचनत्व के माध्यम से यह जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।

ध्यान—कषाय रूप प्रचण्ड शत्रुओं से छूटने के लिए अन्तरंग बहिरंग परिग्रह का परित्याग करके आत्मा का ध्यान करना चाहिए। उस

आत्मा के ध्यान द्वारा कर्मों का आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज क्षय होता है। यह सदुपदेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषं चारित्रं पालय सविशेषम् ।
काम-क्रोधनिपातिन यंत्रं ध्यानं कुरु रे जीव पवित्रम् ॥

अरे जीव ! समस्त परिग्रह का त्याग कर। पूर्ण चारित्र का पालन कर। काम तथा क्रोध को नष्ट वाले यंत्र समान विशुद्ध आत्मा का ध्यान कर। पंचास्तिकाय में ध्यान को अग्नि कहा है, जिसमें शुभ, अशुभ सभी कर्म का क्षय हो जाता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुह-डहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

जिसके राग, द्वेष, तथा मोह का क्षय हो गया है और योगों की क्रिया भी नहीं है, ऐसे केवलज्ञानी जिनेन्द्र के शुभ अशुभ का क्षय करने वाली ध्यानमय अग्नि प्रज्वलित होती है।

जिस अद्भुत शक्ति संपन्न अग्नि में प्रचण्ड कर्मराशि का विनाश होता है, वह अग्नि शुक्लध्यान रूप है। मल्लिनाथ तीर्थंकर की स्तुति में समन्तभद्र स्वामी ने यही बात कही है :—

यस्य च शुक्लं परमतपोग्निर्ध्यानमनंतं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोस्मि ॥५॥

मैं उन कृतकृत्य, अशल्य जिनसिंह मल्लिनाथ की शरण में जाता हूँ, जिनकी शुक्लध्यानरूपी श्रेष्ठ अग्नि में अनंत पाप को दग्ध किया गया।

ध्यान का उपाय—कर्मक्षय करने की अपार शक्ति संपन्न ध्यान के विषय में द्रव्यसंग्रह का यह कथन महत्वपूर्ण है :—

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छियं ज्झाणं ॥५५॥

साधु ध्येय के विषय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का चिंतवन करता हुआ समस्त इच्छाओं से विमुक्ति रूप स्थिति को प्राप्त होता है, उस समय उस ध्यान को निश्चय ध्यान कहा गया है।

इस विषय में टीकाकार कहते हैं, "प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवंचनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पंचपरमेष्ठ्यादि-परद्रव्यमपि ध्येयं भवति, पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैक-स्वभाव-निजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति।" (२१६ पृष्ठ) कषायों को दूर करने को तथा चित्त को स्थिर करने के लिये पंचपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। इसके पश्चात् अभ्यास हो जाने पर चित्त के स्थिर होने पर शुद्ध तथा बुद्ध रूप एक स्वभाव सहित अपनी शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही ध्येय हो जाता है।

श्रेष्ठ ध्यान के विषय में आचार्य कहते हैं :—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥

हे भव्य! कुछ भी शरीर की चेष्टा मत कर; कुछ भी वचनालाप मत कर, कुछ भी संकल्प विकल्प चिंतवन मतकर। इससे आत्मा स्थिर दशा को प्राप्त होकर स्वयं अपने रूप में लीनता को प्राप्त होगा। यही उत्कृष्ट ध्यान है।

"आत्मा योगत्रय-निरोधेन स्थिरो भवति"—आत्मा मन, वचन, काय की क्रियाओं के रुकने पर अर्थात् योग निरोध होने पर जो स्थिर अवस्था को प्राप्त करता है वही शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद समुच्छिन्न-क्रिया निवृत्ति नाम का श्रेष्ठ ध्यान है। इसमें ही अत्यन्त अल्पकाल में समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं। "तदेव निश्चय-मोक्षमार्ग स्वरूपम्" वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। इसी अवस्था को इन पवित्र शब्दों में स्मरण करते हैं, "तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परम-शिवस्वरूपं, तदेव परम बुद्धस्वरूपं, तदेव परम जिनस्वरूपं, तदेव सिद्धस्वरूपं तदेव परमतत्वज्ञानं, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमतत्वं, सैव शुद्धात्मानुभूति, तदेव परमज्योतिः, स एव परमसमाधिः स एव शुद्धोपयोगः स एव परमार्थः स एव समयसार, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमाद्वैतं" (पृ० २२१-२२२)

इस ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, श्रुत तथा व्रत समन्वित जीवन आवश्यक है। "तव-सुद-वदवं चेदा ज्झाणरह-धुरंधरो हवे" (द्रव्यसंग्रह ५७) जो पुरुष पाप परिपालन में प्रवीण हैं, दुर्व्यसनों के आचार्य हैं, तथा सदाचार से दूर हैं, वे ध्यान के पावन-मंदिर में प्रवेश पाने के भी अनधिकारी हैं। मार्जार सदा हिंसन कार्य में ही निमग्न रहती है अतः उसे स्वप्न में भी हिंसा का ही दर्शन होता है, इसी प्रकार दुराचरण वाला व्यक्ति निर्मल ध्यान के स्थान में मलिन मनोवृत्ति को

प्राप्त कर कुगति के कारण दुर्ध्यान को प्राप्त करता है। समंतभद्रस्वामी ने ध्यान या समाधि के पूर्व त्याग आवश्यक कहा है। उसके लिए इंद्रिय दमन आवश्यक है क्योंकि उसके पूर्व में करुणा पूर्ण जीवन आवश्यक है। इस कथन का भाव यह है कि सर्व प्रथम जीवन में जीवदया की अवस्थिति आवश्यक है। उसके होते हुए भी कार्यसिद्धि के लिये संयम तथा त्याग-पूर्ण जीवन चाहिए। दया दम और त्याग के द्वारा समाधि अर्थात् ध्यान की पात्रता आती है। इस आर्षवाणी से उन शंकाकारों का समाधान होता है, जिनका जीवन हीनाचरण युक्त है और जो अपने को ध्यान करने में असमर्थ पाते हैं। जीवन शुद्धि पूर्वक मानसिक शुद्धि होती है। तत्पश्चात् ध्यान की बात सोची जा सकती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

महापुराणकार जिनसेन स्वामी ध्यान के विषय में कहते हैं :—

> यत्कर्मक्षपणे साध्ये साधनं परमं तपः ।
> तत्ध्यायनाह्वयं सम्यग् अनुशास्मि यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

हे राजन्! जो कर्म क्षपण रूप साध्य का मुख्य कारण है, ऐसे ध्यान नाम के श्रेष्ठ तपका मैं आगम के अनुसार तुम्हें उपदेश देता हूँ।

> स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम् ।
> सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥ ९ ॥

एक ओर चित्त का स्थिर होना ध्यान है। जो चंचलतापूर्ण मनोवृत्ति है, वह अनुप्रेक्षा, चिन्ता अथवा भावना है।

> योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः ।
> अंतः संलीनता चेति तत्पर्याया स्मृता बुधैः ॥१२॥

योग, ध्यान, समाधि, धी का रोध अर्थात् विचारों को रोकना स्वान्त अर्थात् मन का निग्रह तथा अन्तः संलीनता अर्थात् आत्मनिमग्नता ये ध्यान के पर्याय शब्द हैं, ऐसा बुधजन मानते हैं।

यह जीव अपनी अनादिकालीन दुर्वासना के कारण आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान के कारण अपना दुःखपूर्ण मलिन भविष्य बनाता चला आ रहा है। उसे अपनी मनोवृत्ति को उर्ध्वगामिनी बनाने के हेतु महान उद्योग, श्रेष्ठ त्याग और अपूर्व साधना करनी होगी। मनोजय के माध्यम से उच्च ध्यान की साधना सम्पन्न होती है। चित्त की शुद्धि के लिए महापुराणकार ने तत्त्वार्थ की भावना को उपयोगी कहा है, क्योंकि उससे विचारों में विशुद्धता आती है जिसके द्वारा विशुद्ध ध्यान की उपलब्धि होती है। उन्होंने कहा है—

संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत् ।
रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बंधं दुर्मोचमश्नुते ॥२१-२५॥म. पु.

संकल्प-विकल्प के वशीभूत हुआ अज्ञानी जीव वस्तुओं में प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है। उससे राग-द्वेष अर्थात् 'पेज्ज-दोष' पैदा होते हैं। राग-द्वेष से कठिनता से छूटने वाले कर्मों का बंध होता है।

इसलिए यह आवश्यक है कि यह जीव सदाचार और संयम का शरण ग्रहण कर राग और द्वेष को न्यून करने में सफल - प्रयत्न हो। इस मलिनता के दूर होने पर आत्मदर्शन होने के साथ आत्मा की उपलब्धि भी हो जाएगी।

<u>कषाय क्षय का उपाय</u>—कषाय रूप, शत्रुओं का क्षय करने के

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लिए क्षमा, मार्दव, सत्य, संयम, तप, त्याग आदि आत्मगुणों का आश्रय लेना आवश्यक है। मूलाचार में लिखा है कि मूल से उखड़े हुए वृक्ष की जिस प्रकार पुनः उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कर्मों के मूल क्रोधादि कषायों का क्षय होने पर पुनः कर्म की परंपरा नहीं चलती। आचार्य कुन्दकुन्द ने मूलाचार में लिखा है :—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥११६-८॥

इन्द्रिय-विजेता महामुनि ध्यान तथा शुद्धोपयोग के द्वारा राग और द्वेष का क्षय कर क्षीण-मोह होते हुए कर्मों का क्षय करते हैं।

अभिवंदना—अन्त में हम महाश्रमण भगवान महावीर, गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य तथा जम्बू स्वामी का तथा श्रुतकेवली आदि महाज्ञानी आगमवेत्ता मुनीन्द्रों को सविनय प्रणाम करते हुए जयधवलाकार जिनसेन स्वामी के शब्दों में परमपूज्य गुणधराचार्य को प्रणाम करते हैं :—

जे णिह कसाय-पाहुड-मणेय-णय-मुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहर-भडारयं वंदे ॥

मैं उन गुणधर भट्टारक को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने अनेक नयों के द्वारा उज्ज्वल तथा अनन्त अर्थपूर्ण कषायपाहुड को गाथाओं में निबद्ध किया।

श्री चंद्रप्रभु
[illegible] पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

ॐ

सिरि-भगवंत-गुणहर-भडारओविइट्ठस्स

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कसायपाहुड-सुत्तस्स टीका

अनंत-सुख-संपन्नं ज्ञान-ज्योति-विराजितं ।
निर्मलं निष्कलंकं च तीर्थनाथं नमाम्यहम् ॥१॥

वर्धमानं जिनं नत्वा गौतमं गुणधरं तथा ।
कसाय-पाहुडसुत्तस्य लघुटीकां करोम्यहम् ॥२॥

कसाय पाहुड सुत्त

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
पेज्जंति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥१॥

ज्ञानप्रवाद नाम के पंचम पूर्व के भेद दशमी वस्तु में पेज्जपाहुड नाम का तीसरा अधिकार है, उससे यह कसायपाहुड उत्पन्न हुआ है।

विशेष—'पूर्व' शब्द दिशा, कारण तथा शास्त्रका वाचक है, किन्तु यहाँ 'पयरणवसेण एत्थ सत्थवाचओ घेत्तव्वो' (पृष्ठ ३, ताम्र पत्र प्रति) प्रकरण के वशसे शास्त्र वाचक अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

'वत्थु' शब्द भी अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है, किन्तु यहां 'वत्थुसद्दो सत्थवाचओ घेत्तव्वो'-वस्तु शब्द को शास्त्र वाचक ग्रहण करना चाहिये। 'पेज्ज सद्दो पेज्जदोसाणं दोण्हंपि वाचओ सुप्पसिद्धो वा' पेज्ज शब्द पेज्ज और दोस दोनों का वाचक सुप्रसिद्ध है। 'पेज्ज' प्रेय अथवा राग का वाचक है तथा 'दोस' द्वेष का वाचक है। राग और द्वेष को कषाय शब्द द्वारा कहा जाता है। पेज्जपाहुड से कषाय पाहुड (प्राभृत) शास्त्र उत्पन्न हुआ।

शंका—जब पेज्ज और कषाय में अभिन्नता है, तब उनमें उत्पाद्य और उत्पादक भाव किस प्रकार संभव है?

समाधान—उपसंहार्य और उपसंहारक में कथंचित् भेद पाया जाता है, इस अपेक्षा से पेज्जपाहुड के उपसंहार रूप कषाय पाहुड में कथंचित् भिन्नता मानना उचित है।

द्वादशांग जिनागम का द्वादशम भेद दृष्टिवाद अंग है। उसके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका पंच भेद कहे गए हैं।

परिकर्म में चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति पांच अर्थाधिकार हैं। दूसरे भेद सूत्र में अठासी अर्थाधिकार हैं। उनके नामों का परिज्ञान असंभव है। आचार्य कहते हैं 'ण तेसिं णामाणि जाणिज्जंति संपहि विसिट्ठुवएसाभावादो'–उनके नामों का परिज्ञान नहीं है, इस समय उनके विषय में विशिष्ट उपदेश का सद्भाव नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह सूत्र नाम का अर्थाधिकार तीन सौ त्रेसठ मतों का वर्णन करता है। जीव अबंधक ही है, अवलेपक ही है, निर्गुण ही है, अभोक्ता ही है, सर्वगत ही है, अणुमात्र ही है, निश्चेतन ही है, स्वप्रकाशक ही है, पर प्रकाशक ही है, नास्ति स्वरूप ही है; इत्यादि रूप से नास्तिवाद, क्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, और वैनयिक-वाद का तथा अनेक एकान्तवादों का इस सूत्र में वर्णन किया गया है।

प्रथमानुयोग तीसरे अधिकार में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण के पुराणों का, जिनेन्द्र भगवान, विद्याधर, चक्रवर्ती, चारणऋद्धिधारी मुनि और राजा आदि के वंशों का वर्णन किया गया है। इसके चौबीस अर्थाधिकार हैं। चौबीस तीर्थंकरों के पुराणों में समस्त पुराणों का अंतर्भाव हो जाता है–'तित्थयरपुराणेसु सव्वपुराणाणमंतब्भावादो'।

पूर्वगत नामक चतुर्थ अर्थाधिकार में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आदि रूप विविध धर्मयुक्त पदार्थों का वर्णन किया गया है। इसके चौदह भेद इस प्रकार कहे गए हैं:–उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति-प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान–प्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावायप्रवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाद के द्वादश अर्थाधिकार हैं। प्रत्येक अर्थाधिकार के बीस, बीस अर्थाधिकार हैं, जिन्हें प्राभृत कहते हैं। प्राभृत संज्ञावाले अर्थाधिकारों में से प्रत्येक

अर्थाधिकार के चतुर्विंशति अनुयोगद्वार नाम के अर्थाधिकार कहे गए हैं। कषायप्राभृत [illegible] पुण कसायपाहुडस्स पयदस्स पण्णारस अत्थाहियारा।" (पृष्ठ २८)

पंचम भेद चूलिका के जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता रूप पांच भेद कहे गए हैं।

जलगता चूलिका जल-स्तंभन, जल में गमन के कारण रूप मंत्र, तंत्र, तपश्चरण, अग्नि स्तंभन, अग्निभक्षण, अग्नि पर आसन लगाना, अग्नि पर तैरना आदि क्रियाओं के कारण, स्वरूप, प्रयोगों का वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका पर्वत, मेरु, पृथ्वी आदि पर चपलतापूर्वक गमन के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है। मायागता चूलिका महान इंद्रजाल का वर्णन करती है। रूपगता चूलिका सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, मनुष्य, वृक्ष, खरगोश आदि का रूप धारण करने की विधि का तथा नरेन्द्रवाद का 'णरिंदवायं च' वर्णन करती है। आकाश में गमन के कारण मंत्र, तंत्र तथा तपश्चरण का वर्णन आकाशगता चूलिका में किया गया है।

कषाय के स्वरूप पर आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥ २८२ ॥ गो. जी.

जिस कारण सुख, दुःख रूप बहु प्रकार के तथा संसार रूप सुदूर मर्यादा युक्त ज्ञानावरणादि रूप कर्म क्षेत्र (खेत) का कर्षण (हलादि द्वारा जोतना आदि) किया जाता है, इस कारण इसे कषाय कहते हैं।

क्रोधादि कषाय नाम का सेवक मिथ्या दर्शन आदि संक्लेश भाव रूप बीज को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध लक्षण

कर्मरूप क्षेत्र में बोता हुआ कालादि सामग्री को प्राप्तकर सुख दुःख रूप बहुविध धान्यों को प्राप्त करता है। इस कर्म क्षेत्र की अनादि अनंत पंच परावर्तन संसार रूप सीमा है। यहां [कृषन्तीति कषायः] इस प्रकार निरुक्ति की गई है।

वास्तव में इस जीव के संसार में परिभ्रमण का मुख्य कारण कषायभाव है। इस ग्रंथ का प्रमेय कषाय के विषय में पेज्जपाहुड के अनुसार प्रतिपादन करना है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्य परमागम के ग्रंथों के प्रारंभ में मंगलाचरण की परंपरा पाई जाती है; किन्तु इस कषाय-प्राभृत सूत्र के आरंभ में मंगल-स्मरण की परिपाटी का परिपालन नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने जयधवला टीका में महत्वपूर्ण चर्चा करते हुए कहा है :—

शंका—गुणधर भट्टारक ने गाथा सूत्रों के प्रारम्भ में तथा चूर्णिकार यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णिसूत्रों के आदि में क्यों नहीं मंगल किया?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। प्रारब्ध कार्य के विघ्नों के क्षय हेतु मंगल किया जाता है। यह विघ्न-विनाश रूप कार्य परमागम के उपयोग द्वारा भी संपन्न होता है। यह बात असिद्ध नहीं है। शुभ और शुद्ध भावों से कर्मक्षय को न मानने पर कर्मों के क्षय का अभाव नहीं बनेगा। कहा भी है :—

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभय-वज्जिओ होइ ॥

औदयिक भाव बंध के कारण हैं। उपशम भाव, क्षायिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक भाव न बंध का कारण है, न मोक्ष का कारण है।

इस कारण ग्रंथ रचना में उपयुक्त ग्रंथकार के विशुद्ध परिणामों के द्वारा यही कार्य सम्पन्न होता है, जिसके लिए शास्त्र के आरम्भ में मंगल रचना की जाती है। वीरसेन स्वामी ने कहा है "विसुद्धणयाहिप्पाएण गुणहर–जइवसहेहि ण मंगलं कदं त्ति दट्ठव्वं"— शुद्ध नय के अभिप्राय से गुणधर आचार्य तथा यतिवृषभ ने मंगल नहीं किया यह जानना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका:—[1] व्यवहार नय का आश्रय लेकर गौतम गणधर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के आरम्भ में मंगल किया है।

समाधान—व्यवहार नय असत्य नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार नय का अनुकरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसका आश्रय लेना चाहिये, ऐसा मन में निश्चयकर गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के प्रारम्भ में मंगल किया है।

शंका:—पुण्य कर्म का बंध करने की कामना करने वाले देशव्रती श्रावकों को मंगल करना उचित है, किन्तु कर्मों के क्षय की इच्छा करने वाले मुनियों के लिए वह उचित नहीं है।

समाधान—यह ठीक नहीं है। पुण्य बंध के कारणों में श्रावकों तथा श्रमणों की प्रवृत्ति में अन्तर नहीं है। ऐसा न मानने पर

१—ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो ववहारणयाणुसारि सिस्साण पउत्ति दंसणादो। जो बहुजीव-अणुग्गहणकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं। पुण्णकम्म-बंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलं करणं जुत्तं, ण मुणीणं कम्मक्खय-कंखुवाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, पुण्णबन्ध-हेउत्तं पडि विसेसाभावादो। मंगलस्सेव सरागसंजमस्स वि परिच्चागप्पसंगादो परमागमसुवजोगम्मि णियमेण मंगल-फलोवलंभादो, एदस्स अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहर–भडारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कयं (ताम्र पत्र प्रति पृष्ठ २)

मंगल के त्याग के समान सराग संयम के परित्याग का भी प्रसंग आयगा, क्योंकि सराग संयम के द्वारा भी पुण्य का बन्ध होता है। सराग संयम का परित्याग करने पर मुक्तिगमन का अभाव हो जायगा। परमागम में उपयोग लगाने पर नियम से मंगल का फल प्राप्त होता है। इस विशिष्ट अर्थ को अवगत कराने के उद्देश्य से गणधर भट्टारक ने ग्रंथ के प्रारंभ में मंगल नहीं किया—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इंद्रभूति गौतम गणधर ने सोलह हजार मध्यम पदों के द्वारा कषाय प्राभृत का प्रतिपादन किया। एक पद में कितने श्लोकों का समावेश होता है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है :—

कोडि इकावन आठहिं लाखं।
सहस चौरासी छह सौ भाखं।
साढ़े इक्कीस श्लोक बताये।
एक एक पद के ये गाए।

एक पद के पूर्वोक्त श्लोकों में सोलह हजार का गुणा करने पर जो संख्या उत्पन्न होती है, उतने श्लोक प्रमाण रचना गणधर देव ने की थी, उसका उपसंहार करके इस रचना के प्रमाण के विषय में गुणधर भट्टारक कहते हैं—

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥ २ ॥

इस ग्रंथ में एक सौ अस्सी गाथासूत्र हैं, जो पंचदश अर्थाधिकारों में विभक्त हैं। जिस अर्थाधिकार में जितनी सूत्र गाथाएँ प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा।

विशेष :—यहां ग्रंथकार ने स्वरचित गाथाओं को 'गाहासुत्त' गाथा सूत्र कहा है। इस सम्बन्ध में शंकाकार कहता है :—

शंका :—गुणधर भट्टारक गणधर नहीं है, प्रत्येक-बुद्ध, श्रुतकेवली, अभिन्नदशपूर्वी भी नहीं हैं। उनकी रचना को सूत्र नहीं कहा जा सकता है। सूत्र का लक्षण इस प्रकार कहा गया है :—

सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्ध-कहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदस-पुव्वि-कहियं च।

जो गणधर के द्वारा कहा गया है, प्रत्येक बुद्ध द्वारा कहा गया है, श्रुतकेवली के द्वारा कहा गया है तथा अभिन्नदशपूर्वी के द्वारा कहा गया है, वह सूत्र है।

समाधान—निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्व गुणों से विशिष्ट होने के कारण गणधर भट्टारक रचित गाथाओं को सूत्र मानना उचित है। सूत्र का यह लक्षण भी प्रसिद्ध है :—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

[अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्‌ गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥

जो अल्प अक्षर युक्त हो; असंदिग्ध हो, सारपूर्ण हो, गंभीरनिर्णय पूर्ण हो, निर्दोष हो, युक्तिपूर्ण हो तथा वास्तविकता युक्त हो, उसे बुद्धिमानों ने सूत्र कहा है।]

शंका (१)—सूत्र का यह लक्षण जिनेन्द्र भगवान के मुख-कमल से विनिर्गत अर्थ पदों में ही घटित होता है। गणधर देव के मुख से विनिर्गत ग्रंथ रचना में यह लक्षण नहीं पाया जाता, क्योंकि गणधर की रचना में महान परिमाण पाया जाता है।

---

१. एदं सव्वंपि सुत्त-लक्खणं जिण-वयण-कमल-विणिग्गयअत्थ-पदाणं चेव संभवइ। ण गणहरमुह-विणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणुत्तवलंभादो।

ण, सच्च (सुत) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडि-विरोहाभावादो। (पृष्ठ २९)

समाधान—ऐसा नहीं है। उनके वचन सूत्र के सदृश हैं, अतः उनके सूत्रपने में कोई बाधा नहीं आती। इस कारण द्वादशांग वाणी भी सूत्र मानी गई है।

पेज्ज-दोस-विहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेव।
तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥ ३ ॥

प्रेयो-द्वेष-विभक्ति, स्थिति-विभक्ति, अनुभाग विभक्ति, अकर्मबंध की अपेक्षा बंधक, कर्मबंध की अपेक्षा बंधक, कर्मबंध की अपेक्षा संक्रमण इन पंच अर्थाधिकारियों में तीन तीन गाथाएं निबद्ध जानना चाहिए।[1]

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ।
सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥ ४ ॥

वेदक नामके छठवें अधिकार में चार सूत्र गाथा हैं। उपयोग नामके सातवें अधिकार में सात सूत्र गाथा हैं। चतुःस्थान नामके आठवें अधिकार में सोलह सूत्र गाथा हैं तथा व्यंजन नामके नवम अधिकार में पंच सूत्र गाथा हैं।

दंसणमोहस्सुवसामणाए पण्णारस होंति गाहाओ।
पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥ ५ ॥

दर्शनमोह की उपशामना नामके दशम अधिकार में पंचदश गाथा हैं। दर्शनमोह की क्षपणा नामके एकादशम अधिकार में पंच ही सूत्र गाथा हैं।

लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स।
दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥ ६ ॥

---

१. 'बंधग' इत्ति चउत्थो अकम्मबंधग्गणादो। पुणो वि 'बंधगे' त्ति आवित्तीए कम्मबंधग्गहणादो पंचमो अत्थाहियारो (पृ० २९)

संयमासंयम की लब्धि द्वादशम अधिकार तथा चारित्रकी लब्धि त्रयोदशम अधिकार इन दो अधिकारों में एक ही गाथा है। चारित्र मोहकी उपशामना चतुर्दश अधिकार में आठ गाथा हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकमाए वि चत्तारि।
ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए॥ ७॥

चारित्रमोह की क्षपणा के प्रस्थापक के विषय में चार गाथा हैं। चारित्रमोह के संक्रमण से प्रतिबद्ध चार गाथा हैं। चारित्रमोह की अपवर्तना में तीन गाथा हैं। चारित्रमोह की क्षपणा में जो द्वादश कृष्टि हैं, उनमें एकादश गाथा हैं।

चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स।
एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण॥ ८॥

कृष्टियों की क्षपणामें चार गाथा हैं। क्षीण मोह के विषय में एक गाथा है। संग्रहणी के विषयमें एक गाथा है। इस प्रकार चारित्र-मोहकी क्षपणा अधिकार में समुदाय रूप से अट्ठाईस गाथा हैं।

किट्टीकय-वीचारे संगहणी खीणमोहपट्ठवए।
सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ॥ ९॥

कृष्टि संबंधी एकादश गाथाओं में वीचार सम्बन्धी एक गाथा, संग्रहणी सम्बन्धी एक गाथा, क्षीणमोह प्रतिपादक एक गाथा, चारित्र मोह की क्षपणा के प्रस्थापक से संबद्ध चार गाथा ये सात गाथाएं सूत्र गाथा नहीं हैं। इनके सिवाय शेष इक्कीस गाथा सभाष्य गाथा अर्थात् सूत्र गाथा हैं।[१]

---

१. 'किट्टीकयवीचारे' त्ति भणिदे एक्कारसण्हं किट्टिगाहाणं मज्झे एक्कारसमी वीचारमूलगाहा एक्का। 'संगहणी' त्ति भणिदे संगहणिगाहा एक्का घेतव्वा। 'खीणमोह' इत्ति भणिदे

विशेष—जो गाथाएं भाष्य गाथाओं के साथ पाई जाती हैं, अर्थात् जिन गाथाओं का स्वरुप स्पष्ट करनेवाली भाष्यरुप गाथाएं हैं, उन्हें सभाष्य गाथा कहा गया है—"सह भाष्यगाथाभिर्वर्तन्ते इति सभाष्यगाथा इति सिद्धम्" (पृ० २३) यहाँ इक्कीस गाथाओं को सूत्र गाथा माना गया है, क्योंकि उनमें सूत्र का यह लक्षण पाया जाता है।

अर्थस्य सूचनात् सम्यक् सूतेनार्थस्य सूरिणा।
सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्वतः॥

जो अच्छी तरह अर्थ को सूचित करे, अर्थ को जन्म दे, उस महान अर्थों से गर्भित सूचना को सूत्रकार आचार्य ने तत्वतः सूत्र कहा है।

संकामण-ओवट्टण-किट्टी-खवणाए एक्कवीसं तु।
एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ ॥१०॥

(२) चरित्रमोह की क्षपणा नामक अर्थाधिकार के अंतर्गत संक्रमण सम्बन्धी चार गाथा, अपवर्तना विषयक तीन गाथा, कृष्टि संबंधी दस गाथा, कृष्टि क्षपणा संबंधी चार गाथा हैं। ये सब मिलाकर इक्कीस सूत्र गाथा हैं। अन्य भाष्यगाथा हैं। उन्हें सुनो।

खीणमोहगाहा एक्का घेत्तव्वा। 'पट्ठवए' त्ति भणिदे चत्तारि पट्ठवणगाहाओ घेत्तव्वाओ। 'सत्तेदा गाहाओ' त्ति भणिदे सत्तेदा गाहाओ सुत्तगाहाओ ण होंति।

२. ताओ एक्कवीस सभास-गाहाओ कत्थ होंति त्ति भणिदे भणइ संकामण-ओवट्टण-किट्टी-खवणाए होंति। तं जहा, संकमणाए चत्तारि ४, ओवट्टणाए तिण्णि ३, किट्टीए दस १०, खवणाए चत्तारि ४ गाहाओ होंति। एवमेदाओ एक्कदो कदे एक्कवीस भासगाहाओ २१। एदाओ सुत्तगाहाओ।

पंच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य।
चत्तारि य तिण्णि उभे पंच य एक्कं तह य छक्कं ॥११॥
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च।
दो पंचेव य एक्का अण्णा चिक्का [illegible] २

इक्कीस सूत्र गाथाओं की भाष्य रूप गाथाओं की संख्या पांच, तीन, दो, छह; चार, तीन, तीन, एक, चार, तीन, दो, पांच, एक, छह, तीन, चार, दो, चार, चार, दो, पाच, एक, एक, दस और दो, इस प्रकार छ्यासी गाथाएं हैं।

विशेष—इनमें इक्कीस सूत्र गाथा, सात असूत्र गाथा को जोड़ने पर चारित्रमोह के क्षपणा-अधिकार में निबद्ध गाथाओं की संख्या (२१ + ७ + ८६ = ११४) एकसौ चौदह होती है। इनमें चौदह अधिकार सम्बन्धी चौसठ गाथाओं को जोड़ने पर एक सौ अठहत्तर (११४ + ६४ = १७८) गाथाए होती हैं।

अब कषाय पाहुड के पंचदश अर्थाधिकारों का प्रतिपादन करने के लिए गुणधर भट्टारक दो सूत्रगाथाओं को कहते हैं :—

पेज्ज-दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्त-देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धा-परिमाण णिद्देसो ॥ १४ ॥

दर्शन और चारित्र मोह के सम्बन्ध में (१) प्रेयोद्वेष-विभक्ति (२) स्थिति-विभक्ति (३) अनुभाग विभक्ति (४) अकर्मबन्ध की अपेक्षा बंधक (५) कर्मबंधक की अपेक्षा बंधक (६) वेदक (७) उपयोग (८) चतुःस्थान (९) व्यंजन (१०) दर्शनमोहकी उपशामना (११) दर्शनमोहकी क्षपणा [१२] देशविरति [१३] संयम [१४] चारित्र मोहकी उपशामना [१५] चारित्रमोहकी क्षपणा ये पंद्रह अर्थाधिकार हैं। इन समस्त अधिकारों में अद्धापरिमाण का निर्देश करना चाहिये।

विशेष :—(१) पूर्वकथित १७८ गाथाओं में तेरहवीं और चौदहवीं गाथाओं को जोड़ने पर १८० गाथा होती हैं, जिनका उल्लेख ग्रंथकार ने दूसरी गाथामें किया था। इनमें द्वादश सम्बन्ध गाथा, श्रद्धापरिमाण का निर्देश करने को कही गई छह गाथा, प्रकृति संक्रम में आई पैंतीस वृत्ति गाथाओं को जोड़ने पर [१७८ + २ + १२ + ६ + ३५ = २३३] दो सौ तेतीस गाथाएँ होती हैं।[१]

चौदहवीं गाथामें 'दंसण-चरित्तमोहे पद पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वीरसेनने कहा है 'पूर्वोक्त पंचदश अधिकार दर्शन और चारित्र मोहके विषय में होते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। "एदेण एत्थ कसायपाहुडे सेस-सत्तण्हं कम्माणं परूवणा णत्थि त्ति भणिदं होदि"—इस कथनसे यह भी बात विदित होती है कि इस कषायप्राभृत में मोहनीय को छोड़ शेष सात कर्मों की प्ररूपणा नहीं है।

'पेज्जदोस' अर्थात् राग और द्वेष का लक्षण जीव के भाव का विनाश करना है; इससे उन दोनों को कषाय शब्द द्वारा कहा जाता है। कषाय का निरूपण करने वाला प्राभृत [शास्त्र] कषायपाहुड है। (२) यह कषाय—प्राभृत संज्ञा नय की अपेक्षा उत्पन्न हुई है। यह संज्ञा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षासे है। यदि यह संज्ञा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न मानी जाय, तो पेज्ज और दोस इन दोनों का एक कषाय शब्द के द्वारा एकीकरण नहीं किया जा सकता है।

---

१. तासिं पमाणमेदं १८०। पुणो एत्थ बारह संबंधगाहाओ, (१२; अद्धापरिमाणणिद्देसणट्ठं भणिद-छ-गाहाओ ६, पुणो पयडि-संकम्मि संकमउवक्कमविही० एस गाहाप्पहुडि पणतीसं संकमवित्तिगाहाओ च ३५। पुव्विल्ल असीदिसयगाहासु पक्खित्ते गुणहराइरिय-मुहकमलविणिग्गय-सव्वगाहाणं समासो तेत्तीसाहिय-बेसदमेत्तो होदि २३३।

२. एसा सण्णा णयदो णिप्पण्णा। कुदो ? दव्वट्ठियणय-मवलंबिय-समुप्पण्णत्तादो।

श्री चंद्रप्रभु ... ग्रंथमाला ... बुलढाणा

प्राभृत शब्द की निरुक्ति करते हुए जयधवलाकार कहते हैं, "प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्"—श्रेष्ठ तीर्थंकर के द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित प्राभृत है। दूसरी निरुक्ति इस प्रकार है, "प्रकृष्टैराचार्यैः विद्या-वित्त-वद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति प्राभृतम्"-विद्याधन युक्त महान् आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है, व्याख्यान किया गया है अथवा परंपरारूप से लाया गया है, वह प्राभृत है।

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आचार्य कहते हैं [illegible] तम्हा पाहुडं"—यह पदों से अर्थात् मध्यमपद और अर्थ पदों से स्फुट अर्थात् स्पष्ट है, इससे इसे पाहुड कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१ कषाय पर भिन्न २ नयों की अपेक्षा दृष्टि डालने पर उसका अभिधेय विविध रूपता को प्राप्त करता है। नैगम, संग्रह, व्यवहार तथा ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा क्रोधादि कषायों का वेदन करने वाला जीव कषाय है, कारण जीव को छोड़कर अन्यत्र कषायों का सद्भाव नहीं पाया जाता।

शब्दनय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये कषाय हैं। इन तीन नयों की दृष्टि से क्रोधादिरूप भाव रूप कषायों से भिन्न द्रव्यकर्म कषाय नहीं है। जीव भी कषाय नहीं है। शब्दादि नय त्रय का विषय द्रव्य नहीं है।

वीरसेन स्वामी कहते हैं "कसायविसयं सुदणाणं कसाओ, तस्स पाहुडं कसायपाहुडं"—कषाय को विषय करने वाला श्रुतज्ञान कषाय है। उसका शास्त्र कषाय पाहुड है।

अब अद्धा परिमाण का प्रतिपादन करते हैं :—

---

१. णेगम-संगह-ववहार-उज्जुसुदाणं जीवस्स कसाओ। कुदो ? जीवकसायाणं भेदाभावादो। तिण्हं सद्दणयाणं ण कस्स वि कसाओ। भावकसाएहि वदिरित्तो जीव-कम्म-दव्वाणमभावादो (पृष्ठ ६५)

आवलिय अणायारे चक्खिदिय-सोद-घाण-जिब्भाए ।
मण-वयण-काय-पासे अवाय-ईहा-सुदुस्सासे ॥१५॥

अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग का जघन्य काल संख्यात आवली प्रमाण है। इससे विशेषाधिक चक्षु इंद्रियावग्रह का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक श्रोत्रावग्रह का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक घ्राण का जघन्य अवग्रह काल है। इससे विशेषाधिक रसनावग्रह का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक मनोयोग का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक वचन योग का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक काययोग का जघन्य काल है।

इससे विशेषाधिक स्पर्शन इंद्रिय का जघन्य अवग्रह काल है। इससे विशेषाधिक किसी भी इंद्रिय से उद्भूत अवाय का जघन्य-काल है। इससे विशेषाधिक ईहाज्ञान का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक श्रुतज्ञान का जघन्य काल है। इससे विशेषाधिक श्वासोच्छ्‌वास का जघन्य काल का है।

विशेष—अवाय ज्ञान दृढात्मक है। इस कारण अवाय में धारणा ज्ञान का भी अंतर्भाव किया गया है। 'आवलिय' पद अनेक आवलियों का बोधक है। इस पद के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अल्पबहुत्व के समस्त स्थानों के काल का प्रमाण मुहूर्त, दिवस आदि नहीं है।

'अनाकार' शब्द दर्शनोपयोग का वाचक है—'उवजोगो अणायारो णाम, दंसणुवजोगो त्ति भणिदं होदि' (६८) १. चक्षु-इंद्रिय शब्दसे चक्षुइंद्रिय जनित ज्ञान को जानना चाहिये, यहां कार्य में कारण का उपचार किया है। ज्ञान कार्य है तथा इंद्रिय उस ज्ञान में कारण है। यहां ज्ञानरूप कार्य में कारण रूप इंद्रिय का उपचार किया गया है। आगे ईहा और अवाए ज्ञान का उल्लेख होने से यहां अवग्रह ज्ञान का ग्रहण करना चाहिये। विशेषाधिक का

---

१. चक्खिदियं च उत्ते चक्खिदियजणिद-णाणस्स गहणं। कुदो कज्जे कारणोवयारादो [६८]

[illegible] सव्वत्थ संखेज्जा–वलियाओ"—विशेष का प्रमाण सर्वत्र संख्यात आवली है।

शंका—'तं कथं णव्वदे' ? यह कैसे जाना ?

समाधान—'गुरुवदेसादो'—यह गुरुओं के उपदेशसे ज्ञात हुआ है।

शंका—मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का जघन्यकाल एक समय मात्र भी पाया जाता है, उसका यहां क्यों नहीं ग्रहण किया गया ?

समाधान—१ निर्व्याघात रूप अवस्था में अर्थात् मरण आदि व्याघात रहित अवस्था में मन, वचन तथा काय योग का जघन्य काल एक समय मात्र नहीं पाया जाता है।

२ दर्शनोपयोग का विषय अन्तरंग पदार्थ है। यदि ऐसा न माना जाय, तो वह अनाकार नहीं होगा।

शंका—अनाकार ग्रहण का अर्थ अव्यक्त ग्रहण मानने में क्या बाधा है ?

समाधान—ऐसा मानने पर केवलदर्शन का लोप हो जायगा, क्योंकि आवरण रहित होने से केवलदर्शन का स्वभाव व्यक्त ग्रहण करने का है।

प्रश्न—श्रुतज्ञान का क्या अर्थ है ?

---

१ णिव्वाघादेण मरणादिवाघादेण विणा घेत्तव्वाओ त्ति भणिदं होदि [७२]

२ अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो। तं कथं णव्वदे ? अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो। अवत्तग्गहणमणायारग्गहणमिदि किण्ण घिप्पदे ? ण एवं संते केवल–दंसण–णिरावरण–त्तादो वत्तग्गहण–सहावस्स अभावप्पसंगादो [६९]

समाधान--श्रुतज्ञान की परिभाषा इस प्रकार है, "मदिणाण-परिच्छिण्ण-त्थादो पुधभूदत्थावगमो सुदणाणं"--मतिज्ञान के द्वारा जाने गए पदार्थ से भिन्न पदार्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। वह शब्दलिंगज और अर्थ लिंगज के भेद से दो प्रकार का है। शब्द लिंगज के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद हैं। सामान्य पुरुष के वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए शब्द से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। धूमादि पदार्थ रूप लिंग से उत्पन्न अर्थलिंगज श्रुतज्ञान को अनुमान कहा गया है।

केवलदंसण-णाणे कसाय-सुक्केक्कए पुधत्ते य।
पडिवादुवसामेंतय-खवेंतए संपराए य ॥ १६ ॥

तद्भवस्थकेवली के केवलदर्शन और केवलज्ञान का काल तथा सकषाय जीव की शुक्ललेश्या का काल समान होते हुए भी इनमें से प्रत्येक का काल श्वासोच्छ्वास के जघन्य काल से विशेषाधिक है। इन तीनों के जघन्यकालसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान का जघन्य काल विशेषाधिक है। पृथक्त्ववितर्क वीचार का जघन्य काल विशेषाधिक है। उपशमश्रेणीसे पतित सूक्ष्मसांपरायिक का जघन्य काल विशेषाधिक है। उपशम श्रेणी पर चढ़नेवाले सूक्ष्मसांपरायिक का जघन्य काल विशेषाधिक है। क्षपकश्रेणीगत सूक्ष्मसांपरायिक का जघन्यकाल विशेषाधिक है।

विशेष--शंका--केवलदर्शन तथा केवलज्ञान का काल केवली सामान्य की अपेक्षा से न कहकर तद्भवस्थ केवली की अपेक्षा कहा गया है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान--केवलदर्शन और केवलज्ञान का जघन्य काल श्वासोच्छ्वास के जघन्य काल से विशेष अधिक कहा है। इस कथन से प्रतीत होता है कि यह प्रतिपादन तद्भवस्थ केवली की अपेक्षा

किया गया है। उपसर्ग सहित केवली में ही यह कथन सुघटित होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज से एकत्ववितर्क अवीचार [१] तथा पृथक्त्ववितर्कवीचार रूप शुक्लध्यानों का ग्रहण किया गया है।

उपशमश्रेणी से गिरनेवाला प्रतिपात सांपरायिक, उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाला सूक्ष्मसांपरायिक संयमी उपशामक-सांपरायिक तथा क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाला सूक्ष्मसांपरायिक क्षपक-सूक्ष्मसांपरायिक कहा जाता है।

माणद्धा कोहद्धा मायद्धा तहय चेव लोहद्धा।
खुद्दभवग्गहणं पुण किट्टीकरणं च बोद्धव्वा ॥१७॥

क्षपक सूक्ष्मसांपरायिक के जघन्य काल की अपेक्षा मान कषाय का जघन्य काल विशेषाधिक है। उससे विशेष अधिक क्रोध का जघन्य काल है। उससे विशेषाधिक माया कषाय का जघन्य काल है। उससे विशेषाधिक लोभ कषाय का जघन्य काल है। उससे विशेषाधिक क्षुद्रभवग्रहण का जघन्य काल है। उससे विशेषाधिक कृष्टिकरण का जघन्य काल है।

विशेष—क्षुद्रभव ग्रहण के जघन्य काल से विशेष अधिक काल कृष्टिकरण का कहा गया है। यह जघन्य कृष्टि लोभ के उदय के साथ क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले जीव के होती है। 'एसा लोहोदएण खवगसेढिं चडिदस्स होदि' (पृष्ठ ७१)

संकामण-ओवट्टण-उवसंतकसाय-खीणमोहद्धा ।
उवसामेंतय - अद्धा खवेंत - अद्धा य बोद्धव्वा ॥१८॥

कृष्टिकरण के जघन्य काल से संक्रामण का जघन्य काल विशेषाधिक है। उससे विशेषाधिक जघन्य काल अपवर्तन का है।

---

१ एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशांगादेरविचारोऽर्थ-व्यंजन-योगसंक्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं। पृथक्त्वेन भेदेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशांगादेर्वीचारोऽर्थ-व्यंजन-योगेषु संक्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानम् [७०]

उससे उपशांतकषाय का जघन्य काल विशेषाधिक है। उससे क्षीणमोह का जघन्य काल विशेषाधिक है। उससे उपशामक का जघन्य काल विशेषाधिक है। उससे क्षपक का जघन्य काल विशेषाधिक जानना चहिये।

विशेष—(१) अन्तरकरण कर लेने पर जो नपुंसकवेद का क्षपण है, उसे संक्रामण कहा है।

नपुंसकवेद का क्षपण होने पर अवशिष्ट नोकषायों के क्षपण को अपवर्तन कहा है।

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती को उपशान्तकषाय तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती को क्षीणकषाय कहा है।

उपशमश्रेणी पर आरोहण करने वाला जब मोहनीय का अन्तरकरण करता है, तब उसे उपशामक कहते हैं। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाला जब मोह का अन्तरकरण करता है तब उसे क्षपक कहते हैं।

णिव्वाघादेणेदा होंति जहण्णाओ आणुपुव्वीए।
एत्तो अणाणुपुव्वी उक्कस्सा होंति भजियव्वा ॥१९॥

पूर्वोक्त चार गाथाओं द्वारा प्रतिपादित अनाकार उपयोग आदि सम्बन्धी जघन्यकाल आनुपूर्वी क्रम से व्याघात रहित अवस्था में होता है। इससे आगे कहे जाने वाले उत्कृष्टकाल सम्बन्धी पदों को अनानुपूर्वी अर्थात् परिपाटी क्रम के बिना जानना चाहिए।

पूर्वोक्त पदों का उत्कृष्टकाल कहते हैं।

---

१ अंतरकरणे कए जं णवुंसयवेयक्खवणं तस्स 'संकामण' त्ति सण्णा णवुंसयवेए खविदे सेस-णोकसायक्खवणमोवट्टणं णाम। उवसमसेढिं चढमाणेण मोहणीयस्स अंतरकरणे कदे सो उवसामओ त्ति भण्णदि। खवयसेढिं चढमाणेण मोहणीयस्स अंतरकरणे कदे 'खवेंतओ त्ति भण्णदि [७१]

चक्खू सुदं पुधत्तं माणोवाओ तहेव उवसंते।
उवसामेंत य अद्धा दुगुणा सेसा हु सविसेसा ॥२०॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चक्षु इंद्रिय सम्बन्धी मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्व-वितर्कवीचार शुक्लध्यान, मानकषाय, अवाय मतिज्ञान, उपशान्त-कषाय और उपशामक के उत्कृष्ट कालों का परिमाण अपने से पूर्ववर्ती स्थान के काल से दुगुना है। उक्त पदों से शेष बचे स्थानों का उत्कृष्टकाल अपने से पहिले स्थान के काल से विशेषाधिक है।

विशेष—१ चारित्र मोह के जघन्य क्षपणाकाल के ऊपर चक्षुर्दर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इससे चक्षु-ज्ञानोपयोग का काल दूना है।

चक्षुज्ञानोपयोग के उत्कृष्ट काल से श्रोत्र ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल विशेषाधिक है। गाथा २० में आगत पद 'सेसा हु सविसेसा' से उपरोक्त अर्थ अवगत होता है।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट उपयोग काल अन्तर्मुहूर्त कहा है। इससे ज्ञात होता है कि उन दोनों की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती, किन्तु क्रमशः होती है। यदि केवल ज्ञान और केवल दर्शन की एक साथ प्रवृत्ति मानी जाती है, तो तद्भवस्थकेवली के केवलज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग काल कुछ कम पूर्व कोटिप्रमाण होना चाहिये, क्योंकि गर्भ लेकर आठ वर्ष काल के व्यतीत हो जाने पर केवल ज्ञान सूर्य की उत्पत्ति देखी जाती है—"देसूण पुव्वकोडिमेत्तेण होदव्वं, गब्भादिअट्ठवस्सेसु अइक्कंतेसु केवलणाणदिवायरस्सुग्ग- मुवलंभादो" [पृष्ठ]

समाधान—केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का एक साथ क्षय होता है, क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान में ज्ञानावरण,

---

१ मोहणीयजहण्ण-खवणद्धाए उवरि चक्खुदंसणुवजोगस्स उक्कस्सकालो विसेसाहियो, णाणुवजोगस्स उक्कस्स-कालो दुगुणो (पृ. ७२)

दर्शनावरण और अंतराय रूप तीन घातिया कर्म एक साथ क्षय को प्राप्त होते हैं, अतः केवलज्ञान और केवल दर्शन की उत्पत्ति एक साथ होती है। वीरसेन आचार्य कहते हैं" अक्कमेण विणासे संते केवलणाणेण सह केवलदंसणेण वि उप्पज्जेयव्वं, अक्कमेण, अविकलकारणे संते तेसिं कमुप्पत्तिविरोहादो"—केवलज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण का अक्रमपूर्वक क्षय होने पर केवलज्ञान के साथ केवलदर्शन भी उत्पन्न होना चाहिए। संपूर्ण कारण कलाप मिलने पर क्रमसे उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शन की एक साथ प्रवृत्ति कैसे संभव है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—"अंतरंगुज्जोवो केवलदंसणं, बहिरंगत्थविसओ पयासो केवलणाणमिदि इच्छियव्वं"—अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरंगपदार्थों को विषय करने वाला प्रकाश केवलज्ञान है; ऐसा स्वीकार कर लेना उचित होगा। ऐसी स्थिति में दोनों उपयोगों की एक साथ प्रवृत्ति मनाने में विरोध नहीं रहता है, क्योंकि उपयोगों की क्रमवृत्ति कर्म का कार्य है और कर्म का अभाव हो जाने से उपयोगों की क्रमवृत्ति का भी अभाव होता है।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त कैसे बन सकता है?

समाधान—सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा खाए जाने वाले जीवों में उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन के उत्कृष्ट काल का ग्रहण किया गया है। इससे इनका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल बन जाता है।

शंका—व्याघ्र आदि के द्वारा भक्षण किए जानेवाले जीवों के केवलज्ञान के उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक क्यों नहीं होता है?

श्री चंद्रप्रभु
... ग्रंथमाला
खामगांव जि. बुलडाणा

समाधान—नहीं, क्योंकि जो अपमृत्यु से रहित हैं, किन्तु जिनका शरीर हिंसक प्राणियों के द्वारा भक्षण किया गया है ऐसे चरम शरीरी जीवों के उत्कृष्ट रूपसे भी अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रहने पर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे ऐसे जीवों के केवलज्ञान का उपयोगकाल वर्तमान पर्याय की अपेक्षा अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता है।

शंका—(१) तद्भवस्थ केवलज्ञान का उपयोगकाल कुछ कम पूर्व कोटि प्रमाण पाया जाता है, अतः यहां अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल क्यों कहा गया ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—जिनका आधा शरीर जल गया है तथा जिनकी देह के अवयव जर्जरित किए गए हैं, ऐसे केवलियों का विहार नहीं होता, इस बात का परिज्ञान कराने के लिए यहां केवलज्ञान के उपयोग का उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त कहा है।

यहां उपसर्गादि को प्राप्त तद्भव केवली की विवक्षा की गई है।

पेज्जदोस विहत्ती नामके प्रथम अधिकार से प्रतिबद्ध गाथा को कहते हैं:—

पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहिं वा वि ॥२१॥

किस किस कषाय में किस नय की अपेक्षा प्रेय या द्वेष का व्यवहार होता है? कौन नय किस द्रव्य में द्वेष को प्राप्त होता है तथा कौन नय किस द्रव्य में प्रिय के समान आचरण करता है?

---

१ तब्भवत्थकेवलुवजोगस्स देसूणपुव्वकोडि-मेत्तकाले संते किमट्ठमेसो कालो परुविदो ? दड्ढद्धंगाणं जज्जरीकयावयवाणं च केवलीणं विहारो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं।

इस गाथा में कहे गए प्रश्नों का समाधान भट्टारक गुणधरने नहीं किया है। यतिवृषभ आचार्य ने उनका उत्तर इस प्रकार दिया है। (१) नैगम और संग्रह नय की अपेक्षा क्रोध आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज मान द्वेष रूप हैं तथा माया और लोभ प्रेयरूप हैं।

व्यवहार नय की दृष्टि से क्रोध, मान और माया द्वेष रूप हैं तथा केवल लोभ कषाय ही द्वेष रूप है।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा केवल क्रोध द्वेष रूप है। मान न द्वेष है, न प्रेय है। इसी प्रकार माया भी न द्वेष है, न प्रेय है। लोभ प्रेयरूप है।

शब्द नय की अपेक्षा क्रोध द्वेष, माया द्वेष है तथा लोभ भी द्वेष है। क्रोध, मान तथा माया पेज्ज नहीं हैं, किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है।

उपरोक्त प्ररूपण को पढ़कर जिज्ञासु सोचता है कि कषायों को किसी नय से प्रिय तो किसी नय से अप्रिय-द्वेष रूप कहने में क्या कोई कारण भी है या नहीं ? इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए आचार्य वीरसेन ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं, क्रोध द्वेष रूप है, क्योंकि क्रोध के करने से शरीर में संताप होता है। देह कंपित होती है। कान्ति बिगड़ जाती है। नेत्रों के समक्ष अंधकार छा जाता है। कान बधिर हो जाते हैं। मुख से शब्द नहीं निकलता। स्मरण शक्ति लुप्त हो जाती है। क्रोधी व्यक्ति अपने माता पिता आदि की हत्या कर बैठता है। क्रोध समस्त अनर्थों का कारण है।

---

१ णेगम-संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो। माया पेज्जं, लोहो पेज्जं। ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो पेज्जं। उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णो-दोसो, णो-पेज्जं। माया णो-दोसो, णो-पेज्जं। लोहो पेज्जं।

मान द्वेष रूप है क्योंकि वह क्रोध के अनंतर उत्पन्न होता है। क्रोध के विषय में प्रतिपादित समस्त दोषों का कारण है।

माया प्रिय है, क्योंकि उसका आलंबन प्रिय पदार्थ है। वह अपना कार्य पूर्ण होने पर मन में संतोष को उत्पन्न करती है। लोभ भी पेज्ज अर्थात् प्रेय है, 'आल्हादनहेतुत्वात्', क्योंकि वह आनन्द का कारण है।

शंका—क्रोध, मान, माया तथा लोभ दोष रूप हैं, क्योंकि उनसे कर्मों का आस्रव होता है।

समाधान— यह कथन ठीक है, किन्तु यहां कौन कषाय हर्ष का कारण है, कौन आनन्द का कारण नहीं है; इतनी ही विवक्षा है। अथवा प्रेय में दोषपना पाया जाता है, अतः माया और लोभ प्रेय है।

अरति, शोक, भय, जुगुप्सा दोष रूप हैं। वे क्रोध के समान अशुभ के कारण हैं। हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसक-वेद प्रेय रूप हैं, क्योंकि वे लोभ के समान राग के कारण हैं।

शंका— यह अनुद्दिष्ट बात कैसे जानी गई?

समाधान—'गुरुवएसादो' गुरु के उपदेश से यह बात अवगत हुई।

शंका—व्यवहार नय माया को दोष कहता है, इसका क्या हेतु है?

समाधान— माया में अविश्वासपना और लोकनिन्दितपना देखा जाता है। लोक निन्दित वस्तु प्रिय नहीं होती है। लोक-निन्दा से सर्वदा दुःख की उत्पत्ति होती है, 'सर्वदा निन्दातो दुःखोत्पत्तेः।'

लोभ पेज्ज है, क्योंकि लोभ से रक्षित द्रव्य के द्वारा सुख से जीवन व्यतीत होता है। स्त्री वेद, पुरुषवेद प्रिय हैं। शेष

नोकषाय दोष हैं; क्योंकि इस प्रकार का लोक व्यवहार देखा जाता है।

शंका—ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेष रूप है, लोभ पेज्ज है, यह ठीक है, किन्तु मान और माया न द्वेष हैं, न पेज्ज यह कैसे सुसंगत कहा जायगा ?

समाधान—ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा मान और माया दोष नहीं हैं, क्योंकि उनसे अंग को संताप नहीं प्राप्त होता है। उनसे आनन्द की उत्पत्ति नहीं होने से वे पेज्ज भी नहीं है।

शब्द नय की दृष्टि में क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के आस्रव के कारण होने से तथा उभय लोक में दोष का कारण होने से दोषरूप कहे गए हैं। यह उपयोगी पद्य है :—

क्रोधात्प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात्प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशको लोभः॥

क्रोध से प्रेमभाव का क्षय होता है। अभिमान से विनय की क्षति होती है। शठता अर्थात् कपटवृत्ति से विश्वास नहीं किया जाता है। लोभ के द्वारा समस्त गुणों का नाश होता है।

क्रोध, मान और माया ये तीनों पेज्ज नहीं हैं, क्योंकि इनसे जीव को संतोष और आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। लोभ कथंचित् पेज्ज है, क्योंकि रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है—"तिरयणसाहण-विसय-लोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति-दंसणादो"। शेष पदार्थ संबंधी लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है।

नैगम नय की अपेक्षा जीव किसी काल या देश में किसी जीव में द्वेष युक्त होता है, कभी अजीव में द्वेषभाव धारण करता है।

इस प्रकार आठ भंग उत्पन्न होते हैं। (१) कथंचित् जीवों में (२) कथंचित् अजीवों में (३) कथंचित् एक जीव तथा एक अजीव में (४) कथंचित् एक जीव में तथा अनेक अजीवों में (५) कथंचित् अनेक जीवों में और एक अजीव में (६) कथंचित् अनेक जीवों तथा अनेक अजीवों में (७) कथंचित् एक जीव में (८) कथंचित् एक अजीव में द्वेष भाव धारण करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—कौन नय किस द्रव्य में प्रेमभाव धारण करता है ?

समाधान—नैगम नय की अपेक्षा आठ भंग हैं। कथंचित् एक जीव में (२) कथंचित् एक अजीव में (३) कथंचित् अनेक जीवों में (४) कथंचित् अनेक अजीवों में (५) कथंचित् एक जीव में तथा एक अजीव में (६) कथंचित् एक जीव में और अनेक अजीवों में (७) कथंचित् अनेक जीवों में एक अजीव में (८) कथंचित् अनेक जीवों में तथा अनेक अजीवों में जीव प्रेम करता है।

संग्रह नय की अपेक्षा सर्व द्रव्यों पर द्वेष करता है तथा सर्व द्रव्यों पर प्रेम करता है। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय का कथन जानना चाहिए।

व्यवहार नय की अपेक्षा पेज्ज और दोस सम्बन्धी आठ भंग होते हैं।

शब्द नय की अपेक्षा जीव आपस में ही प्रिय अथवा द्वेष व्यवहार करता है। १ जीव सर्व द्रव्यों के साथ न द्वेष करता है, न प्रेम करता है। पेज्ज और दोस के स्वामी नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव कहे गए हैं।

---

१ सद्दस्स णो सव्वदव्वेहि दुट्ठो अत्ताणे चेव अत्ताणम्मि पियायदे।

शंका—नारकियों में निरन्तर द्वेषाग्नि जला करती है। वहां राग या आनन्द का अस्तित्व कैसे माना जावे ?

समाधान—ताड़न, मारण तथा तापन आदि क्रूर कार्यों में जब कोई नारकी सफल होता है, तब कुछ काल के लिए वह आनंद को प्राप्त होता है; इस दृष्टि से वहां 'पेज्ज' का सद्भाव माना गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देवों में लोभ कषाय की मुख्यता रहने से राग भाव वाले अधिक हैं। नारकियों में द्वेष की प्रचुरता रहने से वहां द्वेषभावयुक्त जीव अधिक हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों में द्वेष भाव धारक जीव अल्प हैं। रागभावयुक्त जीव विशेषाधिक हैं।

पेज्ज और दोस भाव युक्त जीवों के औदयिक भाव कहा है। यहां पेज्ज दोस-विभक्ति अधिकार समाप्त होता है।

श्री [illegible] पाठशाला
खामगांव जि. बुलढाणा

पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह ट्ठिदीए अणुभागे।
उक्कस्समणुक्कस्सं झीणमझीणं च ट्ठिदियं वा ॥ २२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मोहनीय की प्रकृति विभक्ति, स्थिति विभक्ति, अनुभाग विभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेश विभक्ति, क्षीणाक्षीण तथा स्थित्यंतिक का प्रतिपादन करना चाहिये।

विशेष — विभक्ति, भेद, पृथक्भाव ये एकार्थवाची हैं। "विहत्ती भेदो पुधभावो त्ति एयट्ठो"। यतिवृषभ आचार्य की दृष्टि से इस गाथा के द्वारा प्रकृति विभक्ति आदि छह अधिकार सूचित किए गए हैं। प्रकृति विभक्ति के मूल प्रकृति विभक्ति और उत्तर प्रकृति विभक्ति ये दो भेद किए गये हैं। मूल प्रकृति विभक्ति की प्ररुपणा इन आठ अनुयोगद्वारों से की गई है——एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार हैं।

उत्तर प्रकृति विभक्ति दो प्रकार की है——(१) एकैक उत्तर-प्रकृति विभक्ति (२) प्रकृति स्थान उत्तर प्रकृति विभक्ति।

एकैक उत्तरप्रकृति विभक्ति के अनुयोग द्वार इस प्रकार कहे गए हैं। एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचयानुगम, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, सन्निकर्ष और अल्पबहुत्व ये एकादश अनुयोग द्वार हैं।

प्रकृति स्थान विभक्ति में ये अनुयोग द्वार हैं——एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्पबहुत्व, भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि ये त्रयोदश अनुयोग द्वार हैं।

१ प्रकृति स्वभाव का पर्यायवाची है। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयवश जो पदार्थों का अवबोध न होना आदि स्वभाव का क्षय न होना स्थिति है। कर्म पुद्गलों की स्वगत सामर्थ्य विशेष अनुभव है। कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की परिगणना प्रदेश बंध है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ठिदि विहत्ती

यह स्थिति विभक्ति (१) मूलप्रकृति-स्थिति–विभक्ति (२) उत्तरप्रकृति-स्थितिविभक्ति के भेद से दो प्रकार की है। १ एक समय में बद्ध समस्त मोहनीय के कर्मस्कन्ध के समूह को मूल प्रकृति कहते हैं। कर्मबन्ध होने के पश्चात् उसके आत्मा के साथ बने रहने के काल को स्थिति कहते हैं।

मोहनीय कर्म की पृथक् पृथक् अट्ठाईस प्रकृतियों की स्थिति को उत्तर-प्रकृति-स्थितिविभक्ति कहते हैं।

---

१. प्रकृतिः स्वभावः। ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादि-स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तद्रसविशेषो अनुभवः। कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोनुभवः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेन अवधारणं प्रदेशः। (सर्वार्थसिद्धि अध्याय, ८ सूत्र ३)

१ एगसमयम्मि बद्धासेस–मोहकम्मक्खंधाणं पयडिसमूहो मूलपयडी णाम। तिस्से ट्ठिदी मूलपयडिट्ठिदी। पुधपुध अट्ठावीसमोहपयडीणं ट्ठिदीओ उत्तरपयडिट्ठिदी णाम।

२ शंका—उत्तरप्रकृति-स्थितिविभक्ति का कथन करने पर मूलप्रकृति-स्थितिविभक्ति का नियम से ज्ञान हो जाता है, इस कारण मूल प्रकृति-स्थितिविभक्ति का कथन अनावश्यक है।

समाधान—यह ठीक नहीं है। द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिकनय वाले शिष्यों के कल्याणार्थ दोनों का कथन किया गया है।

मूलप्रकृति-स्थितिविभक्ति के ये अनुयोगद्वार हैं। सर्वविभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्ट विभक्ति, जघन्यविभक्ति, अजघन्यविभक्ति, सादिविभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुवविभक्ति, एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नानाजीवों की अपेक्षा भंगविचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि इस प्रकार चौवीस अनुयोग द्वार हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३ शंका—अनुयोगद्वार किसे कहते हैं?

समाधान—कहे जाने वाले अर्थ के परिज्ञान के उपायभूत अधिकार को अनुयोगद्वार कहते हैं।

४ ये सभी अनुयोगद्वार उत्तर-प्रकृति-स्थितिविभक्ति के विषय में संभव हैं।

---

२ उत्तरपयडि–ट्ठिदिविहत्तीए परुविदाए मूलपयडिट्ठिदिविहत्ती णियमेण जाणिज्जदि, तेण उत्तर पयडि-ट्ठिदिविहत्ती चेव वत्तव्वा, ण मूलपयडिट्ठिदिविहत्ती, तत्थफलाभावादो। ण, दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय-णयाणुग्गहणट्ठं तप्परुवणादो (पृष्ठ २२३)

३ किमणिओगद्दारं णाम? अहियारो भण्णमाणत्थस्स अवगमो-वायो (२२४)

४ एदाणि चेव उत्तरपयडिट्ठिदिविहत्तीए कादव्वाणि (२२५)

अणुभाग विहत्ती

अनुभाग विभक्ति में अनुभाग के विषय में प्ररूपणा की गई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— 'को अणुभागो'? अनुभाग का क्या स्वरूप है?

समाधान—'कम्माणं सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णाम'— आत्मा से सम्बद्ध कर्मों के फलदान रूप स्वकार्य करने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

१ उस अनुभाग के भेद, प्रपंच अथवा विभक्ति का प्ररूपण करने वाले अधिकार को अनुभाग विभक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं। एक भेद मूलप्रकृति अनुभाग विभक्ति है। दूसरे का नाम उत्तर प्रकृति अनुभाग विभक्ति है। भूतबलि स्वामी ने महाबंध ग्रंथ में चौबीस अनुयोग द्वारों से आठ कर्मों के अनुभाग बंध का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। महाबंध में लिखा है "एदेण अट्ठपदेण तत्थ इमाणि चदुवीस–अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा सण्णा सव्वबंधो, णोसव्वबंधो, उक्कस्सबंधो, अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो, अजहण्णबंधो, सादिबंधो, अणादिबंधो, धुवबंधो एवं याव अप्पाबहुगे त्ति। भुजगारबंधो पदणिक्खेवो वड्ढिबंधो अज्झवसाणसमुदाहारो जीवसमुदाहारो त्ति"। इस कषायपाहुड ग्रंथ में केवल मोहनीय का विवेचन किया गया है। इसमें तेईस

---

१ तस्य विहत्ती भेदो पवंचो जम्हि अहियारे परुविज्जदि सा अणुभागविहत्ती त्ति। तिस्से दुवे अहियारा मूलपयडि–अणुभाग विहत्ती उत्तरपयडिअणुभागविहत्ती चेदि। मूलपयडि–अणुभागस्स जत्थ विहत्ती परुविज्जदि सा मूलपयडि–अणुभागविहत्ती। उत्तर-पयडीण मणुभागस्स जत्थ विहत्ती परुविज्जदि सा उत्तरपयडि-अणुभागविहत्ती (५१८)

अनुयोगद्वारों से कथन किया गया है। एक कर्म में सन्निकर्ष रूप [illegible] नहीं किया गया है। 'सण्णियासो णत्थि, एक्कस्से पयडीए तदसंभवादो।" सन्निकर्ष को छोड़कर ये तेईस अधिकार कहे गये हैं। (१) संज्ञा (२) सर्वानुभागविभक्ति (३) नोसर्वानुभागविभक्ति (४) उत्कृष्ट अनुभागविभक्ति (५) अनुत्कृष्ट अनुभागविभक्ति (६) जघन्य अनुभागविभक्ति (७) अजघन्य अनुभागविभक्ति (८) सादि अनुभागविभक्ति (९) अनादि अनुभागविभक्ति (१०) ध्रुव अनुभागविभक्ति (११) अध्रुव अनुभागविभक्ति (१२) एकजीवकी अपेक्षा स्वामित्व (१३) काल (१४) अंतर (१५) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (१६) भागाभाग (१७) परिमाण (१८) क्षेत्र (१९) स्पर्शन (२०) काल (२१) अंतर (२२) भाव (२३) अल्पबहुत्व। यहां भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धिविभक्ति और स्थान ये चार अर्थाधिकार भी होते हैं।

प्रथम अधिकार संज्ञा के (१) घाति (२) स्थान ये दो भेद हैं। मोहनीय जीव के गुण का घात करता है। उसके देशघाती और सर्वघाती भेद किये गए हैं।

१ मोहनीय का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है तथा उसका जघन्य अनुभाग देशघाती है। मोहनीय का अनुत्कृष्ट और अजघन्य अनुभाग सर्वघाती है तथा देशघाती भी है।

मोहनीय का भेद संस्थान संज्ञा है। उसके जघन्य और उत्कृष्ट ये दो भेद हैं।

---

१ मोहणीयस्स उक्कस्स अणुभागविहत्ती सव्वघादी। अणुक्कस्स अणुभागविहत्ती सव्वघादी देसघादी वा। जहण्णाणुभागविहत्ती देसघादी, अजहण्णाणुभाग-विहत्ती देसघादी सव्वघादी वा (५१९)

उत्तर—प्रकृति-अनुभागविभक्ति—

(मोहनीय की मूल प्रकृति की अवयवरूप मोहप्रकृतियों को उत्तरप्रकृति व्यपदेश किया जाता है। "मोहणीय-मूलपयडीए अवयवभूद-मोहपयडीणमुत्तरपयडि त्ति ववएसो" (५५२)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मोहनीय की उत्तरप्रकृतियों के अधिकारों का परिज्ञानार्थ स्पर्धकों की रचना का परिज्ञान आवश्यक है। सम्यक्त्वप्रकृति के प्रथम देशघाति स्पर्धक से लेकर अंतिम देशघाति स्पर्धक पर्यन्त ये स्पर्धक होते हैं। सम्यक्त्वप्रकृति का सबसे जघन्य प्रथम स्पर्धक देशघाती है तथा सबसे उत्कृष्ट अंतिम स्पर्धक देशघाती है। वह लता रूप न होकर दारु रूप है। सम्यग्दर्शन के एक देश का घात करने से सम्यक्त्व प्रकृति के अनुभाग को देशघाती कहा गया है।

२ शक्ति की अपेक्षा कर्मों के अनुभाग के लता, दारु (काष्ठ) अस्थि और शैल (पाषाण) रूप चार भेद किए गए हैं। लता और दारु का शेष बहुभाग, अस्थि भाग और शैल रूप अनुभाग सर्वघाती है।

१ शंका—सम्यक्त्व प्रकृति के द्वारा सम्यग्दर्शन का कौनसा भाग घाता जाता है ?

---

२ सत्ती य लदा-दारु-अट्ठी-सेलोवमा हु घादीणं।
दारु अणंतिमभागो त्ति देसघादी तदो सव्वं ॥१८१॥
देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारु अणंतिमे मिस्सं।
सेसा अणंतभागा अट्ठि-सिलाफड्डया मिच्छे ॥१८१॥ गो. कर्मकांड॥

१ लदासमाण-जहण्ण-फड्डयमादिं कादूण जाव देसघादि दारुअसमाणुक्कस्स फड्डयं त्ति ट्ठिदसम्मत्ताणुभागस्स कुदो देसघादित्तं ? ण सम्मत्तस्स एकदेसं घादेंताणं तदविरोहादो। को भागो सम्मत्तस्स तेण घाइज्जदि ? थिरत्तं णिक्कंखत्तं (५५२)

समाधान—सम्यक्त्व की स्थिरता और निष्कांक्षता का घात होता है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का अनुभाग सत्कर्म प्रथम सर्व-घाती स्पर्धक से लेकर दारु के अनंतवेंभाग तक होता है। यह सम्यग्मिथ्यात्व संपूर्ण सम्यक्त्व का घात करने से सर्वघाती है। इसे जात्यंतर सर्वघाती कहा है।

४ इसके होने पर सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व के अस्तित्व का विरोध है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दारु के जिस भाग पर्यन्त सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धक हैं, उससे अनंतरवर्ती दारु, अस्थि तथा शैलरूप सभी स्पर्धक मिथ्यात्व प्रकृति के हैं।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप द्वादश कषायों के सभी स्पर्धक सर्वघाती हैं। दारु के जिस भाग से सर्वघाती स्पर्धक प्रारंभ होते हैं, वहां से शैलभाग पर्यन्त इनके स्पर्धक होते हैं। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नव नोकषायों के स्पर्धक लता रूप होने के साथ दारु, अस्थि तथा शैल रूप भी हैं। चूर्णि सूत्रकार ने कहा है, "चदु-संजलण-णव-णोकसायाणमणुभागसंतकम्मं देसघादीणमादि-फद्दयमादिं कादूण उवरि सव्वघादित्ति अप्पडिसिद्धं।" चार संज्वलन और नोकषाय नवक का अनुभाग सत्कर्म देशघातियों के प्रथम स्पर्धक से लेकर आगे बिना प्रतिषेध के सर्वघाती पर्यन्त हैं।

अनुभाग स्पर्धकों का भेद स्थान संज्ञा रूप कहा गया है, उसके लता दारु आदि भेद सार्थक हैं। जिस प्रकार लता कोमल होती है

---

४ सम्मामिच्छुदयेणजत्तंतर-सव्वघादि-कज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ गो. जी

उसी प्रकार जिस कर्म में कम अनुभाग शक्ति होती है, उसे लता समान कहा है। लता की अपेक्षा काष्ठ (दारु) समान अनुभाग शक्ति को दारु समान कहा है। उससे अधिक कठोर अस्थि समान अस्थि भाग है। शैल सदृश अत्यन्त कठोर अनुभाग को शैल कहा है।

पदेस विहत्ती

कर्मों के समुदाय में जो परमाणु हैं; उन्हें प्रदेश कहा गया है। अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में कहा है, "कर्मभावपरिणत-पुद्गलस्कन्धानां परमाणु-परिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते"
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
(अ. ८, सू. ३. पृ-२९९)—कर्मरूप परिणमन को प्राप्त पुद्गल स्कन्ध हैं, उनमें परमाणुओं की परिगणना द्वारा निर्धारण करने को प्रदेश कहा है। उनका विवेचन प्रदेश विभक्ति में हुआ है। इस प्रदेश विभक्ति के मूलप्रकृति प्रदेशविभक्ति और उत्तरप्रकृति प्रदेशविभक्ति रूप दो भेद कहे गए हैं। "पदेस-विहत्ती दुविहा मूल-पयडि-पदेस-विहत्ती उत्तरपयडिपदेसविहत्ती चेव।" मूल प्रकृति प्रदेश विभक्ति में द्वाविंशति अनुयोगद्वार कहे गए हैं।

"मूलपयडिविहत्तीए तत्थ इमाणि बावीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति। तं जहा भागाभागं, सव्वपदेसविहत्ती, णोसव्वपदेसविहत्ती, उक्कस्स-पदेसविहत्ती, अणुक्कस्सपदेसविहत्ती; जहण्णपदेसविहत्ती अजहण्णपदेसविहत्ती सादियपदेसविहत्ती अणादियपदेसविहत्ती, धुवपदेसविहत्ती, अद्धुवपदेसविहत्ती, एगजीवेण सामित्तं, कालो, अंतरं, णाणाजीवेहि भंगविचओ, परिमाणं, खेत्तं, पोसणं, कालो, अंतरं, भावो, अप्पाबहुअं चेदि। पुणो भुजगार-पद-णिक्खेव-वड्ढि-ट्ठाणाणित्ति (६४९)

(१) भागाभाग (२) सर्वप्रदेशविभक्ति (३) नोसर्व प्रदेश-विभक्ति (४) उत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति (५) अनुत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति (६) अजघन्य प्रदेशविभक्ति (७) सादिप्रदेशविभक्ति (८) अनादि-प्रदेशविभक्ति (९) ध्रुव प्रदेशविभक्ति (१०) अध्रुव प्रदेशविभक्ति (११) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व (१२) काल (१३) अन्तर (१४) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (१५) परिमाण (१६) क्षेत्र (१७) स्पर्शन (१८) काल (१९) अंतर (२०) भाव (२१) अल्पबहुत्व ये बाईस अनुयोग द्वार हैं। इसके सिवाय भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि तथा स्थान रूप भी अनुयोग द्वार हैं।

उत्तरप्रकृति प्रदेशविभक्ति में पूर्वोक्त द्वाविंशति अनुयोग-द्वारों के सिवाय सन्निकर्ष अनुयोग द्वार भी हैं। इस कारण वहां तेईस अनुयोग द्वार कहे गये हैं। उनके नाम टीकाकार ने इस प्रकार गिनाए हैं :—

उत्तरपयडि—पदेसविहत्तीए भागाभागो, सव्वपदेसविहत्ती, णोसव्वपदेसविहत्ती, उक्कस्सपदेसविहत्ती अणुक्कस्सपदेस-विहत्ती जहण्णपदेसविहत्ती अजहण्णप्रदेसविहत्ती सादिय-पदेसविहत्ती अणा-दियपदेसविहत्ती धुवपदेसविहत्ती अधुवपदेसविहत्ती एगजीवेण सामित्तं कालो अंतरं णाणाजीवेहिं भंगविचओ परिमाणं खेत्तं पोसणं कालो अंतरं सण्णियासो भावो अप्पाबहुअं चेदि तेवीस अणिओगद्दाराणि। पुणो भुजगारो, पदणिक्खेवो वड्ढि—ट्ठाणाणि चत्तारि अणिओगद्दाराणि। (६६१)

झीणाझीणाधिकार

बावीसवीं गाथा में 'झीणमझीणं' पद आया है। उसकी विभाषा में कहते हैं:—कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, संक्रमण से क्षीणस्थितिक हैं तथा उदय से क्षीणस्थितिक हैं। 'अत्थि ओकड्डणादो झीणट्ठिदियं, उक्कड्डणादो झीणट्ठिदियं, संकमणादो झीणट्ठिदियं उदयादो झीणट्ठिदियं'

जिस स्थिति में स्थित कर्मप्रदेशाग्र अपकर्षण के अयोग्य होते हैं, उन्हें अपकर्षण से क्षीणस्थितिक कहते हैं। जिस स्थिति में स्थित कर्मप्रदेशाग्र अपकर्षण के योग्य होते हैं, उन्हें अपकर्षण से मार्गदर्शक: आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज अक्षीणस्थितिक कहते हैं।

जिस स्थिति के कर्मपरमाणु उत्कर्षण के अयोग्य होते हैं, उन्हें उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक कहते हैं। उत्कर्षण के योग्य कर्मपरमाणुओं को उत्कर्षण से अक्षीणस्थितिक कहते हैं।

संक्रमण के अयोग्य कर्मपरमाणुओं को संक्रमण से क्षीणस्थितिक और संक्रमण के योग्य कर्मपरमाणुओं को संक्रमण से अक्षीणस्थितिक कहते हैं।

जिस स्थिति में स्थित परमाणु उदय से निर्जीर्ण हो रहे हैं, उन्हें उदय से क्षीणस्थितिक कहते हैं। जो उदय के योग्य हैं, उन्हें उदय से अक्षीणस्थितिक कहते हैं।

शंका—कौन कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं?

समाधान—जो कर्मप्रदेश उदयावली के भीतर स्थित हैं, वे अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं। जो कर्मप्रदेश उदयावली से बाहिर विद्यमान हैं वे अपकर्षण से अक्षीणस्थितिक हैं। उनकी स्थिति को घटाया जा सकता है।

शंका—कौन कर्मप्रदेश उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं ?

समाधान—जो कर्मप्रदेश उदयावली में प्राप्त हैं, वे उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं। जो कर्मप्रदेशाग्र उदयावली से बाहर अवस्थित हैं, वे संक्रमण से क्षीणस्थितिक हैं अर्थात् संक्रामण के अयोग्य हैं। जो प्रदेशाग्र उदयावली से बाहिर विद्यमान हैं, वे संक्रमण से अक्षीण-स्थितिक हैं अर्थात् संक्रमण से योग्य हैं।

शंका—कौन कर्मप्रदेश उदय से क्षीणस्थितिक हैं ?

समाधान—जो कर्मप्रदेशाग्र उदीर्ण हैं, वे उदय से क्षीणस्थितिक हैं। इसके अतिरिक्त जो प्रदेशाग्र हैं, वे उदय से अक्षीणस्थितिक हैं, अर्थात् वे उदय के योग्य हैं—'उदयादो झीणट्ठिदियं जमुदिण्णं तं, णत्थि अण्णं।''

जहां पर बहुत से कर्मप्रदेशाग्र अपकर्षणादि से क्षीणस्थितिक हों, उसे उत्कृष्ट क्षीणस्थितिक कहते हैं। जहां पर सबसे कम प्रदे-शाग्र अपकर्षणादि के द्वारा क्षीणस्थितिक हों, उसे जघन्य क्षीण-स्थितिक कहते हैं। इसी प्रकार अनुत्कृष्ट और अजघन्य क्षीण-स्थितिक के विषय में जानना चाहिये।

स्थितिक अधिकार

गाथा में आगत 'ठिदियं वा' इस अंतिम पद की विभाषा करते हैं। इस स्थितिक अधिकार में तीन अनुयोगद्वार हैं—"तत्थ तिण्णि अणियोगद्दाराणि" वे (१) समुत्कीर्तना (२) स्वामित्व (३) अल्पबहुत्व नाम युक्त हैं, 'तंजहा-समुक्कित्तणा सामित्तमप्पाबहुअं च'।

समुत्कीर्तना की अपेक्षा (१) उत्कृष्टस्थिति प्राप्तक (२) निषेक-स्थिति प्राप्तक (३) यथानिषेकस्थिति-प्राप्तक (४) उदयस्थितिप्राप्तक चार प्रकार का प्रदेशाग्र होता है।

शंका—स्थिति का क्या स्वरूप है? 'तत्थ किं ट्ठिदियं णाम?'

समाधान—अनेक प्रकार की स्थितियों को प्राप्त होने वाले कर्मपुंजों को स्थितिक या स्थितिप्राप्तक कहते हैं "ट्ठिदीओ गच्छइ त्ति ट्ठिदियं पदेसग्गं ट्ठिदिपत्तयमिदि उत्तं होइ"

शंका—उत्कृष्टस्थिति प्राप्तक का क्या स्वरूप है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—'जं कम्मं बंधसमयादो कम्मट्ठिदीए उदए दीसइ तमुक्कस्सयट्ठिदि पत्तयं'—जो कर्म बंध काल से लेकर कर्म स्थिति के उदय में दिखाई देता है, उत्कृष्टस्थिति-प्राप्तक कहते हैं।

शंका—निषेध-स्थिति-प्राप्तक का क्या स्वरूप है?

समाधान—जो कर्मप्रदेशाग्र बंधने के समय में ही जिस स्थिति में निषिक्त किए गए अथवा अपकर्षित किए गए वा उत्कर्षित किए गए, वे उसी ही स्थिति में होकर यदि उदय में दिखाई देते हैं तो उन्हें निषेक स्थिति प्राप्तक कहते हैं—"जं कम्मं जिस्से ट्ठिदीए णिसित्तं ओकड्डिदं वा उक्कड्डिदं वा तिस्से चेव ट्ठिदीए उदए दिस्सइ तं णिसेय-ट्ठिदिपत्तयं'

शंका—यथानिषेक-स्थितिप्राप्तक का क्या स्वरूप है?

समाधान—जो कर्मप्रदेशाग्र बंध के समय जिस स्थिति में निषिक्त किए गए वे अपवर्तना या उद्वर्तना को न प्राप्त होकर सत्ता में उसी अवस्था में रहते हुए यथाक्रम से उस ही स्थिति में

श्री ... प्रभु
... पाठशाला
... जि. बुलढाणा

होकर उदय में दिखाई दे उसको यथानिषेक-स्थितिप्रासक कहते हैं– "जं कम्मं जिस्से ट्ठिदीए णिसित्तं अणोकड्डिदं अणुक्कड्डिदं तिस्से चेव ट्ठिदीए उदए दिस्सइ तमधाणिसेयट्ठिदिपत्तयं।

शंका—उदयट्ठिदि-पत्तयं णाम किं ?—उदयस्थितिप्रासक किसे कहते हैं ?

समाधान—जो कर्म बंधने के पश्चात् जहां कहीं जिस किसी स्थिति में होकर उदय को प्राप्त होता है, उसे उदयस्थिति प्रासक कहते हैं—'जं कम्मं उदए जत्थ वा तत्थ वा दिस्सइ तमुदयट्ठिदिपत्तयं'।

उत्कृष्टस्थितिप्रासक, निषेकस्थितिप्रासक, यथानिषेकस्थिति प्रासक तथा उदयस्थितिप्रासक के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य तथा अजघन्य ये चार भेद प्रत्येक के जानना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
[illegible] स्थिति प्रासकों आदि का वर्णन किया गया है। मिथ्यात्वादि मोहनीय कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट अग्रस्थिति प्राप्रक उत्कृष्ट अग्रस्थिति प्रापक उत्कृष्ट यथानिषेक स्थिति प्रापक आदि के स्वामित्व का यतिवृषभ आचार्य ने विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया है।

स्थितिक अल्पबहुत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है। मिथ्यात्व आदि सर्वप्रकृतियों के उत्कृष्ट अग्रस्थिति को प्राप्त कर्म-प्रदेशाग्र सबसे कम हैं। उत्कृष्ट यथानिषेक स्थिति प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र असंख्यातगुणे हैं। निषेक स्थिति प्राप्त उत्कृष्ट कर्मप्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट उदयस्थिति को प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र असंख्यातगुणित हैं।

मिथ्यात्व का जघन्य अग्रस्थिति प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र सर्वस्तोक हैं। जघन्य निषेकस्थिति प्राप्त मिथ्यात्व के कर्मप्रदेशाग्र अनंतगुणित हैं। जघन्य उदयस्थिति प्राप्त मिथ्यात्व के कर्मप्रदेशाग्र असंख्यात-गुणे हैं। जघन्य यथा निषेकस्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे

हैं। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरणादि द्वादश कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा के विषय में इसी प्रकार जानना चाहिये।

अनंतानुबंधी का जघन्य अग्रस्थिति प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र सर्व स्तोक है। जघन्य यथानिषेक स्थिति प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र उससे अनंतगुणित हैं। [जघन्य] निषेक स्थिति प्राप्त कर्मप्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। जघन्य उदयस्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार अल्पबहुत्व, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति और शोक के विषय में जानना चाहिये, 'एवमित्थिवेद-णवुंसयवेद-अरदिसोगाणं।'

इस प्रकार 'पयडीय मोहणिज्जा' मूल गाथा का संक्षिप्त कथन समाप्त हुआ।

बंधक अनुयोगद्वार

कदि पयडीयो बंधदि ट्ठिदि-अणुभागे जहण्णमुक्कस्सं।
संकामेइ कदिं वा गुणहीणं वा गुणविसिट्ठं ॥२३॥

कितनी प्रकृतियों को बांधता है? कितनी स्थिति अनुभाग को बांधता है? कितने जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम सहित कर्म प्रदेशों को बांधता है? कितनी प्रकृतियों का संक्रमण करता है? कितनी स्थिति और अनुभाग का संक्रमण करता है? कितने गुणहीन और गुणविशिष्ट प्रदेशों का संक्रमण करता है?

विशेष—यतिवृषभ आचार्य कहते हैं 'एदीए गाहाए बंधो च संकमो च सूचिदो होइ'—इस गाथा के द्वारा बंध और संक्रम सूचित किए गये हैं।

'कदि पयडीओ बंधइ' पद से प्रकृतिबंध, 'ट्ठिदि अणुभागे' पद द्वारा स्थितिबंध तथा अनुभाग बंध, 'जहण्णमुक्कस्सं' पद से प्रदेश-

बंध, 'संकामेइ कदि वा' के द्वारा प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रम तथा अनुभाग संक्रम, 'गुणहीणं वा गुणविसिट्ठं' के प्रदेश संक्रम सूचित किए गए हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'सो पुण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधो बहुसो परूविदो'—यह प्रकृति स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबंध बहुत बार प्ररूपण किया गया है।

इन बंधों का महाबंध के अनुसार वीरसेनस्वामी ने जयधवला टीका में विवेचन किया है। वे कहते हैं "महाबंधानुसारेण एत्थ पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासिय समत्तेसु तदो बंधो समत्तो होई" (९५७)

संक्रम अनुयोगद्वार

एक कर्म प्रकृति के प्रदेशों को अन्य प्रकृति रूप परिणमन कराने को संक्रमण कहा गया है। 'संकमस्स पंचविहो उवक्कमो, आणुपुव्वी, णामं, पमाणं, वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि'—संक्रम का उपक्रम पंचविध है। आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता तथा अर्थाधिकार उनके नाम हैं।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्रमण का छह प्रकार निक्षेप हुआ है।

नयों की अपेक्षा प्रकाश डालते हुए चूर्णिकार कहते हैं :—णेगमो सव्वे संकमे इच्छइ। संगह-ववहारा काल संकममवणेंति उजुसुदो एदं च ठवणं च अवणेइ। सद्दस्स णामं भावो य। नैगमनय सर्व संक्रमों को स्वीकार करता है। संग्रह और व्यवहारनय काल संक्रम को छोड़ देता है। ऋजुसूत्रनय काल एवं स्थापना संक्रम को छोड़ता है। शब्द नाम और भाव संक्रम को ही विषय करते हैं।

कर्म संक्रम (१) प्रकृति संक्रम (२) स्थिति संक्रम (३) अनुभाग संक्रम (४) तथा प्रदेश संक्रम के भेद से चार प्रकार का है।

'पयडिसंकमो दुविहो'—प्रकृति संक्रम के दो भेद हैं (१) एकैक-प्रकृति-संक्रम (२) प्रकृति-स्थान संक्रम।

प्रकृति-संक्रम प्रकृत है। उसमें तीन सूत्र गाथाएं हैं।

संकम-उवक्कमविही पंचविहो चउव्विहो य णिक्खेवो।
णयविहि पयदं पयदे च णिग्गमो होइ अट्ठविहो ॥२४॥

एक्केक्काए संकमो दुविहो संकमविही य पयडीए।
संकमपडिग्गविही पडिग्गहो उत्तम-जहण्णो ॥२५॥

पयडि-पयडिट्ठाणेसु संकमो असंकमो तहा दुविहो।
दुविहो पडिग्गहविही दुविहो अपडिग्गहविही य ॥२६॥

संक्रम की उपक्रम विधि पांच प्रकार है। निक्षेप चार प्रकार है। नय विधि प्रकृत है। प्रकृत में निर्गम आठ प्रकार है ॥२४॥

प्रकृति संक्रम दो प्रकार है—एकैकप्रकृति - संक्रम तथा प्रकृति-स्थानसंक्रम ये दो भेद हैं। संक्रम में प्रतिग्रहविधि कही है। वह उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट तथा जघन्य भेद युक्त है ॥२५॥

संक्रम के दो प्रकार हैं। एक प्रकृति संक्रम, दूसरा प्रकृतिस्थान संक्रम है। असंक्रम, प्रकृति-असंक्रम तथा प्रकृतिस्थान असंक्रम दो भेद युक्त है। प्रतिग्रह विधि प्रकृतिग्रह और प्रकृतिस्थान प्रतिग्रह भेद युक्त है। अप्रतिग्रह विधि के प्रकृति अप्रतिग्रह और प्रकृतिस्थान अप्रतिग्रह दो भेद हैं ॥२६॥

विशेषार्थ—संक्रम की उपक्रमविधि के आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार ये पांच भेद हैं। निक्षेप के द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव ये चार प्रकार हैं। यहां नाम और स्थापना निक्षेप का ग्रहण नहीं हुआ है–"चउव्विहो य णिक्खेवो त्ति णाम-ट्ठवणवज्जं दव्वं खेत्तं कालो भावो च" (९६२)

निर्गम निकलने को कहते हैं। उसके आठ भेद कहे गए हैं। प्रकृति संक्रम, प्रकृति असंक्रम, प्रकृति स्थानसंक्रम, प्रकृति स्थानअसंक्रम, प्रकृति प्रतिग्रह, प्रकृति अप्रतिग्रह, प्रकृतिस्थान-प्रतिग्रह, प्रकृति-स्थान अप्रतिग्रह ये आठ निर्गम के भेद हैं।

मिथ्यात्व प्रकृति का सम्यग्मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व प्रकृति रुप से परिवर्तित होना प्रकृतिसंक्रम है।

मिथ्यात्व का अन्य रुप में संक्रम नहीं होना प्रकृतिअसंक्रम है। मोहनीय की अट्ठावीस प्रकृतियों की सत्तावाले मिथ्यादृष्टि में सत्ताईस प्रकृति रुप स्थान परिवर्तन को प्रकृतिस्थानसंक्रम कहते हैं। मोहनीय की अट्ठावीस प्रकृतियों की सत्तावाले मिथ्यादृष्टि का उसी रुप में रहना प्रकृतिस्थान-असंक्रम है।

मिथ्यात्व का मिथ्यादृष्टि में पाया जाना प्रकृति प्रतिग्रह है। दर्शन मोहनीय का चरित्र मोहनीय में अथवा चरित्र मोहनीय का दर्शनमोहनीय के रुप में संक्रमण नहीं होना प्रकृति अप्रतिग्रह है। मिथ्यादृष्टि में बाईस प्रकृतियों के समुदाय रुप स्थान के पाए जाने को प्रकृतिस्थान प्रतिग्रह कहा है।

मिथ्यादृष्टि में सोलह प्रकृति रुप स्थान के नहीं पाए जाने को प्रकृतिस्थान अप्रतिग्रह कहते हैं।' (९६३)

एकैकप्रकृतिसंक्रम के चतुर्विंशति अनुयोगद्वार हैं। (१) समुत्कीर्तना (२) सर्वसंक्रम (३) नोसर्वसंक्रम (४) उत्कृष्टसंक्रम (५) अनुत्कृष्ट संक्रम (६) जघन्य संक्रम (७) अजघन्य संक्रम (८) सादि संक्रम (९) अनादि संक्रम (१०) ध्रुव संक्रम (११) अध्रुव-

संक्रम (१२) एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व (१३) काल (१४) अन्तर (१५) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (१६) भागाभाग (१७) परिमाण (१८) क्षेत्र (१९) स्पर्शन (२०) काल (२१) अन्तर (२२) सन्निकर्ष (२३) भाव (२४) अल्पबहुत्व ।

मिथ्यात्व प्रकृति का संक्रमण करने वाला सम्यग्दृष्टि है। संक्रमण के योग्य मिथ्यात्व की सत्तावाले सभी वेदक सम्यक्त्वी मिथ्यात्व का संक्रमण करते हैं। आसादना निरासान सभी उपशम सम्यक्त्वी मिथ्यात्व का संक्रमण करते हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति का संक्रमण उसकी सत्तायुक्त मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह विशेष है कि जिसके एक आवलीकालप्रमाण ही सम्यक्त्वप्रकृति की सत्ता शेष रही हो, वह मिथ्यात्वी इस प्रकृति का संक्रमण नहीं करता है।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना करने वाला मिथ्यादृष्टि करता है।

आसादना रहित उपशम सम्यक्त्वी भी इस प्रकृति का संक्रामक होता है।

प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व की सत्तावाले जीव को छोड़कर सर्व वेदक सम्यक्त्वी भी सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रामक होते हैं। यह भी स्मरण योग्य है कि "दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीए ण संकमइ। चारित्तमोहणीयं पि दंसणमोहणीए ण संकमइ"—दर्शनमोहनीय का चरित्र मोहनीय में संक्रमण नहीं होता है। चारित्रमोहनीय भी दर्शनमोहनीय में संक्रम नहीं होता है। 'एवं सव्वाओ चारित्तमोहणीय-पयडीओ'—यह बात सभी चारित्र मोह की प्रकृतियों में है। 'ताओ पणुवीसं पि चरित्तमोहणीयपयडीओ अण्णदरस्स संकमंति"—वे पच्चीस चारित्र मोह की प्रकृतियां किसी भी एक प्रकृति में संक्रमण करती हैं। (पृष्ठ ९६७-६८)

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्री ... प्रभु
दि. जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

मिथ्यात्व का संक्रमणकाल जघन्य से अंतर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट से साधिक छ्यासठ सागर है।

सम्यक्त्वप्रकृतिका संक्रमणकाल जघन्य से अंतर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्टसे पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रमणका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है; उत्कृष्टकाल "बे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि"—साधिक द्विषष्टिसागरोपम है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चारित्र मोहनीय की पंचविंशति प्रकृतियों का संक्रमण काल अनादि–अनंत, अनादि–सांत तथा सादि–सान्त कहा है। सादि सान्त काल की अपेक्षा उक्त प्रकृतियों का संक्रमण काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्टसे 'उवड्ढपोग्गलपरियट्ट'—उपार्धपुद्गल परिवर्तन है।

मिथ्यात्व त्रिक के संक्रमण का जघन्य विरहकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट उपार्धपुद्गलपरिवर्तन है। सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रमण का जघन्य अन्तरकाल एक समय है।

अनंतानुबंधी के संक्रमणका जघन्यअंतरकाल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधिक द्विछ्यासठसागर है।

चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस प्रकृतियों का संक्रमण संबंधी जघन्य अन्तरकाल एक समय है, उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है।

गतियों की अपेक्षा संक्रमण पर प्रकाश डालते हुए चूर्णिकार कहते हैं।

नरकगति में सम्यक्त्व प्रकृति के संक्रामक सर्व स्तोक अर्थात् सबसे अल्प हैं। मिथ्यात्व के संक्रामक उससे असंख्यात गुणे हैं। उससे सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रामक विशेषाधिक हैं। अनंतानुबंधी के संक्रामक उससे असंख्यातगुणे हैं। शेष मोह के संक्रामक परस्पर तुल्य और विशेषाधिक हैं।

देवगति में नरक गति के समान वर्णन है :—

तिर्यंचों में सम्यक्त्वप्रकृति के संक्रामक सबसे अल्प हैं। मिथ्यात्व के संक्रामक असंख्यात गुणे हैं। सम्यक्त्वमिथ्यात्व के संक्रामक इससे विशेषाधिक हैं। अनंतानुबंधी के संक्रामक इससे अनंतगुणित हैं। शेष मोह के संक्रामक परस्पर में तुल्य तथा विशेषाधिक हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनुष्यगति में मिथ्यात्व के संक्रामक सर्व स्तोक हैं। सम्यक्त्व के संक्रामक उससे असंख्यातगुणे हैं। सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रामक उससे विशेषाधिक हैं। अनंतानुबंधी के संक्रामक उससे असंख्यात गुणे हैं। शेष कर्मों का अल्पबहुत्व ओघ के समान है।

एकेन्द्रियों में सम्यक्त्वप्रकृति के संक्रामक सर्व स्तोक हैं। सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रामक विशेषाधिक हैं। शेष कर्मों के संक्रामक परस्पर तुल्य तथा अनंतगुणित हैं।

अब प्रकृतिस्थान संक्रम के निरुपण हेतु सूत्र कहते हैं :—

अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा।
एदे खलु मोत्तूणं सेसाणं संकमो होइ ॥ २७ ॥

मोहनीय के अट्ठाईस स्थान हैं। उनमें अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह तथा पन्द्रह प्रकृतिरुप स्थानों को छोड़कर शेष तेईस स्थानों में संक्रमण होता है।

विशेष—संक्रमण के स्थान २७, २६, २५, २३, २२, २१, २०, १९, १८, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २ तथा १ ये तेईस कहे गए हैं।

सोलसग बारसट्ठग वीसं वीसं तिगादिगधिया य।
एदे खलु मोत्तूणं सेसाणि पडिग्गहा होंति ॥ २८ ॥

सोलह, बारह, आठ, बीस तथा तीन, चार, पांच, छह, सात तथा आठ अधिक बीस अर्थात् तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस तथा अट्ठाईस प्रकृतिरुप स्थानों को छोड़कर शेष अठारह प्रतिग्रहस्थान होते हैं।

विशेष—२२, २१, १९, १८, १७, १५, १४, १३, ११, १०, ९, ७, ६, ५, ४, ३, २ और १ ये अठारह प्रतिग्रहस्थान हैं।

जिस आधार रुप प्रकृति में अन्य प्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण होता है, उसे प्रतिग्रह प्रकृति कहते हैं।

मोहनीय के जिन प्रकृति स्थानों का, जिन प्रकृति स्थानों में संक्रमण होता है, वे प्रतिग्रह स्थान कहे जाते हैं।

जिन प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता, वे अप्रतिग्रहस्थान हैं। यहां दस अप्रतिग्रह स्थान कहे गए हैं।

छव्वीस सत्तवीसा य संकमो णियम चदुसु ट्ठाणेसु।
बावीस पण्णरसगे एक्कारस उणवीसाए ॥२९॥

बाईस, पंद्रह, एकादश और उन्नीस प्रकृतिक चार प्रतिग्रह स्थानों में ही छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतिक स्थानों का नियमसे संक्रम होता है।

सत्तारसेगवीसासु संकमो णियम पंचवीसाए।
णियमा चदुसु गदीसु य णियमा दिट्ठीगए तिविहे ॥३०॥

सत्रह तथा इक्कीस प्रकृतिक स्थानों में पच्चीस प्रकृतिक स्थान का नियम से संक्रम होता है।

यह पच्चीस प्रकृतिक संक्रमस्थान नियम से चारों गतियों में होता है। दृष्टिगत तीन गुणस्थानों में अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों में ही यह पच्चीस प्रकृतिक संक्रम स्थान नियम से पाया जाता है।

बावीस पण्णारसगे सत्तग एक्कारसूणवीसाए।
तेवीसा संकमो पुण पंचसु पंचिंदिएसु हवे ॥२१॥

तेईस प्रकृतिक स्थान का संक्रम बाईस, पंद्रह, सत्रह, ग्यारह तथा उन्नीस प्रकृतिक पंच स्थानों में होता है। यह स्थान संज्ञी पंचेन्द्रियों में ही होता है। १

चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे च णियम बावीसा।
णियमा मणुसगईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥२२॥

बाईस प्रकृतिक स्थान का संक्रम नियम से चौदह, दस, सात और अठारह प्रकृतिक स्थानों मनुष्य गति में ही विरत, देशविरत तथा अविरत सम्यक्त्वी गुणस्थानों में होता है। २

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एक्कवीसाए।
एगाधिए वीसाए संकमो छप्पि सम्मत्ते ॥ २३ ॥

एकाधिकबीस प्रकृतिक स्थान का संक्रम तेरह, नौ, सात, सत्रह, पांच तथा इक्कीस प्रकृतिक छह स्थानों में सम्यक्त्वयुक्त गुणस्थानों में होता है।

एत्तो अवसेसा संजमम्हि उवसामगे च खवगे च।
वीसाय संकम-दुगे छक्के पणगे च बोद्धव्वा ॥२४॥

पूर्वोक्त स्थानों से शेष बचे संक्रम और प्रतिग्रह स्थान उपशमक और क्षपक संयतके ही होते हैं।

---

१ पंचिंदिएसु चेव तेवीससंकमो णाणत्थे त्ति घेतव्वं। तत्थवि सण्णीपंचिंदिएसु चेव णासण्णीसु (१०००)

२ णियमा मणुसगईए। कुदो एस णियमो ? सेसगईसु दंसणमोहक्खवणाए आणुपुव्विसंकमस्स वा असंभवादो।

बीस प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह तथा पांच प्रकृतिक दो प्रतिग्रह स्थानों में जानना चाहिये।

पंचसु च ऊणवीसा अट्ठारस चदुसु होंति बोद्धव्वा।
चोद्दस छसु पयडीसु य तेरसयं छक्क पणगम्हि ॥२५॥

उन्नीस प्रकृतिक स्थान का संक्रम पांच प्रकृतिक स्थान में होता है। अट्ठारह प्रकृतिक स्थान का संक्रम चार प्रकृतिक स्थान में होता है। चौदह प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह प्रकृति वालों में होता है। त्रयोदश प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह और पांच प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में जानना चाहिये।

पंच चउक्के बारस एक्कारस पंचगे तिग चउक्के।
दसगं चउक्क-पणगे णवगं च तिगम्मि बोद्धव्वा ॥२६॥

बारह प्रकृतिक स्थान का संक्रम पांच और चार प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। एकादश प्रकृतिक स्थान का संक्रम पांच, तीन, चार प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। दश प्रकृतिक स्थान का चार और पांच प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। नव प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थान में जानना चाहिए।

श्री ... ग्रन्थमाला
जि. बुलडाणा

अट्ठ दुग तिग चदुक्के सत्त चउक्के तिगे च बोद्धव्वा।
छक्कं दुगम्हि णियमा पंच तिगे एक्कग दुगे वा ॥२७॥

आठ प्रकृतिक स्थान का संक्रम दो, तीन तथा चार प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। सात प्रकृतिक स्थान का संक्रम चार और तीन प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में जानना चाहिये। छह प्रकृतिक स्थान का संक्रम नियम से दो प्रकृतिक स्थान में तथा पांच प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन, एक तथा दो प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थान में होता है।

चत्तारितिग चदुक्के तिण्णि तिगे एक्कगे च बोद्धव्वा।
दो दुसु एगाए वा एगा एगाए बोद्धव्वा ॥ ३८ ॥

चार प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन और चार प्रकृतिक दो प्रतिग्रह स्थानों में होता है। तीन प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन और एक प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। दो प्रकृतिक स्थान का संक्रम दो तथा एक प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थानों में होता है। एक प्रकृतिक स्थान का संक्रम एक प्रकृतिक प्रतिग्रह स्थान में होता है।

संक्रम स्थानों के अनुमार्गण [illegible] अर्थपद को कहते हैं:—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अणुपुव्वमणणुपुव्वं झीणमझीणं च दंसणे मोहे।
उवसामगे च खवगे च संकमे मग्गणोवाया ॥ ३९ ॥

प्रकृति स्थान संक्रम में आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी, दर्शनमोह के क्षय, निमित्त तथा अक्षय निमित्तक संक्रम, चारित्र मोह के उपशामना तथा क्षपणानिमित्तक संक्रम, ये छह संक्रम स्थानों के अनुमार्गण के उपाय हैं।

अब आदेश की अपेक्षा प्रश्नात्मक दो सूत्र गाथायें गुणधर आचार्य कहते हैं:—

एक्केक्कम्हि य ट्ठाणे पडिग्गहे संकमे तदुभए च।
भविया वाऽभविया वा जीवा वा केसु ठाणेसु ॥ ४० ॥

कदि कम्हि होंति ठाणा पंचविहे भावविधि विसेसम्हि।
संकमपडिग्गहो वा समाणणा वाऽध केवचिरं ॥ ४१ ॥

एक एक प्रतिग्रह स्थान, संक्रमस्थान तथा तदुभयस्थान में गति आदि मार्गणा स्थान युक्त जीवों का मार्गण करने पर भव्य

और अभव्य जीव कितने स्थान पर होते हैं तथा गति आदि शेष मार्गणा युक्त जीव किन किन स्थानों पर होते हैं ? औदयिक आदि पंचविध भावों से विशिष्ट जीवों के किस गुणस्थान में कितने संक्रम स्थान तथा प्रतिग्रहस्थान होते हैं ? किस संक्रम तथा प्रतिग्रहस्थान की समाप्ति कितने काल में होती है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इन प्रश्नों के समाधान हेतु पहले गति मार्गणा के विषय में प्रतिपादन करते हैं :—

णिरयगइ - अमर - पंचिंदियेसु पंचेव संकमट्ठाणा।
सव्वे मणुसगईए सेसेसु तिगं असण्णीसु ॥४२॥

नरकगति, देवगति, संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंचों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस प्रकृतिक पांच ही संक्रम स्थान होते हैं। मनुष्यगति में सर्व ही संक्रम स्थान होते हैं। शेष एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी जीवों में सत्ताईस, छब्बीस और पच्चीस प्रकृतिक तीन ही संक्रम स्थान होते हैं।

विशेष—सव्वे मणुसगईए-मणुसगईए सव्वाणि वि संकमट्ठाणाणि संभवंति उत्तं होइ, सव्वेसिमेव तत्थ संभवे विरोहाभावादो (१००५)—'सव्वे मणुसगईए'–इसका अर्थ यह है कि मनुष्यगति में संपूर्ण संक्रम स्थान संभव हैं क्योंकि वहां संपूर्ण संक्रमों के पाए जाने में विरोध नहीं आता है।

'सेसेसुतिगं'—सेसग्गहणेण एइंदिय-विगलिंदियाणं गहणं

'कायव्वं'—'सेसेसुतिगं'-यहां शेष ग्रहण का अभिप्राय एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—यहां पंचेन्द्रिय का चतुर्गति-साधारण अर्थ न करके तिर्यंच पंचेन्द्रिय को ही क्यों ग्रहण किया है ?

कथमेत्थ पंचिंदियग्गहणेण चउगइसाहारणेण तिरिक्खाणमेव पडिवत्ती ? ण पारिसेसियणायेण तत्थेव सप्पउत्तीए विरोहाभावादो (१००५)

समाधान—ऐसा नहीं है। पारिशेष्यन्याय से उसकी वहां ही प्रवृत्ति मानने मार्गदर्शक: आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यक्त्व और संयम मार्गणामें संक्रमस्थान—

चदुर दुग तेवीसा मिच्छत्त मिस्सगे य सम्मत्ते।
बावीस पणय छक्कं विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ४२ ॥

मिथ्यात्व गुणस्थानमें सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस तथा तेईस प्रकृतिवाले चार संक्रम स्थान होते हैं। मिश्र गुणस्थानमें पच्चीस और इक्कीस प्रकृतिक दो संक्रम स्थान होते हैं। सम्यक्त्वयुक्त गुणस्थानों तेईस संक्रमस्थान होते हैं।

संयमयुक्त प्रमत्तादि गुणस्थानों में बाईस संक्रमस्थान होते हैं। मिश्र अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, तेईस बाईस और इक्कीस प्रकृतिक पांचसंक्रम स्थान होते हैं। अविरत गुणस्थानमें सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस, बाईस और इक्कीस प्रकृतिक छह संक्रम स्थान होते हैं।

विशेष—गाथा में आगत—'मिस्सगे' शब्द द्वारा पांचवे विरताविरत गुणस्थान को ग्रहण किया गया है—"मिस्सग्गहण-मेत्थ संजमासंजमस्स संगहट्ठं (१००६)।

'सम्मत्ते' शब्द द्वारा सम्यक्त्वोपलक्षित गुणस्थान का ग्रहण किया गया है। यहां संपूर्ण संक्रमस्थान संभव हैं। "सम्मत्तो-वलक्खियगुणट्ठाणे सव्वसंकमट्ठाणसंभवो सुगमो।"

शंका—१ यहां पच्चीस संक्रमस्थान कैसे संभव होंगे?

---

१ कथमेत्थ पणुवीससंकमट्ठसंभवो त्ति णासंकणिज्जं अट्ठावीस- संतकम्मियोवसम-सम्माइट्ठिपच्छायद सम्माइट्ठिम्मि तदुवलंभादो (१००५)

समाधान---ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए। अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाले तथा उपशमसम्यक्त्व से गिरे हुए सासादन सम्यक्त्वीमें वह पाया जाता है।

मिथ्यादृष्टि के २७, २६, २५ तथा २३ प्रकृतिक चार संक्रम स्थान कहे गए हैं। सासादन सम्यक्त्वी के २५ तथा २१ दो स्थान हैं; सम्यग्मिथ्यादृष्टि के २५, २१ प्रकृतिक दो स्थान हैं। सम्यग्दृष्टि के सर्व स्थान हैं।

संयम मार्गणा की दृष्टि से सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयत के २५ प्रकृतिक स्थान को छोड़कर शेष बाईस स्थान होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महारा

परिहार विशुद्धिसंयमी के २७, २३, २२, २१, प्रकृतिक स्थान हैं। सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यात संयमी के चौबीस प्रकृतियों की सत्ता की अपेक्षा दो प्रकृतिक स्थान होता है।

लेश्या मार्गणा :—

तेवीस सुक्कलेस्से छक्कं पुण तेउ-पम्मलेस्सासु।
पणयं पुण काऊए णीलाए किण्हलेस्साए ॥ ४४ ॥

शुक्ललेश्या में तेईस स्थान हैं। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या में छह स्थान हैं (२७, २६, २५, २३, २२ और २१)। कापोत, नील और कृष्णलेश्या में पांच स्थान (२७, २६, २५, २३, २१) कहे गए हैं।

वेद मार्गणा :—

अवगयवेद–णवंसुय–इत्थी–पुरिसेसु चाणुपुव्वीए।
अट्ठारसयं णवयं एक्कारसयं च तेरसया ॥ ४५ ॥

अपगतवेदी, नपुंसकवेदी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी में आनुपूर्वी से अर्थात् क्रमशः अठारह, नौ, एकादश तथा त्रयोदश स्थान होते हैं।

विशेष—अपगतवेदी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में २७, २६, २५, २३ और २२ इन पांच स्थानों को छोड़कर शेष अष्टादश स्थान कहे हैं। नपुंसकवेदी के सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, बीस, त्रयोदश और द्वादश ये नव संक्रमस्थान होते हैं। स्त्रीवेदी के नपुंसकवेदी से उन्नीस और एकादश प्रकृतिक दो संक्रम स्थान अधिक होने से उनकी संख्या एकादश कही है। स्त्रीवेदी के एकादश स्थानों के सिवाय अष्टादश और दश प्रकृतिक दो और स्थान पुरुषवेदी के होने से वहां त्रयोदश स्थान कहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कषाय मार्गणा :—

कोहादी उवजोगे चदुसु कसाएसु चाणुपुव्वीए।
सोलस य ऊणवीसा तेवीसा चेव तेवीसा ॥ ४६ ॥

क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप चार कषायों में उपयुक्त जीवों के क्रमशः सोलह, उन्नीस, तेईस, तेईस स्थान होते हैं।

क्रोधकषायी में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, बीस, उन्नीस, अठारह, चौदह, त्रयोदश, द्वादश, एकादश, दस, चार और तीन ये सोलह संक्रम स्थान हैं।

मानकषायी में पूर्वोक्त सोलह स्थानों के सिवाय नव, आठ तथा दो इन तीन स्थानों को जोड़ने से उन्नीस स्थान कहे गए हैं। माया तथा लोभकषायी जीवों में प्रत्येक के तेवीस, तेवीस स्थान कहे हैं।

अकषायी के दो प्रकृतिक स्थान होता है। इसका कारण यह है कि चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाले उपशामक जीव के दो प्रकृतिक स्थान पाया जाता है। १

---

१ एत्थ अकसाईसु संकमणट्ठाणमेक्कं चेव लब्भदे। चउवीस-संतकम्मियोवसामगस्स उवसंतकसायगुणट्ठाणम्मि दोण्हं पयडीणं संकमोवलंभादो (१००८)

ज्ञानमार्गणा

णाणम्हि य तेवीसा तिविहे एक्कम्हि एक्कवीसा य ।
अण्णाणम्हि य तिविहे पंचेव य संकमट्ठाणा ॥४७॥

मति, श्रुत तथा अवधिज्ञानों में तेईस संक्रमस्थान होते हैं। एक अर्थात् मनःपर्ययज्ञान में पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक स्थानों को छोड़कर शेष इक्कीस संक्रम स्थान होते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग इन तीनों अज्ञानों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस प्रकृतिक पांच स्थान हैं।

विशेष—यहां 'णाणम्हि' पद में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के साथ मिश्रज्ञान का भी ग्रहण हुआ है।

शंका—सम्यग्ज्ञानों में मिश्रज्ञान का अंतर्भाव किस प्रकार संभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है। शुद्धनय की अपेक्षा सम्यग्ज्ञानों में मिश्रज्ञान के अंतर्भाव में विरोध का अभाव है। "कधंमिस्सणाणस्स सण्णाणंतब्भावो ? णो सुद्धणयाभिप्पाएण तस्स तदंतब्भाव-विरोहाभावादो" (१००८)

'एक्कम्हि' पद द्वारा मनःपर्ययज्ञान का ग्रहण किया गया है

मनःपर्ययज्ञान में पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक संक्रमस्थान असंभव हैं। "एक्कम्मि एक्कवीसाय"—"एक्कम्मि मणपज्जवणाणे एक्कवीस-संखावच्छिण्णाणि संकमट्ठाणाणि होंति, तत्थ पणुवीस छब्बीसाणमसंभवादो"

१ इस गाथा के द्वारा चक्षु, अचक्षु तथा अवधिदर्शन वाले जीवों की प्ररूपणा की गई है। उनका पृथक प्रतिपादन नहीं किया गया है। उनमें ओघ प्ररूपणा से भिन्नता का अभाव है।

---

१ एत्थ चक्खु-अचक्खु-ओहिदंसणीसु पुधपरूवणा ण कया तेसि-मोघपरूवणादो भेदाभावादो (१००८)

१ यहां मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान का त्रिविधज्ञान रूप में ग्रहण हुआ है। यहां तेईस संक्रम स्थान कहे गए हैं।

शंका—यहां तेईस संक्रम स्थान असंभव हैं। यहां पच्चीस प्रकृतिक संक्रम स्थान कैसे संभव होगा?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—सम्यग्मिथ्यादृष्टि में पच्चीस प्रकृतिक स्थान संभव है।

भव्य तथा आहार मार्गणा—

आहारय-भविएसु य तेवीसं होंति संकमट्ठाणा।
अणाहारएसु पंच य एक्कं ठाणं अभवियेसु ॥४८॥

आहारकों तथा भव्यजीवों में तेईस संक्रमस्थान होते हैं। अनाहारकों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस प्रकृतिक पंच संक्रम स्थान होते हैं।

अभव्यों में एक पच्चीस प्रकृतिक ही स्थान होता है।

अपगत वेदी—

छव्वीस सत्तावीसा तेवीसा पंचवीस बावीसा।
एदे सुण्णट्ठाणा अवगवेदस्स जीवस्स ॥४९॥

अपगतवेदी जीव के छब्बीस, सत्ताईस, तेईस, पच्चीस, बाईस प्रकृतिक संक्रमस्थान शून्य स्थान हैं। २

---

१ एत्थ तिविहणाणग्गहेण मदिसुदओहिणाणाणं संगहो कायव्वो। तेवीससंकमट्ठाणाहाराणमसंभवादो। कथमेत्थ पणुवीससंकमट्ठाण-संभवो त्ति ण संकियव्वं? सम्मामिच्छाइट्ठिम्मि तदुवलंभसंभवादो

२ पंचसंमट्ठाणाणि अवगदवेदविसए ण संभवंति तदो एदाणि तत्थ सुण्णट्ठाणाणि त्ति घेत्तव्वाणि (१००९)

नपुंसकवेदी—

उगुवीस अट्ठारसयं चोद्दस एक्कारसादिया सेसा।
एदे सुण्णट्ठाणा णवुंसए चोद्दसा होंति ॥५०॥

नपुंसक वेदियों में उन्नीस, अठारह, चौदह तथा ग्यारह को आदि लेकर शेष स्थान (दश, नौ, आठ, सात, छह, पांच, चार, तीन, दो और एक) मिलकर चौदह शून्य हैं।

स्त्रीवेदी—

अट्ठारस चोद्दसयं ठाणा सेसा य दसगयादीया।
एदे सुण्णट्ठाणा बारस इत्थीसु बोद्धव्वा ॥५१॥

स्त्रीवेदियों में अठारह, चौदह प्रकृतिक स्थान तथा दश को लेकर एक पर्यन्त दश स्थान मिलकर द्वादश शून्य स्थान जानना चाहिए।

पुरुषवेदी—

चोद्दसग-णवगमादी हवंति उवसामगे च खवगे च।
एदे सुण्णट्ठाणा दस वि य पुरिसेसु बोद्धव्वा ॥५२॥

पुरुषवेदी जीवों में, उपशामक तथा क्षपक में चौदह प्रकृतिक स्थान तथा नौ से एक पर्यन्त नौ स्थान कुल मिलकर दस स्थान शून्य स्थान हैं।

क्रोधादिकषायी—

णव अट्ठ सत्त छक्कं पणग दुगं एक्कयं च बोद्धव्वा।
एदे सुण्णट्ठाणा पढम-कसायोवजुत्तेसु ॥५३॥

प्रथम कषाय से उपयुक्त जीवों के अर्थात् क्रोधियों के नौ, आठ, सात, छह, पांच, दो और एक प्रकृतिक ये सप्त शून्य स्थान हैं।

सत्तय छक्कं पणगं च एक्कयं चेव आणुपुव्वीए ।
एदे सुण्णट्ठाणा विदिय-कसायोवजुत्तेसु ॥५४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्वितीय अर्थात् मान कषायोपयुक्तों के सात, छह, पांच, एक प्रकृतिक शून्य स्थान हैं। इस प्रकार आनुपूर्वी से शून्य स्थान कहे गए हैं।

विशेषः—यहां माया और लोभकषाय के शून्य स्थानों का कथन नहीं किया गया, क्योंकि उक्त दो कषायों में सभी संक्रम स्थान पाये जाते हैं। इस कारण उनमें शून्य स्थानों का असद्भाव है—'सेसदोकसाएसु णत्थि एसो विचारो, सव्वेसिमेव संकमट्ठाणाण तत्थासुण्णभावदंसणादो" (१००९)

दिट्ठे सुण्णासुण्णे वेदकसाएसु चेव ट्ठाणेसु ।
मग्गण-गवेसणाए दु संकमो आणुपुव्वीए ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वेद तथा कषाय मार्गणाओं में शून्य तथा अशून्य संक्रम स्थानों के दृष्टिगोचर होने पर शेष मार्गणाओं में भी आनुपूर्वी से मार्गणाओं की गवेषणा करना चाहिए।

कम्मंसियट्ठाणेसु य बंधट्ठाणेसु संकमट्ठाणे ।
एक्केक्केण समाणय बंधेण य संकमट्ठाणे ॥ ५६ ॥

कर्मांशिक स्थानों में (मोहनीय के सत्व स्थानों में) तथा बंध स्थानों में संक्रम स्थानों की अन्वेषणा करनी चाहिये। एक एक बंध स्थान और सत्वस्थान के साथ संयुक्त संक्रम स्थानों के एक संयोगी तथा द्विसंयोगी भंगों को निकालना चाहिये।

विशेषः—"कम्मंसियट्ठाणाणि नाम संतकम्मट्ठाणाणि" (१०१०) कर्मांशिक स्थानों को सत्कर्म स्थान कहते हैं। मोहनीय के सत्व स्थान अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेईस, बाईस, इक्कीस,

तेरह, बारह ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो, एक मिलाकर पंचदश सत्व-स्थान हैं।

मोहनीय के बंध स्थान-बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच चार, तीन, दो और एक मिलाकर दस बंध-स्थान हैं।

मोहनीय के पंचदश सत्व स्थानों के विषय में यह खुलासा किया गया है। दर्शन मोह की तीन प्रकृतियां, चारित्र मोह की सोलह कषाय और नव नोकषाय मिलाकर मोहनीय की २८ सत्व प्रकृतियां होती हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना होने पर २७ प्रकृति रुप स्थान होता है। मिश्र प्रकृति की भी उद्वेलना होने पर २६ प्रकृति रुप स्थान होता है। अनंतानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना होने पर २८ – ४ = २४ प्रकृति रुप स्थान होता है। मिथ्यात्व का क्षय होने पर २४ – १ = २३ प्रकृति रुप स्थान होता है। मिश्र का क्षय होने पर २२ प्रकृति रुप स्थान, सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय होने पर २१ प्रकृति रुप स्थान क्षायिक सम्यक्त्वी के पाया जाता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायाष्टक का क्षय होने से २१ – ८ = १३ प्रकृति रुप स्थान है। स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का क्षय होने पर १२ प्रकृतिक रुप स्थान होता है। स्त्रीवेद या नपुंसकवेद में से शेष बचे वेद का क्षय होने पर ११ प्रकृतिक स्थान होता है। हास्यादि षट्क का क्षय होने पर ११ – ६ = ५ प्रकृति रुप स्थान आता है। पुरुषवेद के क्षय होने पर ४ प्रकृति-रुप स्थान आता है। संज्वलन क्रोध का क्षय होने पर तीन प्रकृतिक स्थान, संज्वलन मान का क्षय होने पर दो प्रकृतिक स्थान, संज्वलन माया का अभाव होने पर संज्वलन लोभ की सत्ता युक्त एक प्रकृतिक स्थान होता है।

सूक्ष्मसांपराय (सूक्ष्म लोभ) गुण-स्थान में सूक्ष्मलोभ पाया जाता है। यहां भी पूर्ववत् लोभ प्रकृति है। इससे इसको पृथक स्थान नहीं गिना है।

गुण स्थान	सत्व स्थान	विशेष विवरण
प्रथम	तीन	२८—२७—२६
द्वितीय	एक	२८
तृतीय	दो	२८—२४
[illegible]	[illegible]	[illegible]४, २३, २२, २१
पंचम	पांच	पूर्ववत्
षष्ठम	पांच	पूर्ववत्
सप्तम	पांच	पूर्ववत्
अष्टम (उपशम श्रेणी)	तीन	२८, २४, २१
अष्टम (क्षपक श्रेणी)	एक	२१
नवम (उपशम श्रेणी)	तीन	२८, २४, २१
नवम (क्षपक श्रेणी)	नौ	२१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २, १
दशम (उ० श्रे०)	तीन	२८—२४ - २१
दशम (क्ष० श्रे०)	एक	१ सूक्ष्मलोभ
उपशांत मोह	तीन	२८—२४—२१

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मोहनीय के बंध स्थान दश कहे गए हैं। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, १६ कषाय, एक वेद, भय-जुगुप्सा तथा हास्यरति अथवा अरतिशोक रुप युगल मिलकर २२ प्रकृतिक बंध स्थान हैं।

सासादन में मिथ्यात्व रहित २१ प्रकृति का बंध स्थान है। मिश्र गुणस्थान तथा अविरत सम्यक्त्वी २१ — ४ = अनंतानुबंधी रहित १७ प्रकृतिक बंध स्थान है। संयतासंयत के अप्रत्याख्यानावरण रहित १७ — ४=१३ प्रकृतिक स्थान है। संयत के प्रत्याख्यानावरण रहित १३ — ४ = ९ प्रकृतिक स्थान है। यही क्रम अप्रमत्त संयत तथा अपूर्वकरण गुणस्थानों में है। अनिवृत्तिकरण में भय-जुगुप्सा तथा हास्य-रति रहित पांच प्रकृतिक स्थान है। पुरुषवेद का बंध रुकने पर वेद रहित अवस्था में संज्वलन ४ का बंध होगा। क्रोध रहित के ३ प्रकृति का, मानरहित के दो प्रकृतिका, माया रहित के केवल लोभ के बंध रुप एक प्रकृतिक

स्थान है। इस प्रकार २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिरूप दश बंध स्थान हैं।

बंध स्थान की प्रकृतियां	सत्व स्थानों की संख्या	विवरण
२२ प्रकृतिक स्थान	तीन	२८—२७—२६
२१ " "		
१७—१३—९ "	पांच	२८, २४, २३, २२, २१
५ प्रकृतिक स्थान	छह	२८, २४, २३, २२, २१, ११
४ " "	सात	पूर्ववत् तथा ४
३ " "	चार	२८, २४, २१ तथा ३
२ " "	चार	२८, २४, २१, २
१ " "	चार	२८, २४, २१, १

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक एक सत्वस्थान को आधार बनाकर बंध तथा संक्रम स्थानों का तथा संक्रम स्थान को आधार बनाकर सत्व तथा बंध स्थानों के परिवर्तन द्वारा द्विसंयोगी भंगों को निकालने का कथन गाथा में किया गया है। सूक्ष्म तत्व के परिज्ञानार्थी को जयधवला टीका का परिशीलन करना उपयोगी रहेगा।

प्रकृतिस्थान संक्रम—

[1]सादि य जहण्णसंकम कदिखुत्तो होइ तात्र एक्केक्के।
अविरहिद सांतरं केवचिरं कदिभाग परिमाणं ॥५७॥

---

१ सादिजहण्णगहणेण सादि-अणादि-धुव-अद्धुव-सव्व-णोसव्व-उक्कस्साणुक्कस्स—जहण्णाजहण्ण--संकम-सण्णियासपमणियोगद्दाराणं संगहो कायव्वो। संकमग्गहणमेदेसिमणियोगद्दाराणं पयडिट्ठाणसंकम विसमत्तं सूचेदि। कदिखुत्तो एदेणप्पाबहुआणियोगद्दारं सूचिदं। 'अविरहिद' ग्गहणेण एयजीवेण कालो सांतरग्गहणेण वि एयजीवेणंतरं सूचिदं। केवचिरं गहणेण दोण्हं पि विसेसणादो कदि च भागपरिमाणं णिद्देसेण भागाभागस्स संगहो कायव्वो।

एवं दव्वे खेत्ते काले भावे य सण्णिवादे य।
संकमणयं णयविदू णेया सुद-देसिद-मुदारं ॥५८॥

प्रकृतिकस्थानसंक्रम अधिकार में आदि संक्रम, जघन्य संक्रम, अल्पबहुत्व, काल, अंतर, भागाभाग तथा परिमाण अनुयोगद्वार हैं। इस प्रकार नय के ज्ञाताओं को श्रुतोपदिष्ट, उदार और गंभीर संक्रमण, द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव तथा सन्निपात (सन्निकर्ष) की अपेक्षा जानना चाहिये।

विशेष—प्रकृतिस्थान संक्रम अधिकार में कितने अनुयोगद्वार हैं, इसका कथन किया है। 'अविरहित' पद से एक जीव की अपेक्षा काल को जानना चाहिये। 'सान्तर' पद से एक जीव की अपेक्षा अंतर, 'कतिभाग' से भागाभाग, 'एवं' पद से एक भंगविचय, 'द्रव्य' पद से द्रव्यानुगम, 'क्षेत्र' पद से क्षेत्रानुगम तथा स्पर्शनानुगम, 'काल' पद से नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम और अंतरानुगम और 'भाव' पद से भावानुगम कहे गए हैं। प्रथम गाथा में आगत 'च' शब्द के द्वारा ध्रुव, अध्रुव, सर्व, नोसर्व, उत्कृष्ट और जघन्य भेद युक्त संक्रमों को सूचित किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दूसरी गाथा में आगत 'च' शब्द के द्वारा भुजाकार, पद-निक्षेप और वृद्धि आदि अनुयोग द्वारों का ग्रहण हुआ है।

---

२ एवं दव्वे खेत्त० अत्रैवमित्यनेन नानाजीवसंबंधिनो भंग-विचयस्य संग्रहः। दव्वे इच्चेदेण सुत्तावयवेण दव्वपमाणाणुगमो, खेत्तग्गहणेण खेत्ताणुगमो, पोसणाणुगमो च। कालग्गहणेण वि कालंतराणं णाणाजीवविसयाणं संगहो कायव्वो। भावग्गहणं च भावाणिओगद्दारस्स संगहणफलं। एत्थाहियारण णिद्देसो तव्विसय-परूवणाए तदाहारभावपदुप्पायणफलोत्ति दट्ठव्वो। सण्णिवादग्गहणं च सण्णियासाणियोगद्दारस्स सूचणामेत्तफलं। च सद्दो वि भुजगार-पद-णिक्खेव-वड्ढीणं सप्पभेदाणं संगाहओ। 'णयविद'-नयज्ञः 'णेया' नयेत्, प्रकाशयेदित्यर्थः (१०१५)

स्थिति संक्रमाधिकार

१ कर्मों की स्थिति में संक्रम अर्थात् परिवर्तन को स्थिति संक्रम कहा गया है। कर्मों की स्थिति का संक्रमण अपवर्तना, अथवा उद्वर्तना अथवा परप्रकृतिरूप परिणमन से भी होता है। स्थिति को घटाना अपवर्तना है। अल्पकालीन स्थिति का उत्कर्षण करना उद्वर्तना है। संक्रमयोग्य प्रकृति की स्थिति को समानजातीय अन्य प्रकृति की स्थिति में परिवर्तित करने को संक्रमण या प्रकृत्यन्तर परिणमन कहते हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ज्ञानावरणादि मूलकर्मों के स्थिति संक्रमण को मूलप्रकृति स्थितिसंक्रम कहते हैं। उत्तरप्रकृतियों के स्थिति संक्रमण को उत्तरप्रकृति स्थिति संक्रम कहते हैं।

मूलप्रकृतियों की स्थिति का संक्रमण केवल अपवर्तना और उद्वर्तना से ही होता है। उत्तरप्रकृतियों की स्थिति का संक्रमण अपवर्तना, उद्वर्तना तथा प्रकृत्यंतर-संक्रमण द्वारा होता है।

मूल प्रकृतियों का दूसरे कर्मरूप परिणमन नहीं होता है। मूल कर्मों के समान मोहनीय के भेद दर्शन–मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय का परस्पर में संक्रमण नहीं होता है। आयुकर्म की चार प्रकृतियों में भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।
जिस स्थिति में अपवर्तनादि तीनों न हों, उसे स्थिति-असंक्रम कहते हैं।

जा ट्ठिदी ओकड्डिज्जदि वा उक्कड्डिज्जदि वा अण्णपयडिं संकामिज्जइ वा सो ट्ठिदिसंकमो। सेसो ट्ठिदि असंकमो। एत्थ मूलपयडिट्ठिदीए पुण ओक्कड्डुक्कडणावसेण संकमो। उत्तर पयडिट्ठिदीए पुण ओकड्डुक्कड्डणपर–पयडिसंकंती हि संकमोदट्ठव्वो। एदेणोकड्डुणादओ जिस्से ट्ठिदीए णत्थि सा ट्ठिदी ट्ठिदि असंकमो त्ति भण्णदे (१०४१)

अनुभाग संक्रमाधिकार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कर्मों की स्वकार्योत्पादन शक्ति अथवा फलदान की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। "अणुभागो णाम कम्माणं सग-कज्जुप्पायण-सत्ती"। उस अनुभाग के संक्रमण अर्थात् स्वभावान्तर परिणमन को अनुभाग संक्रमण कहते हैं—"तस्स संकमो सहावंतर, संकंती, सो अणुभागसंकमोत्ति वुच्चइ"।

यह अनुभाग संक्रमण (१) मूल प्रकृति-अनुभाग-संक्रमण (२) उत्तरप्रकृति अनुभाग संक्रमण के भेद से दो प्रकार का है।

मूलप्रकृतियों के अनुभाग में अपकर्षणसंक्रमण, उत्कर्षण संक्रमण होते हैं। उनमें परप्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता है।

उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग में उत्कर्षण, अपकर्षण तथा परप्रकृतिरूप परिणमन होता है। (पृष्ठ १११४)

—:०:—

एत्थ मूलपयडीए मोहणीयसण्णिदाए जो अणुभागो जीवम्मि मोहुप्पायण-सत्तिलक्खणो तस्स ओकड्डुक्कड्डणावसेण भावंतरावत्ती मूलपयडि-अणुभागसंकमो णाम।

उत्तरपयडीणं मिच्छत्तादीणमणुभागस्स ओकड्डुक्कड्डणपर-पयडिसंकमेहि जो सत्ति-विपरिणामो सो उत्तरपयडिअणुभाग संकमोत्ति भण्णदे॥ (१११४)

प्रदेश-संक्रमाधिकार

जो प्रदेशाग्र जिस प्रकृति से अन्य प्रकृतिको ले जाया जाता है, वह उस प्रकृति का प्रदेशाग्र कहलाता है—"जं पदेसग्गमण्णपयडिं णिज्जदे जत्तो पयडीदो तं पदेसग्गं णिज्जदि तिस्से पयडीए सो पदेससंकमो (११९४)। जैसे मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र सम्यक्त्व प्रकृति रुप में संक्रान्त किया जाता है, वह सम्यक्त्वप्रकृति के रुप में परिणत प्रदेशाग्र मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र संक्रमण है—"जहा मिच्छत्तस्स पदेसग्गं सम्मत्ते संछुहदि तं पदेसग्गं मिच्छत्तस्स पदेससंकमो"।

इस प्रकार सर्व कर्म प्रकृतियों का प्रदेशसंक्रमण जानना चाहिए "एवं सव्वत्थ"।

यह प्रदेश संक्रमण पांच प्रकार का है। (१) उद्वेलन, (२) विध्यात, (३) अधःप्रवृत्त (४) गुणसंक्रमण (५) सर्वसंक्रमण ये पांच भेद हैं।

यह बात ज्ञातव्य है, कि जिस प्रकृतिका जहां तक बंध होता है, उस प्रकृति रुप अन्य प्रकृति का संक्रमण वहां तक होता है; जैसे असाता वेदनीय का बंध प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त होता है अतः असाता वेदनीय रुप सातावेदनीय का संक्रमण छटवें गुणस्थान-पर्यन्त होगा। सातावेदनीय का बंध सयोगी जिन पर्यन्त होता है। इससे सातावेदनीय रुप असाता वेदनीय का संक्रमण त्रयोदशगुण-स्थान पर्यन्त होता है। मूल प्रकृति में संक्रमण नहीं है। ज्ञानावरण दर्शनावरणादि रुप में परिवर्तित नहीं होगा। उत्तरप्रकृतियों में संक्रमण कहा गया है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय में परस्पर संक्रमण नहीं कहा गया है। आयु चतुष्क में भी परस्पर संक्रम नहीं होता है। यही बात आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कही है :—

बंधे संकामिज्जदि णोबंधे णत्थि मूलपयडीणं।
दंसण-चरित्तमोहे आउ-चउक्के ण संकमणं ॥ ४१० ॥

अधःप्रवृत्तादि तीन करणों के बिना ही कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रुप परिणमन होना उद्वेलन संक्रमण है। जैसे रस्सी निमित्त विशेषको पाकर उकल जाती है, इसी प्रकार इन त्रयोदश प्रकृतियों में उद्वेलन संक्रमण होता है। वे प्रकृतियां इस प्रकार हैं :—

आहारदुगं सम्मं मिस्सं देवदुग–णारय–चउक्कं।
उच्चं मणुदुगमेदे तेरस उव्वेल्लणा पयडी ॥ ४१५ । गो.क. ॥

आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, सम्यक्त्व प्रकृति, मिश्र प्रकृति, देवयुगल, नारक चतुष्क, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी ये त्रयोदश उद्वेलना प्रकृति हैं।

उन त्रयोदश उद्वेलना प्रकृतियों में मोहनीय कर्म संबंधी सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां पाई जाती हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के इन दो प्रकृतियों का सद्भाव नहीं पाया जाता है। उपशम सम्यक्त्वी जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व रुप परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति को त्रिरुपता प्राप्त होती है, जैसे यंत्र से पीसे जाने पर कोदों का त्रिविध परिणमन होता है।

गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है—

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमभावजंतेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६ ॥

यंत्र द्वारा कोदों के दले जाने पर कोंडा, धान्य तथा भुसी निकलती है, इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरुप भावों से मिथ्यात्व का मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृति रुप परिणमन होता है। वह द्रव्य असंख्यात गुणहीनक्रम युक्त होती है।

मिथ्यात्व प्रकृति का सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृतिरुप परिणमन होने के अंतर्मुहूर्त पश्चात् वह उपशम सम्यक्त्वी गिरकर मिथ्यात्वी होता है। उसके मिथ्यात्वी बनने के अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अधःप्रवृत्त

श्री ... प्रभु
... पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

संक्रमण होता है। उसके अनंतर उद्वेलना संक्रमण होता है। इसका उत्कृष्टकाल पल्योपमका असंख्यात वा भाग है। इतने काल पर्यन्त वह मिथ्यादृष्टि जीव मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृति का उद्वेलन करता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी होने के कारण अंतर्मुहूर्त पश्चात् मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण उद्वेलना करता है। पुनः द्वितीय अंतर्मुहूर्त के द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति खण्ड को उत्कीर्ण करता है। यह क्रम पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक जारी रहता है। इतने काल में दोनों प्रकृतियों का उद्वेलन द्वारा क्षय हो जाता है। यह कथन स्थिति संक्रम की अपेक्षा किया गया है।

प्रदेश संक्रमण की दृष्टि से पूर्व पूर्व स्थिति खण्ड से उत्तरोत्तर स्थिति खंडों के क्रम प्रदेश विशेषाधिक हैं। प्रथम समय में अल्प-प्रदेशों की उद्वेलना की जाती है। द्वितीयादि समयों में असंख्यात गुणित, असंख्यात गुणित प्रदेशों की उद्वेलना की जाती है। यह क्रम प्रत्येक अंतर्मुहूर्त के अंतिम समय पर्यन्त रहता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह जीव कुछ प्रदेशों की उद्वेलना कर स्वस्थान में ही नीचे निक्षिप्त करता है और कुछ को परस्थान में निक्षिप्त करता है।

प्रथम स्थिति खण्ड में से प्रथम समय में जितने प्रदेश उकेरता है, उनमें से परस्थान अर्थात् परप्रकृतिरूप में अल्पप्रदेश निक्षेपण करता है किन्तु स्वस्थान में उनसे असंख्यातगुणित प्रदेशों का अधःनिक्षेपण करता है। इससे द्वितीय समय में स्वस्थान में असंख्यातगुणित प्रदेशों का निक्षेपण करता है, किन्तु परस्थान में प्रथम समय के परस्थान-प्रक्षेप से विशेषहीन प्रदेशों का प्रक्षेपण करता है। यह क्रम प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय पर्यन्त जारी रहता है। यह उद्वेलन-संक्रमण का क्रम उक्त दोनों प्रकृतियों के उपान्त्य स्थिति खण्ड तक चलता है। अन्तिम स्थिति खण्ड में गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण होते हैं।

विध्यातसंक्रमण—जिन कर्मों का गुणप्रत्यय या भवप्रत्यय से जहां पर बंध नहीं होता, वहां पर उन कर्मों का जो प्रदेश संक्रमण होता है, उसे विध्यात संक्रमण कहते हैं।

गुणस्थानों के निमित्त से होने वाले बंध को गुण-प्रत्यय कहते हैं। जैसे मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय जाति आदि सोलह प्रकृतियों का बंध होता है। आगे के सासादन गुणस्थान में इन मिथ्यात्व निमित्तक सोलह प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाने से इनका बंध नहीं होता। वहां उक्त प्रकृतियों का जो प्रदेशसत्व है, उसका पर प्रकृतियों में संक्रमण होता है। इस संक्रमण को विध्यात संक्रमण कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिन प्रकृतियों का मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में बंध संभव है, फिर नरक, देव आदि भव विशेष के कारण (प्रत्यय) वश वहां उनका बंध नहीं होता, इसे भव-प्रत्यय अबंध कहते हैं। जैसे मिथ्यात्व गुणस्थान में एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण आदि प्रकृतियों का बंध होता है, किन्तु नारकी जीवों के नरक-भव के कारण उनका बंध नहीं होता है, कारण नारकी जीव मरकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। वे मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक कर्मभूमिया मनुष्य अथवा तिर्यंच में ही पैदा होते हैं। "णेरयियाणं गमणं सण्णीपज्जत्त-कम्मभूमि-तिरियणरे।" उन नारकी जीवों के जो पूर्व में बांधी एकेन्द्रियादि प्रकृतियां थीं, उनके प्रदेशों का परप्रकृतिरुप से संक्रमण होता रहता है। यह भी विध्यात संक्रमण है। यह संक्रमण अधः प्रवृत्तसंक्रमण के रुकने पर ही होता है।

अधः प्रवृत्तसंक्रमण—सभी संसारी जीवों के १ ध्रुव–बंधिनी प्रकृतियों के बंध होने पर तथा स्व-स्व भवबंध योग्य परावर्तन प्रकृतियों के प्रदेशों का जो प्रदेश-संक्रमण होता है, वह अधःप्रवृत्त संक्रमण है।

---

१ घादिति-मिच्छ-कसाय-भयतेजदुग-णिमिण-वण्णचओ।
सत्ते-तालधुवाणं चदुधा सेसाणयं च दुधा—गो. क. १२४

गुणसंक्रमण—अपूर्वकरणादि परिणाम विशेषों का निमित्त पाकर प्रति समय जो प्रदेशोंका असंख्यातगुणश्रेणी रूप से संक्रमण होता है, उसे गुणसंक्रमण कहते हैं।

सर्वसंक्रमण—विवक्षित कर्म प्रकृति के सभी कर्मप्रदेशों का जो एक साथ पर प्रकृति रूप में संक्रमण होता है, उसे सर्व संक्रमण कहते हैं। यह सर्व संक्रमण उद्वेलन, विसंयोजन, और क्षपणकाल में चरमस्थिति खण्ड के चरमसमयवर्ती प्रदेशों का ही होता है, अन्य का नहीं होता है।

—:०:—

॥ वेदक महाधिकार ॥

कदि आवलियं पवेसेइ कदि च पविस्संति कस्स आवलियं।
खेत्त-भव-काल-पोग्गल-ट्ठिदि-विवागोदय-खयो दु ॥५६॥

प्रयोग विशेष के द्वारा कितनी कर्म प्रकृतियों को उदयावली में प्रवेश करता है? किस जीव के कितनी कर्म प्रकृतियों को उदीरणा के बिना ही स्थिति क्षय से उदयावली में प्रवेश करता है। क्षेत्र, भव, काल और पुद्गल द्रव्य का आश्रय लेकर जो स्थिति-विपाक होता है, उसे उदीरणा कहते हैं। उदयक्षय को उदय कहते हैं।

विशेष—'वेदगेत्ति अणियोगद्दारे दोण्णि अणियोगद्दाराणि-तं जहा उदयो च उदीरणाच' वेदक अनुयोग द्वार में दो अनुयोगद्वार होते हैं, एक उदय तथा दूसरा उदीरणा है।

'तत्थ उदयोणाम कम्माणं जहाकालजणिदो फलविवागो कम्मोदयो उदयो त्ति भणिदं होइ'—कर्मों का यथाकाल में उत्पन्न फल-विपाक उदय है। उस कर्मोदय को उदय कहते हैं। "उदीरणा पुण अपरिपत्तकालाणं चेव कम्माणमुवायविसेसेण परिपाचनं

अपक्व-परिपाचनमुदीरणा इति वचनात्" उदीरणा का स्वरूप यह है, कि जो उदय को अपरिप्राप्त कर्मों को उपायविशेष (तपश्चरणादि) द्वारा परिपक्व करना–उदयावस्था को प्राप्त करना उदीरणा है। अपक्व कर्मों का परिपाचन करना उदीरणा है, ऐसा कथन है। १ कहा भी है:—

कालेण उवायेणय पच्चंति जहा वणप्फइफलाइं।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइं कम्माइं॥

जैसे अपना समय आने पर यथाकाल अथवा उपाय द्वारा वनस्पति आदि फल पकते हैं, उसी प्रकार किए गए कर्म भी यथा काल से अथवा तपश्चर्या के द्वारा परिपाक अवस्था को प्राप्त होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—कधं पुण उदयोदीरणाणं वेदगववएसो ? उदय और उदीरणा को वेदक व्यपदेश क्यों किया गया है ?

समाधान—"ण, वेदिज्जमाणत्त–सामण्णावेक्खाये दोण्हमेदेसिं तव्ववएससिद्धीए विरोहाभावादो"—ऐसा नहीं है। वेद्यमानपना की सामान्य अपेक्षा से उदय, उदीरणा दोनों को वेदक व्यपदेश करने में विरोध का अभाव है। (१३४४)

क्षेत्र पद से नरकादि क्षेत्र, भव पद से एकेन्द्रियादि भव, कालपद से शिशिर, हेमन्त आदिकाल अथवा यौवन, बुढ़ापा आदि कालजनित पर्यायों का, पुद्गल शब्द से गंध, तांबूल, वस्त्र, आभूषणादि इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए।

को कदमाए ठिदीए पवेसगो को व के य अणुभागे।
सांतर-णिरंतरं वा कदि वा समया दु बोद्धव्वा ॥६०॥

---

१ खेत्त भव-काल-पोग्गले समस्सियूण जो ट्ठिदिविवागो उदयक्खओ च सो जहाकममुदीरणा उदयो च भण्णदि त्ति। (१३४६)

कौन किस स्थिति में प्रवेशक है ? कौन किस अनुभाग में प्रवेश कराता है ? इनका सांतर तथा निरंतरकाल कितने समय प्रमाण जानना चाहिए ?

विशेष—"यहां को कदमाए ट्ठिदीए पवेसगो" इस प्रथम अवयव द्वारा स्थिति–उदीरणा सूचित की गई है। 'को व के य अणुभागे' इस द्वितीय अवयव द्वारा अनुभाग उदीरणा प्ररुपित की गई है। इसके द्वारा प्रदेश उदीरणा भी निर्दिष्ट की गई है। इसका कारण यह है कि स्थिति और अनुभाग का प्रदेश के साथ अविनाभाव है।

"सांतरणिरंतरं वा बोद्धव्वा" के द्वारा उदय और उदीरणा का सांतरकाल तथा निरंतरकाल सूचित किया गया है।

'कदि समया' वाक्य के द्वारा नाना और एक जीव संबंधी काल और अंतर प्ररुपणा सूचित की गई है। 'वा' शब्द के द्वारा समुत्कीर्तना आदि अनुयोग द्वारों की प्ररुपणा सूचित की गई है। इससे समुत्कीर्तना आदि अल्पबहुत्व पर्यंत चौबीस अनुयोग द्वारों की यथासंभव उदय और उदीरणा के विषय में सूचना की गई यह अवधारण करना चाहिये।

बहुगदरं बहुगदरं से काले को णु थोवदरगं वा।
अणुसमयमुदीरेंतो कदि वा समये उदीरेदि ॥ ६१ ॥

विवक्षित समय से अनंतरवर्ती समय में कौन जीव बहुत कर्मों की, कौन जीव स्तोकतर कर्मों की उदीरणा करता है ? प्रति समय उदीरणा करता हुआ यह जीव कितने काल पर्यन्त निरन्तर उदीरणा करता है ?

विशेष—इस गाथा के पूर्वार्ध द्वारा प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश सम्बन्धी उदीरणा विषयक भुजगार तथा अल्पतर की सूचना दी गई है। उत्तरार्ध गाथा द्वारा भुजगारविषय कालानुयोग द्वार की सूचना दी गई है। इसके द्वारा शेष अनुयोगद्वारों का

संग्रह करना चाहिए। इसके द्वारा पद-निक्षेप तथा वृद्धि की प्ररूपणा की गई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो जं संकामेदि य जं बंधदि जं च जो उदीरेदि।
कं केण होइ अहियं ट्ठिदि-अणुभागे पदेसग्गे॥ ६२॥

जो जीव स्थिति अनुभाग और प्रदेशाग्र में जिसे संक्रमण करता है, जिसे बांधता है, जिसकी उदीरणा करता है, वह द्रव्य किससे अधिक होता है?

विशेष—[1] यहां 'प्रकृति' पद अनुक्तसिद्ध है, क्योंकि प्रकृति के बिना स्थिति, अनुभागादि का होना असंभव है। बंध पद में बंध तथा सत्व का अंतर्भाव है। उदीरणा में उदीरणा तथा उदय का ग्रहण करना चाहिए।

प्रकृति उदीरणा के (१) मूलप्रकृति उदीरणा (२) उत्तर प्रकृति उदीरणा ये दो भेद कहे गये हैं। उत्तरप्रकृति उदीरणा के दो भेद हैं। एक भेद एकैकोत्तरप्रकृति-उदीरणा तथा दूसरा भेद प्रकृतिस्थान-उदीरणा है। यह सूत्र प्रकृतिस्थान उदीरणा से सम्बद्ध है, किन्तु चूर्णिकार उसके निरूपण को स्थगित करते हैं, कारण एकैक प्रकृति उदीरणा की प्ररूपणा के बिना उसका प्रतिपादन असंभव है।

एकैकप्रकृति उदीरणा के (१) एकैकमूलप्रकृति-उदीरणा (२) एकैकोत्तरप्रकृति-उदीरणा ये दो भेद हैं। इनका पृथक् पृथक् चतुर्विंशति अनुयोगद्वारों से अनुमार्गण करने के पश्चात् 'कदि आवलियं पवेसेदि' इस सूत्रावयव की अर्थविभाषा करना चाहिये।

---

१ पयडिणिद्देसाभावे ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणमभावेण पयडीए अणुत्तसिद्धत्तादो। जो जं बंधदि त्ति एदेण बंधो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेस-भेयभिण्णो घेत्तव्वो। एत्थेव संतकम्मस्स वि अंतब्भावो वक्खाणेयव्वो। उदीरणाए उदयसहगदाए गहणं कायव्वं (१३४८)।

२ एक समय में जितनी प्रकृतियों की उदीरणा संभव है उतनी प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृति-स्थान-उदीरणा कहते हैं।

इसका सत्तरह अनुयोगद्वारों से वर्णन किया गया है। समुत्कीर्तना से अल्पबहुत्व पर्यन्त अनुयोग द्वार तथा भुजगार पदनिक्षेप तथा वृद्धि द्वारा वर्णन किया गया है।

समुत्कीर्तना के स्थान समुत्कीर्तना और प्रकृति समुत्कीर्तना ये दो भेद हैं। अट्ठाईस प्रकृतिरूप स्थान को आदि लेकर गुणस्थान और मार्गणा स्थान के द्वारा इतने प्रकृति स्थान उदयावली के भीतर प्रवेश करते हैं, इस प्रकार की प्ररूपणा स्थान समुत्कीर्तना कही जाती है।

इतनी प्रकृतियों के ग्रहण करने पर यह विवक्षित स्थान उत्पन्न होता है, इस प्रकार के प्रतिपादन को प्रकृति समुत्कीर्तना या प्रकृति निर्देश कहते हैं।

स्थिति उदीरणा—

गाथा ६० में यह पद आया है 'को कदमाए ट्ठिदीए पवेसगो।' इसकी स्थिति—उदीरणा रूप व्याख्या करना चाहिये।

यह स्थिति-उदीरणा (१) मूलप्रकृति—स्थिति—उदीरणा (२) उत्तर—प्रकृति—स्थिति उदीरणा के भेद से दो प्रकार है। इनका

---

२ पयडीणं ट्ठाणं पयडिट्ठाणं पयडिसमूहोत्तिभणिदं होई। तस्स उदीरणा पयडिट्ठाणउदीरणा। पयडीणमेक्ककालम्मि जेत्तियाण-मुदीरिदु' संभवो तेत्तियमेत्तीणं समुदायो पयडिट्ठाण-उदीरणा त्ति वुत्तं भवदि। तत्थ इमाणि सत्तारसअणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति समुक्कित्तणा जाव अप्पाबहुएत्ति भुजगार-पदणिक्खेव-वड्ढीओ च (१३५९)

निरूपण (१) प्रमाणानुगम (२) स्वामित्व (३) एक जीवकी अपेक्षा काल (४) अंतर (५) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (६) काल (७) अंतर (८) सन्निकर्ष (९) अल्पबहुत्व (१०) भुजाकार (११) पदनिक्षेप (१२) स्थान (१३) वृद्धि इनके द्वारा किया गया है। (१४१६)

अनुभाग उदीरणा—

गाथा ६० में यह पद आया है "को व के य अणुभागे त्ति" कौन जीव किस अनुभाग में प्रवेश करता है ? इस कारण अनुभाग उदीरणा पर प्रकाश डालना उचित है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१ प्रयोग (परिणाम विशेष) के द्वारा स्पर्धक, वर्गणा और अविभाग प्रतिच्छेद रूप अनंत भेद युक्त अनुभाग का अपकर्षण करके तथा अनंतगुणहीन बनाकर जो स्पर्धक उदय में दिए जाते हैं, उसको अनुभाग उदीरणा कहते हैं।

जिस प्रकृतिका जो आदि स्पर्धक है, वह उदीरणा के लिए अपकर्षित नहीं किया जा सकता। "तत्थ जं जिस्से आदिफद्दयं तं ण ओकड्डिज्जदि'। इस प्रकार दो आदि अनंत स्पर्धक उदीरणा के लिए अपकर्षित नहीं किए जा सकते हैं। 'एवमणंताणि फद्दयाणि ण ओकड्डिज्जंति' (१४७८)

प्रश्न— उदीरणा के लिए अयोग्य स्पर्धक 'केत्तियाणि ?' कितने हैं ?

---

१ अणुभागा मूलुत्तरपयडीय मणंतभेयभिण्ण फद्दय—वग्गणा—विभाग—पडिच्छेदसरुवा पयोगेण परिणामविसेसेण ओकड्डियूण अणंतगुणहीणसरुवेण जमुदये दिज्जंति सा उदीरणा णाम। कुदो ? अपक्वपाचनमुदीरणे त्ति वचनात् (१४७९)

समाधान— जितने जघन्यनिक्षेप हैं और जितनी जघन्य अतिस्थापना है, उतने उदीरणा के अयोग्य स्पर्धक हैं। इससे आगे के समस्त स्पर्धक उदीरणा के लिए अपेक्षित किए जाने योग्य हैं। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज "जत्तिगो जहण्णगो णिक्खेवो जहणिया च अइच्छावना तत्तियाणि"

अनुभाग उदीरणा के (१) मूल प्रकृति अनुभाग उदीरणा (२) उत्तरप्रकृति अनुभाग उदीरणा ये दो भेद हैं।

१ मूल प्रकृति अनुभाग उदीरणा का तेईस अनुयोग द्वारों से निरुपण हुआ है।

उत्तर प्रकृति अनुभाग उदीरणा के ये चौबीस अनुयोग द्वार हैं। (१) संज्ञा (२) सर्व उदीरणा (३) नोसर्व उदीरणा (४) उत्कृष्ट उदीरणा (५) अनुत्कृष्ट उदीरणा (६) जघन्य उदीरणा (७) अजघन्य उदीरणा (८) सादि उदीरणा (९) अनादि उदीरणा (१०) ध्रुव उदीरणा (११) अध्रुव उदीरणा (१२) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व (१३) काल (१४) अन्तर (१५) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय (१६) भागाभाग (१७) परिमाण (१८) क्षेत्र (१९) स्पर्शन (२०) काल (२१) अंतर (२२) सन्निकर्ष (२३) भाव (२४) अल्पबहुत्व तथा भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि और स्थान इनके द्वारा अनुभाग उदरीणा पर प्रकाश डाला गया है।

उत्तर प्रकृति अनुभाग उदीरणा का निरुपण करते हुए चूर्णि सूत्रकार कहते हैं— 'दुविहा सण्णा घाइसण्णा ट्ठाणसण्णा च' (१४९१)

संज्ञा के (१) घाति संज्ञा (२) स्थान संज्ञा ये दो भेद हैं।

---

१ मूलपयडि-अणुभागुदीरणाए तत्थ इमाणि तेवीसमणियोग-द्दाराणि सण्णा-सव्वुदीरणा जाव अप्पाबहुएत्ति। भुजगारो पदणिक्खेवो वड्ढि उदीरणा चेदि (१४८०)

घातिसंज्ञा के देशघाती और सर्वघाती ये दो भेद हैं। स्थान संज्ञा लता, दारु, अस्थि, शैल रूप स्वभाव के भेद से चार प्रकार की कही गई है।

[1] घाति संज्ञा तथा स्थान संज्ञा का एक साथ कथन किया गया है, क्योंकि ऐसा न करने से ग्रंथ का अनावश्यक विस्तार हो जाता।

मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, क्रोध मान माया और लोभ रूप बारह कषायों की अनुभाग-उदीरणा सर्वघाती है। वह द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक है। "मिच्छत्त-बारसकसायाणुभाग-उदीरणा सव्वघादी; दुट्ठाणिया तिट्ठाणिया चउट्ठाणिया वा" (१४९१) मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यग्मिथ्यात्व की अनुभाग उदीरणा सर्वघाती तथा द्विस्थानीय है।

[2] सम्यग्मिथ्यात्व के द्वारा जीव के सम्यक्त्व गुण का निर्मूल विनाश होता है, इससे मिथ्यात्व की उदीरणा के समान ही इसकी उदीरणा है। यहां द्विस्थानिक कहा है, क्योंकि द्विस्थानिकत्व को छोड़कर प्रकारान्तर असंभव है।

[3] आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने सम्यग्मिथ्यात्व को जात्यंतर सर्वघाती कहा है।

---

[1] ताओ दो वि सण्णाओ एयपयट्टयेणेव वत्तइस्सामो पुध पुध परूवणाए गंथगउरवप्पसंगादो (१४९१)

[2] मिच्छत्तोदीरणाए इव सम्मामिच्छत्तोदीरणाए वि सम्मत्त-सण्णिदजीवगुणस्स णिम्मूलविणासदंसणादो (१४९२)

[3] सम्मामिच्छुदयेण जत्तंतरसव्वघादि-कज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१, गो.जी.॥

सम्यक्त्व प्रकृति की अनुभाग उदीरणा देशघाती है। वह एक स्थानीय और द्विस्थानिक है। "एयट्ठाणिया वा दुट्ठाणिया वा"

[1] संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और पुरुषवेद की अनुभाग-उदीरणा देशघाती भी है, सर्वघाती भी है। वह एक स्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक तथा चतुःस्थानिक भी है। "चदुसंजलण-तिवेदाणमणुभागुदीरणा देसघादी सव्वघादी वा एगट्ठाणिया वा दुट्ठाणिया, तिट्ठाणिया चउट्ठाणिया वा" (१४९२)

संज्वलन चतुष्क और वेदत्रय जघन्य अनुभाग की अपेक्षा देशघाती हैं। अजघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग की अपेक्षा दोनों रूप भी है। मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त संक्लेश और विशुद्धि के निमित्त से उक्त प्रकृतियों की अनुभाग-उदीरणा सर्वघाती तथा देशघाती दोनों हैं। संयतासंयत आदि गुणस्थानों में मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज अनुभाग-उदीरणा देशघाती मात्र है। वहां सर्वघाती उदीरणा का उस गुणस्थान रूप परिणमन के साथ विरोध है। हास्यादि छह नोकषायों की अनुभाग उदीरणा देशघाती तथा सर्वघाती भी है। द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय तथा चतुःस्थानीय भी है।

संयतासंयतादि उपरिम गुणस्थानों में हास्यादिषट्क की अनुभाग उदीरणा द्विस्थानीय है तथा देशघाती है। सासादन, मिश्र तथा अविरत सम्यक्त्वी तक द्विस्थानीय तथा देशघाती है तथा सर्वघाती भी है। मिथ्यादृष्टि की अनुभाग उदीरणा द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय तथा चतुःस्थानीय है।

---

[1] एतदुक्तं भवति-मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि ताव एदेसिं कम्माणमणु-भागुदीरणाए सव्वघादी देसघादी च होदि। संकिलेसविसोहिवसेण संजदासंजदप्पहुडि उवरि सव्वत्थेव देसघादी होदि। तत्थ सव्वघादिउदीरणाए तग्गुणपरिणामेण सह विरोहादो त्ति (१४९२)

आचार्य यतिवृषभ ने कहा है, "चदुसंलजण-णवणोकसायाणम-णुभागउदीरणा एइंदिए त्ति देसघादी होइ" (१४९२) संज्वलन चतुष्क और नोकषाय नवक की अनुभाग उदीरणा एकेन्द्रिय में देशघाती ही होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रदेश उदीरणा :—

यह प्रदेश उदीरणा (१) मूलप्रकृति प्रदेश उदीरणा (२) उत्तर प्रकृतिप्रदेश उदीरणा के भेद से दो प्रकार की है।

मूलप्रकृति प्रदेश–उदीरणा का प्रतिपादन तेईस अनुयोग द्वारों से हुआ है।

"मूलपयडिपदेसुदीरणाए तत्थेमाणि तेवीस अणिओगद्दाराणि समुक्कित्तणा जाव अप्पाबहुए त्ति भुजगार-पदणिक्खेव-वड्ढि-उदीरणा चेदि" (१५४१)

उत्तर-प्रकृति-प्रदेश-उदीरणा का वर्णन चौबीस अनुयोग द्वारों से हुआ है।

[१] मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा संयमके अभिमुख चरमसमयवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव के होती है। वह जीव मिथ्यात्व का परित्यागकर तदनंतर समयमें सम्यक्त्व और संयमको एक साथ ग्रहण करने वाला होता है।

सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा समयाधिक आवली काल से युक्त अक्षीणदर्शनमोही कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि के होती है।

---

१ मिच्छत्तस्स उक्कस्सिया पदेसुदीरणा कस्स ? संजमाभिमुह चरिमसमय-मिच्छाइट्ठिस्स से काले सम्मत्तं संजमं च पडिवज्जमाणस्स (१५४९)

सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा सर्वविशुद्ध तथा सम्यक्त्व के अभिमुख चरमसमयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के होती है । अनंतानुबंधी कषाय चतुष्टयकी उत्कृष्टप्रदेशउदीरणा सर्व विशुद्ध और संयम के अभिमुख चरमसमयवर्ती मिथ्यादृष्टि के होती है । अप्रत्याख्यानावरण की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा सर्व विशुद्ध अथवा ईषन्मध्यम परिणामवाले तथा संयम के उन्मुख चरमसमयवर्ती असंयत सम्यक्त्वी के होती है ।

प्रत्याख्यानावरण की उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा सर्वविशुद्ध या ईषन्मध्यम परिणामवाले संयमाभिमुख चरमसमयवर्ती देशव्रती के होती है ।

संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा चरमसमयवर्ती क्रोध का वेदन करने वाले क्षपक की होती है । प्रकार संज्वलन मान और मायाके विषय में जानना चाहिए ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लोभ संज्वलन की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा समयाधिकआवली-काल वाले चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानयुक्त के होती है ।

स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेशोदीरणा समयाधिक आवलीकाल वाले चरमसमयवर्ती स्त्रीवेद का वेदन करने वाले क्षपक के होती है ।

पुरुषवेद की उत्कृष्ट प्रदेशोदीरणा समयाधिक आवली काल वाले और चरम समय में पुरुषवेद का वेदन करने वाले क्षपक के होती है ।

नपुंसकवेद की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा समयाधिक आवली कालवाले चरमसमयवर्ती नपुंसकवेद का वेदन करने वाले क्षपक के होती है ।

छह कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अपूर्वकरण के अंतिम समय में वर्तमान क्षपक के होती है ।

चूर्णिसूत्रकार कहते हैं "पयडिभुजगारो ठिदिभुजगारो अणुभाग भुजगारो पदेसभुजगारो" (पृष्ठ १५८६)–प्रकृति भुजाकार, स्थिति भुजाकार, अनुभाग भुजाकार तथा प्रदेश भुजाकार रुप भुजाकार के चार प्रकार हैं। यहां भुजाकार के सिवाय पदनिक्षेप और वृद्धि उदीरणा भी विभासनीय है।

शंका — वेदक अधिकार में उदय और उदीरणा का वर्णन तो ठीक है, किन्तु यहां गाथा ६२ में बंध, संक्रम और सत्कर्म का कथन विषयान्तर सा प्रतीत होता है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— ऐसा नहीं है। उदयोदीरणविसयणिण्णयजणणट्ठमेव तेसिं पि परूवणे विरोहाभावादो" (१५७८) उदय और उदीरणा विषय–निर्णय के परिज्ञानार्थ बंध, संक्रमादि का कथन करने में कोई विरोध नहीं आता है।

श्री ... ग्रंथ ...
... जि. बुलडाणा

उपयोग अनुयोगद्वार

केवचिरं उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो।
को वा कम्मि कसाए अभिक्खमुवजोगमुवजुत्तो ॥ ६३ ॥

किस कषाय में एक जीव का उपयोग कितने काल पर्यन्त होता है ? कौन उपयोग काल किससे अधिक है ? कौन जीव किस कषाय में निरन्तर एक सदृश उपयोग से उपयुक्त रहता है ?

एक्कम्मि भवग्गहणे एक्ककसायम्मि कदि च उवजोगा।
एक्कम्मि य उवजोगे एक्ककसाए कदि भवा च ॥ ६४ ॥

एक भवके ग्रहण कालमें तथा एक कषाय में कितने उपयोग होते हैं ? एक उपयोग में तथा एक कषाय में कितने भव होते हैं ?

उवजोगवग्गणाओ कम्मि कसायम्मि केत्तिया होंति।
कदरिस्से च गदीए केवडिया वग्गणा होंति ॥ ६५ ॥

किस कषायमें उपयोग संबंधी वर्गणाएं कितनी होती हैं ? किस गति में कितनी वर्गणाएं होती हैं ?

एक्कम्हि य अणुभागे एक्क-कसायम्मि एक्ककालेण ।
उवजुत्ता का च गदी विसरिस-मुवजुज्जदे का च ॥ ६६ ॥

एक अनुभाग में तथा एक कषायमें एक काल की अपेक्षा कौनसी गति सदृशरूप से उपयुक्त होती है ? कौनसी गति विसदृशरुपसे उपयुक्त होती है ?

केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणा-कसाएसु ।
केवडिया च कसाए के के च विसिस्सदे केण ॥ ६७ ॥

सदृश कषाय—उपयोग वर्गणाओं में कितने जीव उपयुक्त हैं ? चारों कषायों से उपयुक्त सब जीवों का कौनसा भाग एक एक कषाय में उपयुक्त है ? किस किस कषायसे उपयुक्त जीव कौन कौनसी कषायों से उपयुक्त जीवराशि के साथ गुणाकार और भागहारकी अपेक्षा हीन अथवा अधिक होते हैं ?

जे जे जम्हि कसाए उवजुत्ता किण्णु भूदपुव्वा ते ।
होहिंति च उवजुत्ता एवं सव्वत्थ बोद्धव्वा ॥६८॥

जो जो जीव वर्तमान समय में जिस कषाय में उपयुक्त पाये जाते हैं, वे क्या अतीत काल में उसी कषाय से उपयुक्त थे तथा आगामी काल में क्या वे उसी कषायरुप उपयोग से उपयुक्त होंगे ?

इस प्रकार सर्व मार्गणाओं में जानना चाहिये

उवजोगवग्गणाहि च अविरहिदं काहि विरहिदं चावि ।
पढम-समयोवजुत्तेहिं चरिमसमए च बोद्धव्वा ॥६९॥ (७)

कितनी उपयोग वर्गणाओं के द्वारा कौनसा स्थान अविरहित और कौनसा स्थान विरहित पाया जाता है? प्रथम समय में उपयुक्त जीवों के द्वारा तथा इसी प्रकार अंतिम समय में उपयुक्त जीवों के द्वारा स्थानों को जानना चाहिए।

विशेष—जयधवला टीका में उपरोक्त गाथा-मालिका के विषय में इस प्रकार प्रकाश डाला गया है "एत्थ गाहासुत्तपरिसमत्तीए सत्तण्हमंकविण्णासो किमट्ठं कदो ?"—यहां गाथासूत्रों के समाप्त होने पर 'सत्त' अंक का विन्यास किस हेतु किया गया है?

एदाओ सत्त चेव गाहाओ उवजोगाणिओगद्दारे पडिबद्धाओ त्ति जाणावणट्ठं (१६१५)—ये सात गाथाएं उपयोग अनुयोगद्वार से प्रतिबद्ध हैं, इसके परिज्ञानार्थ यह किया गया है।

चूर्णिसूत्र में कहा है, "केवचिरं उवजोगो कम्हि कसायम्हि त्ति एदस्स पदस्स अत्थो अद्धापरिमाणं"—किस कषाय में कितने काल पर्यन्त उपयोग रहता है? इस पद का अर्थ अद्धा-काल परिमाण है, "अद्धा कालो तस्स परिमाणं"

इस पृच्छा के समाधानार्थ यतिवृषभाचार्य कहते हैं—"कोधद्धा, माणद्धा, मायद्धा, लोहद्धा जहण्णियाओ वि उक्कस्सियाओ वि अंतोमुहुत्तं" (१६१५)—क्रोध कषाय युक्त उपयोगकाल, मान कषाय युक्त उपयोगकाल, माया कषाय युक्त उपयोग काल तथा लोभ कषाय युक्त उपयोगकाल जघन्य से तथा उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त है।

गतियों के निष्क्रमण तथा प्रवेश की अपेक्षा चारों कषायों का जघन्यकाल एक समय भी होता है "गदीसु णिक्खमाणपवेसणेण एकसमयो होज्ज" (१६१५)

'को व केणहिओ' (गाथा ६३) किस कषायका उपयोग काल किस कषाय के उपयोग काल से अधिक है, इस द्वितीय पद का अर्थ कषायों के उपयोगकाल सम्बन्धी अल्पबहुत्व है।

मान कषायका जघन्यकाल सबसे अल्प है। क्रोध कषायका जघन्यकाल इससे विशेष अधिक है। माया कषायका जघन्यकाल क्रोध कषाय के जघन्यकालसे विशेषाधिक है। लोभ कषायका जघन्य काल माया कषाय के जघन्य काल से विशेषाधिक है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मान कषाय का उत्कृष्ट काल लोभ कषाय के जघन्यकाल से संख्यातगुणा है। क्रोध का उत्कृष्टकाल मानके उत्कृष्टकालसे विशेषाधिक है। माया का उत्कृष्टकाल क्रोध के उत्कृष्टकालसे विशेषाधिक है। लोभकषाय का उत्कृष्टकाल मायाके उत्कृष्टकालसे विशेषाधिक है।

चूर्णिसूत्र में कहा है, "पवाइज्जंतेण उवदेसेण श्रद्धाणं विसेसो अंतोमुहुत्तं" (१६१७)—प्रवाह्यमान उपदेश के अनुसार आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र ही विशेषाधिक काल जानना चाहिए।

प्रश्न—"को वुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्त भेदं ?"—प्रवाह्यमान उपदेश का क्या अभिप्राय है ?

जो उपदेश सर्व आचार्य सम्मत है, चिरकाल से अविच्छिन्न संप्रदाय द्वारा प्रवाहरूपसे चला आ रहा है, और जो शिष्य-परंपरा के द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है, वह प्रवाह्यमान उपदेश है।

चारों गतियों की अपेक्षा से कषायों के जघन्य तथा उत्कृष्टकाल के विषय में यह देखना अवधारण करने योग्य है :—

नरकगति में लोभ कषायका जघन्यकाल सर्व स्तोक है। देवगति में क्रोध का जघन्य काल उससे अर्थात् नरकगति के जघन्य लोभ काल से विशेषाधिक है। देवगति में मानका जघन्य काल देवगति के जघन्य क्रोध काल से संख्यातगुणित है। नरकगति में माया का जघन्यकाम देवगति में मान के जघन्य काल से

विशेषाधिक है। नरकगति में मानका जघन्यकाल नरकगति के जघन्य माया काल से संख्यातगुणा है। देवगति में माया का जघन्यकाल नरकगति के जघन्य मानकाल से विशेषाधिक है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनुष्य तथा तिर्यंचगति में मान का जघन्यकाल देवगति के जघन्य मायाकाल से संख्यातगुणा है। मनुष्य और तिर्यंचों के क्रोधका जघन्य काल उनके जघन्य मान काल से विशेषाधिक है। मनुष्य और तिर्यंचों के माया का जघन्यकाल उन्हीं के जघन्य क्रोध काल से विशेष अधिक है। उनके लोभ का जघन्यकाल उन्हीं मनुष्य तथा तिर्यंचगति के जघन्य माया काल से विशेषाधिक है।

नरकगति के क्रोध का जघन्यकाल मनुष्य तथा तिर्यंचयोनि के जीवों के जघन्य लोभ–काल से संख्यातगुणा है। देवगति में लोभ का जघन्य काल नरकगति के जघन्य क्रोध काल से विशेष अधिक है।

नरकगति में लोभ का उत्कृष्टकाल देवगति के जघन्य लोभ काल से संख्यातगुणित है। देवगति में क्रोध का उत्कृष्टकाल नरकगति के उत्कृष्ट लोभकालसे विशेष अधिक है।

देवगति में मानका उत्कृष्टकाल देवगति के उत्कृष्टक्रोधकाल से संख्यातगुणा है। नरकगति में मायाका उत्कृष्टकाल देवगति के उत्कृष्ट मानकाल से विशेष अधिक है। नरकगति में मानका उत्कृष्ट काल नरक गति के उत्कृष्ट माया काल से संख्यातगुणा है। देवगति में मायाका उत्कृष्ट काल नरकगति के उत्कृष्ट मान काल से विशेषाधिक है।

मनुष्य और तिर्यंचों के मान का उत्कृष्टकाल देवगति के उत्कृष्ट माया काल से संख्यातगुणा है। मनुष्य और तिर्यंचों के क्रोध का उत्कृष्टकाल उन्हीं के उत्कृष्ट मानकालसे विशेषाधिक है। मनुष्य

तिर्यंचों के माया का उत्कृष्टकाल उनके उत्कृष्ट क्रोधकाल से विशेष अधिक है। मनुष्य-तिर्यंचों के लोभ का उत्कृष्टकाल उनके माया-कालसे विशेषाधिक है।

नरकगति में क्रोध का उत्कृष्टकाल मनुष्यों तथा तिर्यंचों के उत्कृष्ट लोभकाल से संख्यातगुणा है। देवगति में लोभ का उत्कृष्ट काल नरकगति के उत्कृष्ट लोभकाल से विशेषाधिक है।

गाथा ६३ में यह कहा है "को वा कम्हि कसाए अभिक्खमुव-जोगमुवजुत्तो" ? कौन जीव किस कषाय में निरन्तर एक सदृश उपयोग से उपयुक्त रहता है ? इस विषय में यह स्पष्टीकरण किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—"अभिक्खमुवजोगमुवजुत्तो" वाक्य में आगत 'अभिक्ख-मुवजोग' अभीक्ष्ण उपयोग का क्या भाव है ?

समाधान—अभीक्ष्ण उपयोग का भाव है बार बार उपयोग। एक जीव के एक कषाय में पुनः पुनः उपयोग का जाना अभीक्ष्ण उपयोग है—"अभीक्ष्णमुपयोगो मुहुर्मुहुरुपयोग इत्यर्थः। एकस्य जीवस्यैकस्मिन् कषाये पौनःपुन्येनोपयोग इति यावत्" (१६२२)

१ ओघ की अपेक्षा लोभ, माया, क्रोध तथा मान में अवस्थित रूप परिपाटी से असंख्यात अपकर्षों के व्यतीत होने पर एकबार लोभकसाय के उपयोग का परिवर्तनवार अतिरिक्त होता है। अर्थात् अधिक होता है।

कषायों के उपयोग का परिवर्तन इस क्रमसे होता है।

---

१ ओघेण ताव लोभो मायां कोधो माणो त्ति असंखेज्जेसु आगरिसेसु गदेसु सई लोभागरिसा अदिरेगा भवदि। १६२२

क्रोध की अपेक्षा लोभ, माया, क्रोध और मान कषाय में इस अवस्थितरुप परिपाटी से असंख्यात अपकर्षों अर्थात् परिवर्तनवारों के बीत जाने पर एक बार लोभकषाय के उपयोग का परिवर्तनवार (आगरिसा) अतिरिक्त होता है। 'एत्थागरिसा त्ति वुत्ते परियट्टणवारो त्ति गहेयव्वं"

मनुष्यों और तिर्यंचों के पहिले एक अंतर्मुहूर्त पर्यन्त लोभ का उपयोग पाया जायगा। पुनः एक अंतर्मुहूर्त पर्यन्त माया कषायरुप उपयोग होगा। इसके पश्चात् अंतर्मुहूर्त पर्यन्त क्रोध कषायरुप उपयोग होगा। इसके अनन्तर अंतर्मुहूर्त पर्यन्त मान कषायरुप उपयोग होगा। इस क्रम से असंख्यातवार परिवर्तन होने पर पीछे लोभ, माया, क्रोध और मानरुप होकर पुनः लोभ कषाय से उपयुक्त होकर माया कषाय में उपयुक्त जीव पूर्वोक्त परिपाटी क्रम से क्रोध रुप से उपयुक्त नहीं होगा, किन्तु लोभ कषायरुप उपयोग के साथ अंतर्मुहूर्त रहकर पुनः माया कषाय का उल्लंघन कर क्रोध कषायरुप उपयोग को प्राप्त होगा। तदनंतर मान रुप होगा। इस प्रकार क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायों का उपयोग परिवर्तन असंख्यात बार व्यतीत हो जाने पर पुनः एक बार लोभकषाय संबंधी परिवर्तनवार अधिक होता है। "असंखेज्जेसु लोभागरिसेसु अदिरेगेसु गदेसु कोधागरिसेहि मायागरिसा आदिरेगा होइ" (१६२३)—उक्त प्रकार से असंख्यात लोभकषाय संबंधी अपकर्षों (परिवर्तनवारों) के अतिरिक्त हो जाने पर क्रोध कषाय सम्बन्धी अपकर्ष (परिवर्तनवार) अधिक होता है।

असंख्यात माया अपकर्षों के अतिरिक्त हो जाने पर मान अपकर्ष की अपेक्षा क्रोध अपकर्ष अधिक होता है।

"असंखेज्जेहिं मायागरिसेहिं अदिरेगेहिं गदेहिं माणागरिसेहिं कोधागरिसा आदिरेगा होदि (१६२४)"।

इस ओघ प्ररूपणाके समान तिर्यंचगति तथा मनुष्यगति में वर्णन जानना चाहिये "एवं ओघेण। एवं तिरिक्खजोणिगदीए मणुसगदीए च।"

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नरकगति में क्रोध, मान, पुनः क्रोध, मान इस क्रमसे सहस्त्रों परिवर्तन वारों के बीतने पर तदनंतर एक बार लोभ कषायरूप उपयोग परिवर्तित होता है। १

देवगतिमें लोभ, माया, पुनः लोभ, माया इस क्रमसे सहस्त्रों बार परिवर्तनवारों के बीतने पर तदनंतर एक बार मान कषाय संबंधी उपयोग का परिवर्तन होता है। २

मान कषाय में उपयोग संबंधी संख्यात-सहस्त्र परिवर्तनवारों के व्यतीत होने पर तदनंतर एक बार क्रोध कषायरूप उपयोग परिवर्तित होता है। ३

शंका—"एकम्मि भवग्गहणे एक्ककसायम्मि कदि च उवजोगा"—एक भव के ग्रहण करने पर तथा एक कषाय में कितने उपयोग होते हैं?

समाधान—एक नारकीके भवग्रहणमें क्रोध कषाय संबंधी उपयोग के बार संख्यात होते हैं। असंख्यात भी होते हैं। मान के उपयोग के बार संख्यात होते हैं। असंख्यात भी होते हैं। इसे

१ "णिरयगईए कोहो माणो, कोहो माणो त्ति बार-सहस्साणि परियत्तिदूण सयं माया परिवत्तदि। मायापरिवत्तेहि सहस्सेहि गदेहि लोभो परिवत्तदि" (१६२४)

२ देवगदीए लोभो माया, लोभो माया त्ति वारसहस्साणि गंतूण तदो सइं माण कसायो परिवत्तदि।

३ माणस्स संखिज्जेसु आगरिसेसु गदेसु तदो सइं कोधो परिवत्तदि (१६२६)

प्रकार माया और लोभ कषाय के बार भी जानना चाहिये। "एवं सेसासु गदीसु" (१६२९) इस प्रकार शेष अर्थात तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में वर्णन जानना चाहिये।

नरकगति के जिस भवग्रहण में क्रोध कषाय संबंधी उपयोग-बार संख्यात होते हैं, उसी भव-ग्रहणमें उसके मानोपयोगबार नियमसे संख्यात ही होते हैं। इसी प्रकार माया और लोभ संबंधी उपयोग के विषय में जानना चाहिये।

नरकगति के जिस भवग्रहण में मानोपयोग संबंधी उपयोग के बार संख्यात होते हैं, वहां क्रोधोपयोग संख्यात भी होते हैं तथा असख्यात भी होते हैं। माया के उपयोग तथा लोभ के उपयोग

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नियम से संख्यात होते हैं। जहां मायाके उपयोग संख्यात हैं, वहां क्रोधोपयोग, मानोपयोग संख्यात व असंख्यात हैं। लोभ के उपयोग नियमसे संख्यात होते हैं।

नरकगति के जिस भव-ग्रहण में लोभकषाय संबंधी उपयोगबार संख्यात होते हैं, वहां क्रोधोपयोग, मानोपयोग, मायोपयोग के बार भाज्य हैं अर्थात् संख्यात भी है, असंख्यात भी हैं।

नरकगति के जिस भवग्रहणमें क्रोधोपयोगवार असंख्यात हैं, वहां शेष कषायों के उपयोगबार संख्यात होते हैं; तथा असंख्यात भी होते हैं।

नारकी के मानोपयोगके बार जहां असंख्यात होते हैं, वहां क्रोधोपयोग के बार नियम से असंख्यात होते हैं। मानोपयोग और लोभोपयोग के बार भजनीय हैं अर्थात् संख्यात होते हैं, असंख्यात भी होते हैं। नारकी के जहां माया कषाय के उपयोगवार असंख्यात होते हैं, वहां क्रोध और मान के उपयोगवार असंख्यात होते हैं। लोभोपयोगवार संख्यात होते हैं, असंख्यात भी होते हैं।

जहां लोभोपयोग-बार असंख्यात होते हैं, वहां क्रोध, मान तथा माया कषायके उपयोगबार नियमसे असंख्यात होते हैं।

देवों में—नारकियों के समान क्रोधादि कषाय सम्बन्धी उपयोगवार कहे गए हैं। इतनी विशेषता है कि जिस प्रकार [१] नारकी जीवों के क्रोधोपयोग सम्बन्धी विकल्प हैं, उस प्रकार के विकल्प देवों में लोभोपयोग के विषय में ज्ञातव्य हैं। नारकियों के जैसे मानोपयोग के विकल्प हैं वैसे देवों के माया संबंधी विकल्प हैं। नारकियों के जैसे मायोपयोग के विकल्प है, वैसे देवों के मान संबंधी हैं। नारकियों के जैसे लोभोपयोग के विकल्प हैं, देवों के उस प्रकार क्रोधोपयोग के विकल्प हैं। (१६३१)

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—"उवजोग-वग्गणाओ कम्हि कसायम्हि केत्तिया होंति? उपयोग वर्गणाएं किस कषायमें कितनी होती हैं?

समाधान—यहां यह बात ज्ञातव्य है कि उपयोग वर्गणाएं (१) कालोपयोग-वर्गणा (२) भावोपयोग-वर्गणा के भेदसे दो प्रकार हैं।

[२] क्रोधादिकषायों के साथ जो जीव का संप्रयोग है, वह उपयोग है। कषायों के संप्रयोग रूप कषायोपयोग के काल को कषायोपयोग काल कहते हैं। वर्गणा, विकल्प तथा भेद एकार्थवाची हैं। 'वग्गणाओ वियप्पा-भेदा त्ति एयट्ठो' (१६३६)

---

१ जहा णेरइयाणं कोहोवजोगाणं वियप्पा तहा देवाणं लोभोवजोगाणं वियप्पा। जहा णेरइयाणं माणोवजोगाणं वियप्पा तहा देवाणं मायोवजोगाणं वियप्पा। जहा णेरइयाणं मायोवजोगाणं वियप्पा तहा देवाणं माणोवजोगाणं वियप्पा। जहा णेरइयाणं लोभोवजुत्ताणं वियप्पा तहा देवाणं कोहोवजोगाणं वियप्पा।

२ उवजोगो णाम कोहादिकसाएहिं सह जीवस्स संपजोगो। कालविसयादो उवजोगवग्गणाओ कोलोवजोगवग्गणाओ त्ति गहणादो।

कषायों के उदयस्थानों को भावोपयोग वर्गणा कहते हैं— "भावो-वजोगवग्गणाओ णाम कसायोदयट्ठाणाणि" (१६३७)। भाव की अपेक्षा तीव्र, मन्द आदि भावों से परिणत कषायों के जघन्य विकल्प से लेकर उत्कृष्ट विकल्प तक षड्वृद्धिक्रमसे अवस्थित उदयस्थानों को भावोपयोग वर्गणा कहते हैं। १

वे कषायोदयस्थान असंख्यातलोकों के जितने प्रदेश होंगे, उतने प्रमाण हैं। वे उदयस्थान मान कषायमें सबसे अल्प हैं। क्रोध में विशेषाधिक हैं। माया में विशेषाधिक हैं। लोभमें विशेषाधिक हैं।

दोनों प्रकारकी वर्गणा कथन, प्रमाण तथा अल्पबहुत्व आगममें विस्तार पूर्वक कहा गया है।

क्रमप्राप्त गाथा नं० ६६ को चौथी गाथा कहा है। 'एक्कम्हि य अणुभागे एक्क कसायम्मि एक्ककालेण। उवजुत्ता का च गदी विसरिसमुवजुज्जदे का च ॥' इस गाथा का अर्थ है, एक कषाय संबंधी एक अनुभाग में तथा एक ही काल में कौनसी गति उपयुक्त होती है अथवा कौनसी गति विसदृश अर्थात् विपरीत क्रमसे उपयुक्त होती है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसके समाधान में चूर्णिकार कहते हैं 'एत्थ विहासाए दोण्णि उवएसा'—इस गाथा की विभाषा में दो प्रकार के उपदेश हैं। एक उपदेश के अनुसार जो कषाय है, वही अनुभाग है। कषायसे भिन्न अनुभाग नहीं है।

क्रोधकषाय क्रोधानुभाग है। मानकषाय, मायाकषाय तथा लोभकषाय क्रमशः मानानुभाग, मायानुभाग तथा लोभानुभाग हैं। "एक्केण उवएसेण जो कसाओ सो अणुभागो, तत्थ जो कसाओ सो

---

१ भावदो तिव्वमंदादिभावपरिणदाणं कसायुदयट्ठाणाणं जहण्ण-वियप्पप्पहुडि जावुक्कस्सवियप्पोत्ति छवड्ढिकमेणावट्ठियाणं भावोवजोगवग्गणा त्ति ववएसो। भावविसेसिदाओ उवजोगवग्गणाओ भावोवजोगवग्गणाओ त्ति विवक्खियत्तादो (१६३६)

अणुभागो त्ति भणंतस्साभिप्पायो ण कसायदो वदिरित्तो अणुभागो अत्थि। कोधो कोधाणुभागो। क्रोध एव क्रोधानुभागो नान्यः कश्चिदित्यर्थः। एवं माण-माया-लोभाणं"। (१६३९)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुभाग कारण है। कषाय परिणाम उससे उत्पन्न कार्य है, इस प्रकार अनुभाग और कषाय में कार्य कारण का भेद है ऐसा नहीं कहना चाहिए अर्थात् अनुभाग और कषाय भिन्न भिन्न नहीं हैं। "अणुभागो कारणं कसायपरिणामो तक्कज्जमिदि तार्णं भेदो ण वोत्तुं जुत्तो"।

यह उपदेश प्रवाह्यमान नहीं है। प्रवाह्यमान दूसरा उपदेश है, जो कषाय और अनुभाग में भिन्नता मानता है। कार्य और कारण में भिन्नता के लिये भेद नय का अवलंबन किया गया है। कार्य ही कारण नहीं है। ऐसा मानने का निषेध है—"एत्थ वुण अण्णो कसाओ अण्णो च अणुभागो त्ति विवक्खियं कज्जकारणाणं भेदणयावलंबणादो। ण च कज्जं चेव कारणं होइ, विप्पडिसेहादो" (१६४१)

१ आर्यमंक्षु आचार्य का उपदेश अप्रवाह्यमान है तथा नागहस्ति आचार्य का उपदेश प्रवाह्यमान जानना चाहिए

नरकगति तथा देवगति में एक, दो, तीन अथवा चार कषायों से उपयुक्त जीव पाये जाते हैं। तिर्यंच तथा मनुष्यगति में चारों कषायों से उपयुक्त जीवराशि ध्रुवरूप से पाई जाती है। इस कारण उनमें शेष विकल्पों का अभाव है, "णिरयदेवगदीणमेदे वियप्पा अत्थि, सेसाओ गदीओ णियमा चदुकसायोवजुत्ताओ"।

नरकगति में यदि एक कषाय हो, तो नियमसे क्रोध कषाय होती है। यदि वहां दो कषाय होंगी तो क्रोधकषाय के साथ अन्य

---

१ अज्जमंखुभयवंताणं उवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणं उवएसो पवाइज्जंतओ त्ति घेत्तव्वो १६४१

श्री [illegible] द्रप्रभु
[illegible] पाठशाला
[illegible] जि. बुलढाणा

कषाय का संयोग होगा; जैसे क्रोध और मान, क्रोध और माया, क्रोध और लोभ। यदि तीन कषाय हों तो क्रोध के साथ अन्य कषायों का संयोग होगा; जैसे क्रोध के साथ मान और माया, अथवा क्रोध के साथ मान और लोभ अथवा क्रोध के साथ माया और लोभ तथा यदि चारों कषाय हों, तो क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय चतुष्टय रहेंगी।

जैसा नरकगति में क्रोध कषायके साथ शेष विकल्पों का स्पष्टीकरण किया गया है, उसी प्रकार देवगति में लोभ कषाय के साथ शेष विकल्पों का वर्णन जानना चाहिए।

यह भी ज्ञातव्य है कि एक एक कषाय के उदय स्थान में त्रसपर्यायिक जी[illegible] भाग मात्र होते हैं। एक एक कषाय के उपयोगकाल-स्थानमें उत्कर्षसे असंख्यात जगत् श्रेणी प्रमाण त्रस जीव रहते हैं। इससे यह अर्थ स्पष्ट होता है, कि सभी गति वाले जीव नियमसे अनेक कषाय-उदय स्थानों में तथा अनेक कषायोपयोगकाल स्थानों में उपयुक्त रहते हैं।

अल्पबहुत्व को नौ पदों द्वारा इस प्रकार कहा गया है :—उत्कृष्ट कषायोदय-स्थान में तथा उत्कृष्ट मानकषायोपयोगकाल में जीव सबसे कम हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदयस्थानमें तथा जघन्य मानकषायोपयोगकालमें जीव असंख्यातगुणित होते हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदयस्थान में और अनुत्कृष्ट-अजघन्य मानकषायोपयोग काल में जीव उपर्युक्त पद से असंख्यातगुणित होते हैं। इससे जघन्यकषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट मानकषायोपयोग कालमें जीव असंख्यातगुणित होते हैं।

इससे जघन्य कषायोदय स्थानमें तथा जघन्य मानोदय कषायोपयोग कालमें जीव असंख्यातगुणित हैं। इससे जघन्य कषायोदयस्थानमें और अनुत्कृष्ट-अजघन्य मानकषायोपयोगकालमें जीव असंख्यातगुणित होते हैं। इससे अनुत्कृष्ट-अजघन्य अनुभाग स्थानमें

और उत्कृष्ट मानकषायोपयोगकालमें जीव असंख्यातगुणित होते हैं। इससे अनुत्कृष्ट-अजघन्य अनुभाग स्थानमें तथा जघन्य मानकषायोपयोगकालमें जीव असंख्यातगुणित होते हैं। इससे अनुत्कृष्ट-अजघन्य अनुभाग स्थानमें तथा अनुत्कृष्ट अजघन्य मानकषायोपयोग काल में जीव असंख्यातगुणित होते हैं।

१ यहां जिस प्रकार नौ पदों के द्वारा मानकषायोपयोग परिणत जीवों का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार क्रोध, माया तथा लोभ इन कषायत्रयसे परिणत जीवों के अल्पबहुत्व का अवधारण करना चाहिए, कारण इनमें विशेषता का अभाव है।

परस्थान अल्पबहुत्व के विषय में चूर्णि सूत्रकार कहते हैं "एत्तो छत्तीसपदेहिं अप्पाबहुअं कायव्वं" (१६४६)। इस स्वस्थान अल्पबहुत्व से परस्थान संबंधी अल्पबहुत्व छत्तीस पदों से प्रतिबद्ध करना चाहिये

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वह छत्तीस पदगत अल्पबहुत्व इस प्रकार कहा गया है:- उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में उत्कृष्ट माया कषायके उपयोगकाल से परिणत जीव विशेषाधिक होते हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में उत्कृष्ट लोभ के उपयोगकाल से परिणत जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदयस्थान में जघन्य मानकषाय के उपयोगकाल से परिणत जीव असंख्यातगुणित होते हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में जघन्य क्रोधोपयोगकालसे परिणत जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में जघन्य माया कषाय के उपयोग काल से परिणत जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में जघन्य लोभ कषाय के उपयोग काल से परिणत जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में अजघन्य-अनुत्कृष्ट मान कषाय के उपयोग काल में जीव असंख्यात गुणे हैं।

---

१ ...णागहत्थिणा जहा माणकसायस्स णवहिं पदेहिं पयदप्पाबहुअविणिण्णओ कोह-माया-लोभाणं पि कायव्वो, विसेसाभावादो (१६४६)

इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट क्रोध के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट माया कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे उत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट लोभ के उपयोग काल में विशेषाधिक हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट मानकषाय के उपयोग काल मे जीव असंख्यात गुणित हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट क्रोध कषाय के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट माया कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट लोभकषाय के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और जघन्य मानकषाय के उपयोगकाल में जीव असंख्यातगुणे हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और जघन्य क्रोध के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और जघन्य माया कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इसके जघन्य कषायोदय स्थान में और जघन्य लोभ कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट मानकषाय के उपयोग काल में जीव असंख्यातगुणे हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट क्रोध के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में तथा अजघन्य-अनुत्कृष्ट माया के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट लोभ के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं।

इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट मान कषाय के उपयोग काल में जीव असंख्यात गुणे हैं। इससे अजघन्य अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट क्रोध के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषा-

योदय स्थान में और उत्कृष्ट माया कषाय के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और उत्कृष्ट लोभ के उपयोगकाल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और जघन्य मान के उपयोग काल में जीव असंख्यात गुणे हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और जघन्य क्रोध के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और जघन्य माया कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक होते हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और जघन्य लोभ के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे जघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट मानकषाय के उपयोग काल में जीव असंख्यात गुणित हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट क्रोधकषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट मायाकषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इससे अजघन्य-अनुत्कृष्ट कषायोदय स्थान में और अजघन्य-अनुत्कृष्ट लोभ कषाय के उपयोग काल में जीव विशेषाधिक हैं। इस प्रकार ओघकी अपेक्षा यह परस्थान अल्पबहुत्व कहा गया। 'एवं चेव तिरिक्ख-मणुसगदीसु वि वत्तव्वं'-इसी प्रकार तिर्यंच और मनुष्य गति में भी कहना चाहिए। 'णिरयगदीसु परत्थाण-अप्पाबहुअं चिंतिय णेदव्वं' नरक गति में परस्थान अल्पबहुत्व विचार करके जानना चाहिए। (पृष्ठ १६४७)

अब पंचमी गाथा "केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणा-कसाएसु" सदृश कषायोपयोग-वर्गणाओं में कितने जीव उपयुक्त हैं, की विभाषा की जाती है। ऐसा गाहा सूचनासुत्तं'-यह गाथा सूचना सूत्र है। इसके द्वारा ये अनुयोगद्वार सूचित किये गये हैं

"संतपरूवणा, दव्वपमाणं, खेत्त—पमाणं, फोसणं कालो अंतरं भागाभागो अप्पाबहुअं च"—सत्प्ररूपणा, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, स्पर्शन, काल, अन्तर, भागाभाग और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार हैं ।

उक्त अनुयोग द्वारों से कषायोपयुक्त जीवों का गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार इन त्रयोदश मार्गणा-स्थान रूप अनुगमों से अन्वेषण करना चाहिये । इसके पश्चात् चार गति सम्बन्धी अल्पबहुत्व विषयक महादंडक करना चाहिये 'महादंडयं काढूण समत्ता पंचमी गाहा ।' (१६४९) महादंडक करने पर पांचवीं गाथा का स्वरूप-प्रतिपादन पूर्ण होता है। उदाहरणार्थ एक महादंडक इस प्रकार कहा गया है ।

मनुष्यगति में मानोपयुक्त जीव सर्व स्तोक हैं। क्रोधोपयुक्त विशेषाधिक हैं। मायोपयुक्त विशेषाधिक हैं। लोभोपयुक्त विशेषाधिक हैं। नरकगति में लोभोपयुक्त मनुष्यगति की अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। मायोपयुक्त संख्यातगुणे हैं। मानोपयुक्त संख्यातगुणे हैं। क्रोधोपयुक्त संख्यातगुणित हैं।

देवगति में नरकगति के क्रोधोपयुक्तों की अपेक्षा क्रोधोपयुक्त देव असंख्यातगुण हैं। उनसे मानोपयुक्त संख्यातगुणित हैं। उनसे मायोपयुक्त संख्यातगुणे हैं। उनसे लोभोपयोक्त संख्यातगुणे हैं। तिर्यंचगति में देवगति में लोभोपयुक्त जीवों की अपेक्षा मानोपयुक्त तिर्यंच अनंतगणित हैं। उनसे क्रोधोपयुक्त विशेषाधिक हैं। उनसे मायोपयुक्त विशेषाधिक हैं। उनसे लोभोपयुक्त विशेषाधिक हैं। 'एवमेसो गइमग्गणा विसओ एगो महादंडओ' (१६५०) इस प्रकार यह गति मार्गणा संबंधी एक महादंडक हुआ । इस प्रकार इंद्रियादि मार्गणा सम्बन्धी महादंडक ज्ञातव्य हैं।

अब छठवीं गाथा "जे जे जम्हि कसाए उवजुत्ता किण्णु भूदपुव्वा ते"—जो जो जीव वर्तमान काल में जिस कषायोपयुक्त

है, अतीत काल में वे क्या उसी कषाय से उपयुक्त थे ?" के संबंधमें प्रतिपादना क्रमागत है।

इस विषय में इस प्रकार प्ररूपणा है —जो जीव वर्तमान समय में मान कषायोपयुक्त हैं, वे अतीत कालमें मान काल नोमानकाल तथा मिश्रकाल में थे।

जिस कालविशेष में वर्तमान कालीन मानकषायोपयुक्त जीव-राशि मानोपयोग से परिणित पाई जाती है, वह काल मानकाल है। इस जीवराशि में से जिस काल विशेष में एक भी जीव मानकषाय में उपयुक्त न होकर क्रोध, माया तथा लोभकषायों में यथा विभाग परिणत हो, उस काल को नोमानकाल कहते हैं। यहां विवक्षित मान से अतिरिक्त शेष कषाय नोमान कहे जाते हैं। इसी विवक्षित जीवराशि में से जिसकाल में अल्प जीव राशि मानकषायसे उपयुक्त हो तथा थोड़ी जीवराशि क्रोध, मान तथा लोभकषाय से यथासंभव उपयुक्त होकर परिणत हो, उस काल को मिश्र काल कहते हैं। (१६५१)

इस प्रकार क्रोध कषायमें, माया कषाय में तथा लोभ कषायमें तीन प्रकार का काल होता है। इस प्रकार मानकषायोपयुक्त जीवों का काल बारह प्रकार होता है।

जो जीव वर्तमानकाल में क्रोधोपयुक्त हैं, उनका अतीत काल में 'माणकालो णत्थि, णोमाणकालो मिस्स कालो य'—मान काल नहीं है, किन्तु नोमानकाल तथा मिश्रकाल ये दो ही काल होते हैं। क्रोधोपयुक्त जीवों के एकादश प्रकारका काल अतीत काल में व्यतीत हुआ।

जो इस समय मायोपयुक्त हैं, उनके अतीतकाल में द्विविध-मानकाल, द्विविध क्रोधकाल, त्रिविध मायाकाल तथा तीन प्रकार का लोभकाल इस प्रकार मायोपयुक्त जीवों के अतीत काल में

दशविध काल व्यतीत हुआ। 'एवं मायोवजुत्ताणं दसविहा कालो'— इस मायोपयुक्त जीवों में दशविध काल है। जो इस समय लोभ कषाय से उपयुक्त जीव हैं, उनके अतीत काल में द्विविध मान काल, द्विविध क्रोध काल, द्विविध माया काल, तथा त्रिविध लोभ काल इस प्रकार लोभोपयुक्त जीवों के अतीत काल में नवविध काल व्यतीत हुआ।

इस प्रकार सब भेद मिलकर १२+११+१०+९=४२ ब्यालीस भेद होते हैं। इनमें से अल्पबहुत्व कथन हेतु द्वादश स्व-स्थान पदों को ग्रहण करना चाहिए, "एत्तो बारस सत्थाण पदाणि गहियाणि" वर्तमान में लोभोपयुक्त जीवों का लोभ काल स्तोक है। मायोपयुक्तों का माया काल अनंत गुणित है। क्रोधोपयुक्तों का क्रोधकाल अनंतगुणित है। मानोपयुक्तों का मानकाल अनंत गुणित है।

लोभोपयुक्तों का नोलोभ काल पूर्वोक्त मानोपयुक्तों के काल से अनंत गुणित है। मायोपयुक्तों का नोमायाकाल अनंत गुणा है। क्रोधोपयुक्तों का नोक्रोधकाल अनंत गुणित है। मानोपयुक्तों का नोमान काल अनंतगुणित है।

मानोपयुक्तों का मिश्रकाल पूर्वोक्त मानोपयुक्तों के नोमान काल की अपेक्षा अनंतगुणित है। क्रोधोपयुक्तों का मिश्रकाल विशेषाधिक है। मायोपयुक्तों का मिश्रकाल विशेषाधिक है। लोभोपयुक्तों का मिश्रकाल विशेषाधिक है। (१६५४-१६५७)

इस प्रकार ब्यालीस पदों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए 'एत्तो बादालीस-पदप्पा-बहुअं कायव्वं'। इस विषय में वीरसेन आचार्य कहते हैं "बादालीस-पदमप्पा-बहुअं संपहिकाले विसिट्ठोवएसाभा-वादो ण सम्ममवगम्मदि त्ति ण तव्विवरणं कीरदे (१६५७-ब्यालीस पदों का अल्पबहुत्व सम्बन्धी विशिष्ट उपदेश का इस काल में अभाव होने से उसका अवबोध नहीं होने से उसका विस्तार नहीं किया गया है।

सातवी गाथा—'उवजोगवग्गणाहिय अविरहिदं' काहि विरहियं वा वि'—कितनी उपयोग वर्गणाओं में कौन स्थान अविरहित तथा कौन स्थान विरहित पाया जाता है, के पूर्वार्ध के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है।

उपयोग वर्गणाएं (१) कषायोदय स्थान (२) उपयोग काल के भेद से दो प्रकार हैं *

क्रोधादि प्रत्येक कषाय के जो असंख्यात लोक प्रमाण उदयानुभाग सम्बन्धी विकल्प हैं, उन्हें कषायोदयस्थान कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
क्रोधादि प्रत्येक कषाय के जो जघन्य उपयोग काल से लेकर उत्कृष्ट उपयोग काल तक भेद हैं, उन्हें उपयोग-काल-स्थान कहते हैं। "एदाणि दुविहाणि विट्ठाणाणि उवजोग—वग्गणाओ त्ति वुच्चंति" (१६५८) इन दोनों प्रकार के स्थानों को उपयोग वर्गणा कहते हैं।

शंका—किन जीवों से किस गति में निरन्तर स्वरूप से उपयोग काल स्थानों के द्वारा कौन स्थान विरहित है और कौन स्थान अविरहित सहित पाया जाता है।

समाधान—इस अर्थ विशेष सूचक ये नरकादि मार्गणाएं कही जाती हैं। नरकगति में एक जीव के क्रोधोपयोग काल-स्थानों में नाना जीवों की अपेक्षा यवमध्य होता है। यह यवमध्य संपूर्ण उपयोग-अद्धा स्थानों के संख्यातवें भाग रूप होता है। यवमध्य के ऊपर और नीचे एक गुण-वृद्धि और एक गुण हानिरूप स्थान आवली के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

यवमध्य के अधस्तनवर्ती सर्वगुणहानि स्थानान्तर जीवों से आपूर्ण हैं; किन्तु सर्व अद्धा स्थानों का असंख्यात बहुभाग ही आपूर्ण है अर्थात् असंख्यातैकभाग जीवों से विरहित पाया जाता है।

---

* एत्थ दुविहाओ उवओगवग्गणाओ कसायउदयट्ठाणाणि च उवजोगद्धट्ठाणाणि च। पृ. १६५७

यवमध्य के उपरितन गुणहानि स्थानान्तरों का जघन्य से संख्यातवां भाग जीवों से अविरहित (परिपूर्ण) है और उत्कर्ष से सर्वगुण-हानि-स्थानान्तर जीवों से परिपूर्ण है। जघन्य से यवके मध्य के उपरिम उपयोग काल स्थानों का संख्यातवां भाग जीवों से आपूर्ण है और उत्कर्ष से अद्धा स्थानों का असंख्यात बहुभाग आपूर्ण है। (१६५८–६०)। यह कथन प्रवाह्यमान उपदेश की अपेक्षा है, 'एसो उवएसो पवाइज्जइ' (१६६१)

अप्रवाह्यमान उपदेश की अपेक्षा सभी यवमध्य के नीचे तथा ऊपर के सर्वगुणहानि स्थानान्तर सर्वकाल जीवों से अविरहित अर्थात् परिपूर्ण पाए जाते हैं। उपयोगकालों का असंख्यात बहुभाग जीवों से परिपूर्ण [illegible] भाग जीवों से शून्य पाया जाता है ।

इन दोनों ही उपदेशों की उपेक्षा त्रस जीवों के कषायोदय स्थान जानना चाहिये। 'एदेहि दोहि उवदेसेहि कसायुदयट्ठाणाणि णेदव्वाणि तसाणं। (१६६२)

(१) कषायोदय स्थान असंख्यातलोक प्रमाण हैं। असंख्यात लोकों के जितने आकाशों के प्रदेश होते हैं, उतने कषायोदय स्थान होंगे। असंख्यातलोक प्रमाण कषायोदय स्थान त्रस जीवों से परिपूर्ण हैं। (२)

अतीत काल की अपेक्षा कषायोदय स्थानों पर त्रस जीव यवमध्य के आकार से रहते हैं। जघन्य कषायोदयस्थान पर त्रस जीव स्तोक हैं। द्वितीय कषायोदयस्थान पर उतने ही जीव हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकस्थानों में उतने ही जीव हैं। तद–

---

(१) असंखेज्जाणं लोगाणं जत्तिया आगास पदेसा अत्थि तत्तियमेत्ताणि चेव कसायुदयट्ठाणाणि होंति त्ति भणिदं होइ (१६६२)

(२) तेसु जत्तिगा तसा तत्तियमेत्ताणि आवुण्णाणि ।

नंतर अन्य स्थान पर एक जीव पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक रहता है। तदनंतर असंख्यात लोक प्रमाण स्थानों पर उतने ही जीव रहते हैं। तदनंतर अन्य आगे वाले स्थान पर एक जीव पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक रहता है। इस प्रकार एक एक जीव के बढ़ने पर
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
उत्कर्ष से एक कषायोदय स्थान पर आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण त्रस जीव पाये जाते हैं।

एक कषायोदय स्थान पर उत्कर्ष से जितने जीव होते हैं, उतने ही जीव अन्य स्थान पर पाए जाते हैं। इस प्रकार क्रम असंख्यात लोक प्रमाण कषायोदय स्थानों पर्यन्त है। असंख्यात लोकों के व्यतीत होने पर यवमध्य होता है। अनंतर अन्य स्थान एक जीव से न्यून होता है। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण स्थान तुल्य जीव वाले हैं। इस प्रकार शेष स्थानों पर भी जीव का अवस्थान ले जाना चाहिए।

यहां स्थावर जीवों के विषय में यवमध्य रचना नहीं कही गई है, क्योंकि उनकी यवमध्य रचना अन्य प्रकार है।

सातवी गाथा के उत्तरार्ध में लिखा है, "पढमसमयोवजुत्तेहिं चरिम समए च बोद्धव्वा"—प्रथम समय में उपयुक्त जीवों के द्वारा स्थानों को जानना चाहिए।

यहां (१) द्वितीयादिका (२) प्रथमादिका (३) चरमादिका रूप से तीन प्रकार की श्रेणी कही गई है। श्रेणी का वाच्यार्थ पंक्ति या अल्पबहुत्व की परिपाटी है—"सेडी पंती अप्पाबहुअ-परिवाडित्ति एयट्ठो" (१६७२)

जिस अल्पबहुत्व परिपाटी में मानसंज्ञित दूसरी कषाय से उपयुक्त जीवों को आदि लेकर अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है, उसे द्वितीयादिका श्रेणी कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यञ्चों की अपेक्षा कथन है। इनमें ही मान कषाय से उपयुक्त जीव सबसे कम पाए जाते हैं।

जिस अल्प बहुत्व परिपाटी में प्रथम कषाय क्रोध से उपयुक्त जीवों को आदि लेकर अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है, उसे प्रथमादिका श्रेणी कहते हैं। यह देवगति में ही संभव है, कारण वहां ही क्रोध कषाय से उपयुक्त जीव सर्व स्तोक हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस अल्पबहुत्व परिपाटी में अंतिम कषाय लोभ को आरंभ कर अल्पबहुत्व का कथन किया गया है, उसे चरमादिका श्रेणी कहते हैं। यह नारकी जीवों में संभव है, कारण नरक गति में ही लोभ कषाय से उपयुक्त जीव सर्व स्तोक हैं।

गाथा में आगत 'च' शब्द द्वारा द्वितीयादिका श्रेणी सूचित की गई है। द्वितीयादिका श्रेणी सम्बन्धी अल्पबहुत्व मनुष्यों और तिर्यंचों की अपेक्षा जानना चाहिये, कारण यह श्रेणी उनमें ही संभव है।

१ मानकषाय से उपयुक्त जीवों का प्रवेशनकाल सर्वस्तोक है। क्रोधोपयुक्त जीवों का प्रवेशनकाल विशेषाधिक है। इसी प्रकार माया और लोभ कषायोपयुक्त जीवों का वर्णन है।

२ यह विशेषाधिक कथन अप्रवाह्यमान उपदेश से पल्योपम के असंख्यातवें भाग है तथा प्रवाह्यमान उपदेश से आवली के असंख्यातवें भाग है।

इस प्रकार उपयोग अनुयोग द्वार समाप्त हुआ।

---

१ कथं पुनः प्रवेशनशब्देन प्रवेशकालो गृहीतुं शक्यत इति नाशंकनीयम् प्रविशत्यस्मिन्काले इति प्रवेशनशब्दस्य व्युत्पादनात्। (१६७३)

२ एसो विसेसो एक्केण उवदेसेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो-पडिभागो। पवाइज्जंतेण आवलियाए असंखेज्जदिभागो।

चतुः स्थान अनुयोग द्वार

कोहो चउव्विहो वुत्तो माणोवि चउव्विहो भवे।
माया चउव्विहा वुत्ता लोभो विय चउव्विहो ॥७०॥

क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। मान भी चार प्रकार का है। माया भी चार प्रकार की कही गई है। लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है।

विशेष—यहां क्रोधादि के भेद अनंतानुबंधी आदि की विवक्षा नही की गई है; क्योंकि उनका प्रकृति विभक्ति आदि में पहले ही मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज पूर्ण निर्णय हो चुका है। इस अनुयोग द्वार में लता, दारु, अस्थि, शैल आदि स्थानों का वर्णन होने से चतुः स्थान अनुयोगद्वार नाम सार्थक है।

"कोहो दुविहो सामण्ण कोहो विसेसकोहो चेदि" (१६७६)—क्रोध (१) सामान्य क्रोध (२) विशेष क्रोध के भेद से दो प्रकार है।

णग-पुढवि-वालुगोदय-राई-सरिसो चउव्विहो कोहो।
सेल-घण-अट्ठि-दारुअ-लदा समाणो हवदि माणो ॥७१॥

क्रोध चार प्रकार का है। नगराजि अर्थात् पर्वत की रेखा समान, पृथ्वी की राजि[1] समान, बालुका राजि समान और जल की रेखा समान वह चार प्रकार है।

मान—शैलघन समान, अस्थि समान, दारु (काष्ठ) समान तथा लता समान चतुर्विध है।

---

१ राइसद्दो रेहा पज्जाय वाचओ घेत्तव्वो (पृष्ठ १६७७)

सिल-पुढविभेद धूली-जल-राइ-समाणओ हवे कोहो।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८४ ॥
सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥२८५॥ जी. गो.

विशेष—दीर्घकाल तक रहने वाला क्रोध पर्वत की रेखा समान कहा गया है। उसकी अपेक्षा अल्पकाल स्थायी क्रोध पृथ्वी की रेखा सदृश होता है। बालुका की रेखा सदृश क्रोध उससे भी अल्पकाल पर्यन्त रहता है तथा जल की रेखा समान क्रोध अल्प समय पर्यन्त रहता है।

जो मान दीर्घ समय पर्यन्त रहता है वह शैलघन या शिला स्तंभ के समान है। जो उसकी अपेक्षा कम कठोरतापूर्ण रहता है, वह अस्थि समान है। जो उससे भी विशेष कोमलता युक्त मान है, वह दारु-काष्ठ समान है तथा जो मान लता के समान मृदुता युक्त हो तथा जो शीघ्र दूर हो जाय, उसको लता सदृश मान कहा है।

[illegible] सरिसी य गोमुत्ती।
अवलेहणी समाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥७२॥

बांस की जड़ समान, मेंढे के सींग समान, गोमूत्र के समान तथा अवलेखनी अर्थात् दातौन या जीभी के समान माया चार प्रकार की है।

विशेष—अत्यंत भयंकर कुटिलतापूर्ण माया बांस की जड़ के समान है। उससे भी न्यून वक्रता या माया गोमूत्र समान है। उससे भी कम कुटिलता युक्त माया दातौन समान है।[1]

किमिरायरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो।
हालिद्दवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥७३॥

कृमिराग के समान, अक्षमल अर्थात् गाड़ी के औंगन के समान, पांशुलेप अर्थात् धूली के लेप समान तथा हारिद्र अर्थात् हल्दी से रंगे वस्त्र के समान लोभ चार प्रकार का कहा गया है।[2]

---

१ वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामर-गईसु खिवदि जियं ॥२८६॥

२ किमिराय-चक्क-तणुमल-हारिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो ॥२८७॥ गो. जी.

विशेष—अत्यंत तीव्र लोभ को कृमिराग सदृश कहा है[१]। कृमिराग कीट विशेष है। वह जिस रंग का आहार करता है, उसी रंग का अत्यंत चिकना डोरा वह अपने मल द्वार से बाहर निकालता है। उसका जो वस्त्र बनता है, उसका रंग कभी भी नहीं छूटता है। इसी प्रकार तीव्र लोभ का परिणाम होता है। उसकी अपेक्षा न्यूनता युक्त लोभ को गाड़ी के औंगन समान कहा है। गाड़ी का औंगन वस्त्रादि पर लगने पर कठिनता से छूटता है। उससे न्यून लोभ पांशुलेप अर्थात् धूलि लेप सदृश होता है। हल्दी का रंग शीघ्र छूटता है तथा धूप आदि से वह शीघ्र दूर हो जाता है, इस प्रकार मंदता युक्त जो लोभ है, उसे हारिद्र सदृश कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एदेसिं ट्ठाणाणं चदुसु कसाएसु सोलसण्हं पि।
कं केण होइ अहियं ट्ठिदि-अणुभागे पदेसग्गे ॥७४॥

इन अनंतर प्रतिपादित चारों कषायों संबंधी सोलह स्थानों में स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा कौन स्थान किससे अधिक होता है (अथवा कौन स्थान किससे हीन होता है ?)

माणे लदासमाणे उक्कस्सा वग्गणा जहण्णादो।
हीणा च पदेसग्गे गुणेण णियमा अणंतेण ॥७५॥

लता समान मान में उत्कृष्ट वर्गणा (अंतिम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा) जघन्य वर्गणा से (प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा) प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनंतगुणीहीन है।

---

१ कृमिरागो नाम कीटविशेषः। स किल यद्वर्णमाहारविशेषमभ्यवहार्यते तद्वर्णमेव सूत्रमति श्लक्ष्णमात्मनो मलोत्सर्गद्वारेणोत्सृजति, तत्स्वाभाव्यात्। लोभपरिणामोपि यस्तीव्रतरो जीवस्य हृदयवर्ती न शक्यते परासयितुं स उच्यते कृमिरागरक्तसमक इति (१६७७)

विशेष—इस गाथा के द्वारा स्वस्थान अल्पबहुत्व की सूचना
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
दी गई है। जैसे लता स्थानीय मान को उत्कृष्ट और जघन्य वर्गणाओं में अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार शेष पंद्रह स्थानों में भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

णियमा लदासमाणो दारुसमाणो अणंतगुणहीणो।
सेसा कमेण हीणा गुणेण णियमा अणंतेण ॥७६॥

लता समान मानसे दारु समान मान प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनंतगुणित हीन है। इसी क्रम से शेष अर्थात् दारु समान मान से अस्थि समान मान तथा अस्थि समान मानसे शैलसमान मान नियम से अनंतगुणित हीन हैं।

णियमा लदासमाणो अणुभागग्गेण वग्गणग्गेण।
सेसा कमेण अहिया गुणेण णियमा अणंतेण ॥७७॥

लता समान मानसे शेष स्थानीय मान अनुभाग्र तथा वर्गणाग्र की अपेक्षा क्रमशः नियम से अनंतगुणित अधिक होते हैं।

विशेष— [१] यहां अग्र शब्द समुदायका वाचक है। अनुभाग के समूह को अनुभागाग्र, वर्गणा के समूह को वर्गणाग्र कहते हैं। अथवा अनुभाग ही अनुभागाग्र, वर्गणा ही वर्गणाग्र जानना चाहिये। अग्रशब्द का अविभाग प्रतिच्छेद भी अर्थ होता है। इस दृष्टि से यह भी अर्थ किया जा सकता है, कि लता स्थानीय मान के अनुभाग संबंधी अविभाग-प्रतिच्छेदों के समुदाय से दारु स्थानीय मान के अनुभाग संबंधी अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह अनंतगुणा है। दारु स्थानीय से अस्थि संबंधी तथा अस्थि संबंधी से शैल संबंधी अविभाग-प्रतिच्छेद अनंतगुणित हैं।

---

१ एत्थ अग्गसद्दो समुदायत्थवाचओ। अणुभागसमूहो अणुभागग्गं, वग्गणासमूहो वग्गणाग्गमिदि। अथवा अणुभागो चेव अणुभागग्गं, वग्गणाओ चेव वग्गणाग्गमिदि घेतव्वं (१६७९)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संधीदो संधी पुण अहिया णियमा होइ अणुभागे।
हीणा च पदेसग्गे दो वि य णियमा विसेसेण ॥७८॥

विवक्षित संधि से अग्रिम संधि अनुभाग की अपेक्षा नियम से अनंतभागरूप विशेष से अधिक होती है तथा प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनंतभाग से हीन होती है।

विशेष—विवक्षित कषाय की विवक्षित स्थान की अंतिम वर्गणा तथा उससे आगे के स्थान की आदि वर्गणा को संधि कहते हैं। उदाहरणार्थ "लदासमाणचरिम-वग्गणा दारुअसमाण पढमवग्गणा च दो वि संधि त्ति वुच्चंति" लता समान अंतिम वर्गणा तथा दारु समान प्रथम वर्गणा इन दोनों को संधि समान कहते हैं। "एवं सेससंधीणं अत्थो वत्तव्वो" (१६८०) इसी प्रकार शेष संधियों का अर्थ कहना चाहिये।

विवक्षित पूर्व संधि अनुभाग की अपेक्षा नियम से अनंतभाग से अधिक होती है, किन्तु प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनंतवेंभाग से हीन होती है। जैसे मान कषाय के लता स्थान की अंतिम वर्गणा रूप संधि से दारु स्थान की आदि वर्गणा रूप संधि अनुभाग की अनंतवें भाग से अधिक है किन्तु प्रदेशों की अपेक्षा अनंतवें भाग से हीन है। यही नियम क्रोध, मान, माया तथा लोभ के सोलह स्थान संबंधी प्रत्येक संधि पर लगाना चाहिये।

सव्वावरणीयं पुण उक्कस्सं होइ दारुअसमाणे।
हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिल्लं ॥७९॥

दारु समान स्थान में जो उत्कृष्ट अनुभाग के अंश हैं, वे सर्वघाती हैं। उससे अधस्तन भाग देशघाती है तथा उपरितन भाग सर्वघाती है।

विशेष—अस्थि और शैलस्थानीय अनुभाग सर्वघाती है तथा लता स्थानीय अनुभाग देशघाती है। दारु स्थानीय अनुभाग में

उपरितन अनंतबहुभाग सर्वघाती है तथा अधस्तन जो एक अनंतवां भाग है, वह देशघाती है।

एसो कमो य माणे मायाए णियमसा दु लोभे वि।
सव्वं च कोहकम्मं चदुसु ट्ठाणेसु बोद्धव्वं ॥८०॥

यही क्रम नियम से मान, माया, लोभ और क्रोध कषाय संबंधी चारों स्थानों में पूर्णतया जानना चाहिए।

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एदेसिं ट्ठाणाणं कदमं ठाणं गदीए कदमिस्से।
बद्धं च बज्झमाणं उवसंतं वा उदिण्णं वा ॥८१॥

इन पूर्वोक्त स्थानों में से कौन स्थान किस गति में बद्ध, बध्यमान, उपशांत अथवा उदीर्ण रूप में पाया जाता है।

सण्णीसु असण्णीसु य पज्जत्ते वा तहा अपज्जत्ते।
सम्मत्ते मिच्छत्ते य मिस्सगे चेव बोधव्वा ॥८२॥

पूर्वोक्त सोलह स्थान यथासंभव संज्ञियों में, असंज्ञियों में, पर्याप्त में, अपर्याप्त में, सम्यक्त्व में, मिथ्यात्व में तथा मिश्र में जानना चाहिये।

४ विशेष—"एत्थ सण्णीसु असण्णीसु य इच्चेदेण सुत्तावयवेण सण्णिमग्गणा पयदपरुवणा-विसेसिदा गहिया।"

४ "पज्जत्ते वा तहा अपज्जत्ते एदेणावि सुत्तावयवेण काय-इंदिय-मग्गाणं संगहो कायव्वो, सम्मत्ते मिच्छत्ते एदेण वि गाहापच्छद्धेण सम्मत्तमग्गणा सूचिदा" (१६८२)

५ यहां 'संज्ञी असंज्ञी पदों से' संज्ञी मार्गणा रूप प्रकृत प्ररूपणा को विशेष रूप से लिया है। 'पर्याप्त तथा अपर्याप्त' इस सूत्रांश से काय और इंद्रिय मार्गणा का संग्रह करना चाहिये। 'सम्यक्त्व

मिथ्यात्व' इस गाथा के अंतिम अर्ध अंश से सम्यक्त्व मार्गणा सूचित की गई है ।

विरदीए अविरदीए विरदाविरदे तहा अणागारे ।
सागारे जोगम्हि य लेस्साए चेव बोधव्वा ॥८३॥

अविरति में, विरताविरत में, विरत में, अनाकार उपयोग में, साकार उपयोग में, योग में तथा लेश्या में पूर्वोक्त स्थान जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—[१] अविरति, विरताविरत, विरति शब्दों से संयम-मार्गणा की सूचना दी गई है। अनाकार पद द्वारा दर्शन मार्गणा की, साकार पदसे ज्ञानमार्गणा की, योगपद से योग मार्गणा की और लेश्या पद से लेश्यामार्गणा की सूचना की गई है । 'चेव' पद से शेष पांच मार्गणाओं का संग्रह किया गया है ।

कं ठाणं वेदंतो कस्स व ठाणस्स बंधगो होइ ।
कं ठाण-मवेदंतो अबंधगो कस्स ठाणस्स ॥८४॥

कौन जीव किस स्थान का वेदन करता हुआ किस स्थान का बंधक होता है तथा कौन जीव किस स्थान का अवेदन करता हुआ किस स्थान का अबंधक होता है ?

---

१ विरदीय अविरदीय इच्चेदेण पढमावयवेण संजममग्गणा णिरवसेसा गहेयव्वा । 'तहा अणागारेत्ति' भणिदे दंसणमग्गणा घेत्तव्वा । सागारेत्ति भणिदे णाणमग्गणा गहेयव्वा । 'जोगम्हि य' एवं भणिदे जोगमग्गणा घेत्तव्वा । लेस्साए त्ति वयणेण लेस्सामग्गणाए गहणं कायव्वं । एत्थतण चेव सद्देणावुत्त समुच्चयट्ठेण वुत्त-सेस-सव्व-मग्गणाणं संगहो कायव्वो (१६८२)

विशेष—[१] इस गाथा के द्वारा ओघ और आदेश की अपेक्षा चारों कषायों के सोलह स्थानों का बंध और उदय के साथ सन्निकर्ष की भी सूचना की गई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

असण्णी खलु बंधइ लदा-समाणं दारुयसमगं च।
सण्णी चदुसु विभज्जो एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥८५॥

असंज्ञी नियम से लता समान और दारु समान अनुभाग स्थान को बांधता है। संज्ञी जीव चारों स्थानों में भजनीय है। इसी प्रकार सभी मार्गणाओं में बंध और अबंध का अनुगम करना चाहिए।

विशेष—चूर्णिसूत्रकार कहते हैं, चतुःस्थान अधिकार के ये सोलह गाथा-सूत्र हैं। इनकी अर्थ-विभाषा की जाती है "एत्थ अत्थ-विभासा।" चतुःस्थान के संबंध में एकैकनिक्षेप एवं स्थान निक्षेप करना चाहिये। "एक्ककं पुव्वणिक्खित्तं पुव्वपरूविदं च"—एकैकनिक्षेप पूर्व निक्षिप्त है तथा पूर्व प्ररूपित है। (१६८४)

चतुःशब्द के अर्थरूप से विवक्षित लता, दारु आदि स्थानों की अथवा क्रोधादिकषायों की एक एक करके नाम, स्थापना आदि के द्वारा प्ररूपणा करने को एकैकनिक्षेप कहते हैं।

इन्हीं लता, दारु आदि विभिन्न अनुभाग शक्तियों के समुदाय-रूप से वाचक स्थान शब्द की नाम स्थापना आदि के द्वारा प्ररूपणा करने को स्थान- निक्षेप कहते हैं। नाम स्थान, स्थापना स्थान, द्रव्य स्थान, क्षेत्र स्थान, अद्धा स्थान, पलिवीचि स्थान, उच्च स्थान, संयमस्थान, प्रयोगस्थान और भावस्थान ये दस भेद स्थान के हैं। जीव, अजीव और तदुभय के संयोग से उत्पन्न हुए आठ भंगों की

---

१ एदं गाहासुत्तं ओघेणादेसेण च चउण्हं कसायाणं सोलसण्हं ट्ठाणाणं बंधोदयेहिं सण्णियास-परूवणट्ठमागयं (१६८२)

निमित्तान्तर की अपेक्षा न करके 'स्थान' ऐसी संज्ञा करने को नाम स्थान कहते हैं। वे आठ भंग इसप्रकार होते हैं। (१) एक जीव (२) अनेक जीव (३) एक अजीव (४) अनेक अजीव (५) एक जीव अनेक अजीव (६) अनेक जीव एक अजीव (७) एक जीव एक अजीव (८) अनेक जीव अनेक अजीव ये आठ भंग हैं। सद्भाव असद्भाव स्वरूप से स्थापना को स्थापना स्थान कहते हैं। द्रव्य स्थान आगम तथा नो आगम के भेद से दो प्रकार है। उर्ध्व, मध्य लोकादि में अकृत्रिम संस्थान रूप से अवस्थान को क्षेत्र कहते हैं। समय, आवलि, क्षण, लव, मुहूर्त आदि काल के विकल्पों को अद्धा स्थान कहा है।

स्थिति बंध के वीचार स्थान या सोपान स्थान को पलवीचि स्थान कहा है। "पलिवीचिट्ठाणं णाम ट्ठिदिबंधवीचारट्ठाणाणि सोवाणट्ठाणाणि वा भवंति (१६८५)"। पर्वतादि ऊंचे स्थान को या मान्य स्थान को उच्चस्थान कहते हैं। सामायिकादि संयम के लब्धि स्थानों को अथवा संयमसहित प्रमत्तादिगुणस्थानों को संयम स्थान कहते हैं। मन, वचन, काय की चंचलतारूप योगों को प्रयोग स्थान कहते हैं। भावस्थान आगम, नो आगम के भेद से दो प्रकार है। कषायों के लता, दारु आदि अनुभाग जनित उदय-स्थानों को या औदयिक आदि भावों को नोआगम भाव स्थान कहते हैं। भावस्थान का एक भेद आगम भाव स्थान है।

स्थान निक्षेपों पर नय विभाग द्वारा इसप्रकार प्रकाश डाला गया है। नैगम नय सर्व स्थानों को स्वीकार करता है। संग्रह तथा व्यवहार नय पलिवीचि और उच्चस्थान को छोड़ शेष स्थानों को ग्रहण करते हैं। ऋजुसूत्र नय पलिवीचि स्थान, उच्चस्थान, स्थापना स्थान और अद्धास्थान को छोड़कर शेष स्थानों को ग्रहण करता है। शब्दनय नाम स्थान, संयमस्थान, क्षेत्रस्थान तथा भावस्थान को स्वीकार करता है।

"एत्थ भावट्ठाणे पयदं"--यहां भाव स्थान से प्रयोजन है। यहां भावस्थान से नो आगमभावस्थान का ग्रहण करना चाहिए,

श्री चंद्रप्रभु
[illegible] पाठशाला
खामगांव जि. बुलढाणा

कारण लता दारु आदि अनुभागस्थानों का इसी में अवस्थान माना गया है।

गाथासूत्रों के विषय में यह कहा गया है, कि चार सूत्रगाथा पूर्वोक्त सोलह स्थानों का दृष्टान्त पूर्वक अर्थसाधन करती हैं। इनमें से क्रोधकषाय के चार स्थानों का निदर्शन काल की अपेक्षा किया गया है। शेष तीन मान, माया, लोभ के द्वादश स्थानों का निदर्शन भाव की अपेक्षा किया है।

क्रोध के नगराजि, बालुकाराजि, आदि भेद काल की अपेक्षा कहे गए हैं। पाषाण की रेखा बहुत काल बीतने पर भी वैसी ही पाई [illegible] रहती है। इसी प्रकार अल्पकालपना बालुका एवं जल की रेखा में पाया जाता है। इसीप्रकार क्रोध कषाय के संस्कार या वासना के विषय में भी कालकृत विशेषता पाई जाती है।

मान, माया तथा लोभ के विषय में जो दृष्टान्त दिए गए हैं वे भाव की अपेक्षा से संबंध रखते हैं।

क्रोधकषाय के विषय में स्पष्टीकरण करते हुए इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है:—जो जीव अंतर्मुहूर्त पर्यन्त रोष भाव को धारण कर क्रोध का वेदन करता है, वह उदकराजि समान क्रोध का वेदन करता है। यह जल रेखा सदृश क्रोध संयम में मलिनता उत्पन्न करता है। संयम का घात नहीं करता है।

जो अंतर्मुहूर्त के पश्चात् अर्धमास पर्यन्त क्रोध का वेदन करता है, वह बालुका राजि समान क्रोध का वेदन करता है। यह क्रोध

जो अंतोमुहुत्तिगं णिधाय कोहं वेदयदि सो उदयराइसमाणं कोहं वेदयदि। जो अंतोमुहुत्तादीदमंतो अद्धमासस्स कोधं वेदयदि सो बालुवराइसमाणं कोहं वेदयदि। जो अद्धमासादीदमंतो छण्हं मासाणं कोधं वेदयदि सो पुढविराइ समाणं कोधं वेदयदि। जो सव्वेसिं भवेहिं उवसमं ण गच्छइ सो पव्वदराइसमाणं कोहं वेदयदि। (पृ. १६८८)

सकल संयम का घातक है। देशसंयम का इससे घात नहीं होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो अर्धमास के पश्चात् छह माह पर्यंत क्रोध का वेदन करता है, वह पृथ्वी राजि समान क्रोध का वेदन करता है। इस क्रोध के कारण संयमासंयम भी नहीं हो पाता।

जो क्रोध संख्यात, असंख्यात अथवा अनंतभवों में भी उपशान्ति को नहीं प्राप्त होता है, वह पर्वतराजि समान क्रोध का वेदन करता है। इस कषाय के कारण सम्यक्त्व को भी ग्रहण नहीं कर सकता है। यह काल कथन कषायों की वासना या संस्कार का है।

इसीप्रकार का कथन मान, माया तथा लोभ कषाय के विषय में भी जानना चाहिये। 'एदाणुमाणियं सेसाणंपि कसायाणं कायव्वं'—इसप्रकार अनुमान का आश्रय लेकर शेष कषायों के स्थानों का भी दृष्टान्तपूर्वक अर्थ का जानना चाहिये।

कोहो सल्लीभूदो होदूण हियये ट्ठिदो। पुणो संखेज्जासंखेज्जाणंतेहिं भवेहिं तं चेव जीवं दट्ठूण कोधं गच्छइ, सज्जणिदसंसकारस्स-णिकाचिदभावेण तत्तियमेत्तकालावट्ठाणे विरोहाभावादो। (१६८८)

व्यंजन अनुयोगद्वार

कोहो य कोव रोसो य अक्खम संजलण कलह वड्ढी य ।
झंझा दोस विवादो दस कोहेयट्ठिया होंति ॥ ८६ ॥

क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद ये दश क्रोध के एकार्थवाची नाम हैं।

विशेष—क्रोध, कोप, रोष का अर्थ स्पष्ट है। क्रोध-कोप-रोषाः धात्वर्थ सिद्धत्वात्सुबोधाः।" अमर्ष को अक्षमा कहते हैं। जो स्व एवं पर को जलावे, वह संज्वलन है। कलह का भाव सुप्रसिद्ध है। "वर्धन्तेस्मात्पापाशयः कलहवैरादय इति वृद्धिः" क्रोध से पाप भाव, कलह वैर आदि की वृद्धि होने से उसे वृद्धि कहा है। यह अनर्थों का मूलकारण है—'सर्वेषामनर्थानां तन्मूलत्वात्।' तीव्रतरसंक्लेश परिणाम को झंझा कहते हैं। 'झंझा नाम तीव्रतर संक्लेश परिणामः। अन्तरंग में कलुषता धारण करने को द्वेष कहते हैं। 'द्वेषः अप्रीतिरन्तःकालुष्य मित्यर्थः'। विरुद्ध कथन विवाद है। उसे स्पर्धा, संघर्ष भी कहते हैं। 'विरुद्धो वादो विवादः स्पर्द्धः संघर्षः इत्यनर्थान्तरम्' (पृ. १६९०)

क्रोधः कोपो रोषः संज्वलनमथाक्षमा तथा कलहः ।
झंझा-द्वेष-विवादो वृद्धिरिति क्रोध–पर्यायाः ॥

माण मद दप्प थंभो उक्कास पगास तध समुक्कस्सो ।
अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥८७॥

मान, मद, दर्प, स्तंभ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव तथ उत्सिक्त ये दशनाम मान कषाय के हैं।

विशेष—"जात्यादिभिरात्मानं आधिक्येन मननं मानः"–जाति आदि की अपेक्षा अपने को अधिक समझना मान है। "तैरेवावि-

ष्टस्य सुरापीतस्येव मदनं मदः" जाति आदि के अहंकाराविष्ट हो शराबी की तरह मत्त होना मद है। मद से बढ़े हुए अहंकार प्रकाशन को दर्प कहा है। गर्व की अधिकता से सन्निपातावस्था सदृश अमर्यादित बकना जिसमें हो वह स्तंभ है। इसी प्रकार उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष अभिमान के पर्यायवाची हैं। "तथोत्कर्ष-प्रकर्ष-समुत्कर्षा विज्ञेयाः तेषामप्यभिमान-पर्यायित्वेन रूढत्वात्।" दूसरे का तिरस्कार परिभव है। गर्वयुक्त होने को उत्सिक्त कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्तंभ - मद - मान - दर्प - समुत्कर्षोत्कर्ष - प्रकर्षाश्च ।
आत्मोत्कर्ष-परिभवा उत्सिक्तश्चेति मानपर्यायाः ॥

माया य सादिजोगो णियदी वि य वंचणा अणुज्जुगदा।
गहणं मणुणण मग्गण कक्क कुहक गूहणच्छण्णो ॥८८॥

माया, सातियोग, निकृति, वंचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञ-मार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न ये माया कषाय के एकादश नाम हैं।

विशेष—कपट प्रयोग को माया कहते हैं "तत्र माया कपट-प्रयोगः" कूट व्यवहार को सातियोग कहते हैं। "सातियोगः कूटव्यव-हारित्वं।" वंचना का भाव निकृति है "निकृतिर्वंचनाभिप्रायः"। विप्रलंभन को वंचना कहा है। योगों की कुटिलता अनृजुता है। दूसरे के मनोज्ञ अर्थ को ग्रहण कर उसे छुपाना ग्रहण है "ग्रहणं मनोज्ञार्थं परकीयमुपादाय निह्नवनं।" अंतरंग में धोखा देने के भाव को धारणकर अन्य के गुप्त भाव को जानने का प्रयत्न मनोज्ञ-मार्गण है। अथवा मनोज्ञ पदार्थ को दूसरे के विनयादि मिथ्या उपचारों द्वारा लेने का अभिप्राय करना मनोज्ञ-मार्गण है। दंभ करना कल्क है 'कल्को दंभः।' मिथ्या मंत्र-तंत्रादि के द्वारा लोका-नुरंजन पूर्वक आजीविका करना कुहक है। "कुहकमसद्भूतमंत्र-तंत्रोपदेशादिभिर्लोकोपजीवनम्।" अपने मनोगत मलिन भाव को

बाह्य रूप में प्रगट नहीं होने देना गूहन है "निगूहनमंतर्गतदुराशयस्य बहिराकारसंवरणं।" गुप्त प्रयोग को छन्न कहते हैं, "छन्नं छद्मप्रयोगः" । (१६९१)

कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्ज-दोसो य।
णेहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य गिद्धी य॥ ८९ ॥

सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्ज जिब्भा य।
लोभस्सय णामधेज्जा वीसं एगट्ठिया भणिदा॥ ९० ॥

काम, राग, निदान, छंद, स्वता, प्रेय, द्वेष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता या शाश्वत, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या तथा जिह्वा ये लोभ के एकार्थक बीस नाम हैं।

विशेष—'कमनं कामः-इष्टदारापत्यादिपरिग्रहाभिलाष इति" इष्ट स्त्री, पुत्रादि परिग्रह की अभिलाषा काम है। रंजनं रागः-मनोज्ञविषयाभिष्वंगः"-मनोज्ञ विषयों की आसक्ति राग है। जन्मान्तर संबंधी संकल्प निदान है—"जन्मान्तरसंबंधेन निधीयते संकल्प्यते इति निदानं।' मनोनुकूल वेषभूषा में चित्त को लगाना छंद है—'छंदनं छंदो मनोनुकूलविषयाननुभूषायां मनः प्रणिधानम्।'

अनेक विषयों की अभिलाषा रूप कलुषित परिणामात्मक जल से आत्मा का सिंचन 'सुद' (सुत) कहा है। अथवा स्व शब्द आत्मीय का पर्यायवाची है। स्व का भाव स्वता अर्थात् ममकार या ममता है। वह जिसमें है वहस्वेदा या लोभ है।—"सूयतेऽभिषिच्यते विविध-विषयाभिलाषकलुषसलिलपरिषेकैरिति सुतो लोभः। अथवा स्वशब्द आत्मीयपर्यायवाची। स्वस्य भावः स्वता ममता ममकार इत्यर्थः। सास्मिन्नस्तीति स्वेता लोभः (१६९१)

प्रिय पदार्थ की प्राप्ति के परिणाम को 'पेज्ज' अथवा प्रेय कहा है। दूसरे के वैभव आदि को देखकर उसकी अभिलाषा करना 'दोस' अथवा द्वेष है।

शंका—प्रेय और द्वेष (दोष) परस्पर विरोधी अर्थ युक्त होते हुए किस प्रकार लोभ के पर्यायवाची हैं ?

समाधान—परिग्रह की अभिलाषा आल्हाद भाव का हेतु है, इससे वह प्रेय है किन्तु वह संसार के प्रवर्धन का कारण भी है, इससे उसमें 'दोस' (दोष) पना भी है। 'कथ पुनरस्य प्रेयत्वे सति दोषत्वं विप्रतिषेधादिति चेन्न आल्हादनमात्रहेतुत्वापेक्षया परिग्रहाभिलाषस्य प्रेयत्वे सत्यपि संसारप्रवर्धनकारणत्वाद्दोषतोपपत्तेः।'

इष्ट पदार्थ में सानुराग चित्तवृत्ति स्नेह है। "एवमनुरागोपि व्याख्येयः" इसी प्रकार अनुराग की भी व्याख्या करना चाहिये। अविद्यमान पदार्थ की आकांक्षा करना आशा है, "अविद्यमानस्यार्थस्याशासनमाशा"। बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रह की अभिलाषा इच्छा है। तीव्रतर परिग्रह की आसक्ति को मूर्च्छा कहा है। अधिक तृष्णा गृद्धि है।

आशा युक्त होना साशता अथवा सस्पृहता, सतृष्णपना है। 'सहाशया वर्तते इति साशस्तस्य भावः साशता सस्पृहता सतृष्णता' अथवा सदा विद्यमान रहने वाला होने से लोभ को 'शाश्वत' कहा है, "शश्वद्भवः शाश्वतो लोभः"।

शंका—लोभ को शाश्वत क्यों कहा है ? "कथं पुनस्य शाश्वतिकत्वमिति ?"

समाधान—लोभ परिग्रह की प्राप्ति के पूर्व में तथा पश्चात् सर्वदा पाया जाने से शाश्वत है—"परिग्रहोपादाना प्राक पश्चाच्च सर्वकालमनपायाद् शाश्वतो लोभः"। धन की उपलिप्सा प्रार्थना है "प्रकर्षेण अर्थन प्रार्थना धनोपलिप्सा"। गृद्धता को लालसा कहते हैं। विरति अर्थात् त्याग का न होना अविरति है। असंयम भाव को अविरति कहा है। विषयों की पिपासा तृष्णा है; "तृष्णा विषय-

पिपासा" लोभ का पर्यायवाची विद्या शब्द है। विद्या के समान होने से लोभ विद्या है। विद्या जिस प्रकार दुराराध्य अर्थात् कष्टपूर्वक आराध्य होती है, उसी प्रकार लोभ भी है, क्योंकि परिग्रह उपार्जन रक्षणादि कार्य में जीव को महान कष्ट उठाने पड़ते हैं। "विद्येव विद्या। क इहोपकार्थः ? दुराराध्यत्वम्" लोभ का पर्यायवाची जिव्हा शब्द भी है, क्योंकि जिस प्रकार जीभ कभी भी तृप्ति को नहीं प्राप्त होती है, उसी प्रकार लोभ की स्थिति है "जिव्हेव जिव्हेत्य-संतोषसाधर्म्यमाश्रित्य लोभपर्यायत्वं वक्तव्यं" (पृ. १६९१) इस प्रकार लोभ के पर्यायवाची बीस शब्द कहे हैं "एव मेते लोभ-कषायस्य विंशति-रेकार्थाः पर्यायाः शब्दाः व्याख्याताः"

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्री [illegible]
[illegible]
[illegible] जि. बुलढाणा

सम्यक्त्वानुयोग

सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए सम्यक्त्व अधिकार कहते हैं "सम्मत्तसुत्तिहेउं वोच्छं सम्मत्तमहियारं" :—

दंसणमोह–उवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे ।
जोगे कसाय–उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥

दर्शनमोह के उपशामक का परिणाम किस प्रकार होता है ? किस योग, कषाय और उपयोग में वर्तमान, किस लेश्या तथा वेद युक्त जीव दर्शन मोह का उपशामक होता है ?

विशेष—आचार्य यतिवृषभ ने कहा है "एदाओ चत्तारि सुत्तगाहाओ अधापवत्तस्स पढमसमए परुविदव्वाओ" (१६९४) ये चार गाथाएं हैं (गाथा नं० ९१, ९२, ९३, ९४), जिन्हें अधः प्रवृत्तकरण [illegible] ।

प्रश्न—दर्शन मोह के उपशामक का परिणाम कैसा होता है ?

समाधान—दर्शन मोह के उपशामक का परिणाम विशुद्ध होता है, क्योंकि वह इसके अन्तर्मुहूर्त पूर्व से ही अनंतगुणी विशुद्धि से युक्त होता हुआ चला आ रहा है ।

'विशुद्धतर' का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं, "अधःप्रवृत्तकरणप्रथमसमयमधिकृत्यैतत्प्रतिपादितं भवति" (१६९५) अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की अपेक्षा यह कथन किया गया है ।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रारम्भ समय में ही परिणाम विशुद्धता को प्राप्त होते हैं । इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि इसके अन्तर्मुहूर्त पूर्व ही भावों में विशुद्धता उत्पन्न हो जाती है । सम्यक्त्वरूप रत्न की प्राप्ति के पूर्व ही क्षयोपशम, देशना आदि लब्धि के कारण आत्मा की सामर्थ्य वृद्धि को प्राप्त होती है । संवेग, निर्वेद आदि

से हर्ष भाव वर्धमान हो जाता है, इस कारण अनंतगुणी विशुद्धि कही गई है। "पुव्वं पि अंतोमुहुत्तप्पहुडि अणंतगुणाए विसोहीए विसुज्झमाणो आगदो"

योग की विभाषा में कहा है "अण्णदर-मणजोगो वा अण्णदर-वचिजोगो वा ओरालियकायजोगी वा वेउव्वियकायजोगी वा"—अन्यतर मनयोगी वा वचनयोगी वा औदारिक काययोगी वा वैक्रियिक काययोगी जीव दर्शन-मोह का उपशमन प्रारंभ करता है। चार मनयोग, चार वचन योग में कोई भी मनयोग या वचन-योग हो सकता है किन्तु सप्तप्रकार के काययोगों में औदारिक तथा वैक्रियिक काययोगों के सिवाय अन्य योगों का यहां असद्भाव है "कायजोगी पुण ओरालिय-कायजोगो वेउव्वियकायजोगो वा होइ अण्णेसिमिहासंभवादो"। उपरोक्त दशविधि योगों से परिणत जीव प्रथम सम्यक्त्व के उत्पादन के योग्य होता है। "एदेसिं दसण्ह पज्जत्त-जोगाणामण्णदरेण जोगेण परिणदो पढमसम्मत्तु-प्पायणस्स जोगो होइ, ण सेसजोग-परिणदो त्ति एसो एत्थ सुत्तत्थणिण्णओ"।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कषाय के विषय में विभाषा करते हुए कहते हैं "अण्णदरो कसाओ"—दर्शन मोह के उपशामक के कषायचतुष्टय में कोई भी कषाय का सद्भाव पाया जाता है किन्तु यह विशेष बात है कि वह कषाय 'णियमा हायमाण-कषायो'—हीयमान अर्थात् मन्द कषाय रहती है।

आत्मा का अर्थग्रहण का परिणाम उपयोग है "उपयुंक्ते अने-नेत्युपयोगः, आत्मनोऽर्थग्रहण—परिणाम इत्यर्थः" (१९९६)। वह दो प्रकार है। साकार ग्रहण ज्ञानोपयोग है। निराकार ग्रहण दर्शनो-पयोग है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अभिमुख जीव के "णियमा सागारुवजोगो"—नियमसे साकार उपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग होता है। दर्शनोपयोग उस समय नहीं होता है। कुमति, कुश्रुत तथा विभंगज्ञान अर्थात् कुअवधिज्ञान से परिणत जीव प्रथम सम्यक्त्व

की प्राप्ति कार्य में प्रवृत्त होता है "मदसुद-अण्णाणेहिं विहंगणाणेण वा परिणदो होदूण एसो। पढमसम्मत्तुप्पायणं पडि पयट्टइत्तिसिद्धं।" लेश्या के विषय में यह विभाषा है। "तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणं णियमा वड्ढमाणलेस्सा" तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाला वर्धमान लेश्या की स्थिति में ही प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। "एदेण किण्ह-णील-काउ-लेस्साणं हायमाणतेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणं च पडिसेहो कओ दट्ठव्वो"-इससे कृष्ण, नील, कपोत लेश्याओं का तथा हीयमान तेज, पद्म तथा शुक्ल लेश्याओं का प्रतिषेध किया गया है यह जानना चाहिये। नारकी जीवों में सम्यक्त्व की उत्पत्तिकाल में अशुभत्रिक लेश्याओं का सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् सूत्रोक्त कथन मनुष्यों और तिर्यंचों की अपेक्षा किया गया है। उनके सम्यक्त्व उत्पत्ति काल में शुभत्रिक लेश्याओं के सिवाय अन्य लेश्याओं का अभाव है। "तिरिक्ख-मणुस्से अस्सिऊणेदस्स सुत्तस्स पयट्टत्तादो। ण च तिरिक्ख-मणुस्सेसु सम्मत्तं पडिवज्जमाणेसु सुहतिलेस्साओ मोत्तूणण्णलेस्साणं संभवो अत्थि" (१६९७)।

स्त्रीवेदी तथा पुरुषवेदी कोई भी वेद वाला दर्शनमोह का उपशामक होता है। यहां 'दव्व-भावेहिं तिण्हं वेदाणमण्णदरपज्जाएण विसेसियस्स' द्रव्य तथा भाव रूप तीनों वेदों में से अन्यतर वेद वाले का ग्रहण किया गया है।

काणि वा पुव्वबद्धाणि के वा अंसे णिबंधदि।
कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥

दर्शनमोह का उपशम करने वाले के कौन कौन कर्म पूर्वबद्ध हैं तथा वर्तमान में कौन कौन कर्मों को बांधता है? कौन कौन प्रकृतियां उदयावली में प्रवेश करती हैं तथा कौन कौन प्रकृतियों का यह प्रवेशक है अर्थात् किन किन प्रकृतियों की यह उदीरणा कराता है?

विशेष—'काणि वा पुव्वबद्धाणि' इस पद की विभाषा में कहते हैं। "एत्थ पयडिसंतकम्मं ट्ठिदिसंतकम्मं अणुभागसंतकम्मं पदेससंतकम्मं च मग्गियव्वं" यहां प्रकृति सत्कर्म, स्थिति सत्कर्म, अनुभाग सत्कर्म तथा प्रदेशसत्कर्म [illegible] महाराज

प्रकृति सत्कर्म की अपेक्षा आठों कर्मों का सद्भाव पाया जाता है। उत्तर प्रकृति की अपेक्षा इन प्रकृतियों की सत्ता है। पंच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, दो वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय नवनोकषाय इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता अनादि मिथ्यादृष्टि के होती है। सादि मिथ्यादृष्टि के छब्बीस, सत्ताईस अथवा अट्ठाईस की सत्ता होती है। आयु कर्म की अबद्धायुष्क के एक भुज्यमान आयु की तथा बद्धायुष्क के भुज्यमान तथा एक बध्यमान आयु की अपेक्षा दो प्रकृति कही हैं। नामकर्म की इन प्रकृतियों की सत्ता कही है। चारगति, पांच जाति, औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्माण ये चार शरीर, उनके बंधन तथा संघात छहसंस्थान, औदारिक तथा वैक्रियिक आंगोपांग, छह संहनन, वर्ण गंध, रस, स्पर्श, चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आताप, दो उद्योत, दो विहायोगति, त्रसस्थावरादि दशयुगल तथा निर्माण-इनका सद्भाव पाया जाता है। दो गोत्र, तथा पांच अन्तराय का सद्भाव पाया जाता है।

स्थिति सत्कर्म अंतोकोड़ाकोड़ी कहा है। आयु के विषय में उसके प्रायोग्य आयु कही है। "आउआणं च तप्पाओग्गयणुगंतव्वं" (१६९८)।

अनुभाग सत्कर्म-'अप्पसत्थाण कम्माण···बिट्ठाणियाणुभाग-संतकम्मिओ'—अप्रशस्तकर्मों में द्विस्थानिक अनुभागसत्कर्म है। 'पसत्थाण पि पयडीण···चउट्ठाणाणुभागसंतकम्मिओ"—प्रशस्त प्रकृतियों में चतुःस्थानिक अनुभाग सत्कर्म है।

प्रदेशसत्कर्म—जिन प्रकृतियों का प्रकृतिसत्कर्म है, उनका अजघन्य अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म जानना चाहिए।

'के वा अंसे णिबंधदि' इसकी विभाषा करते हैं। प्रकृतिबंध का निर्देश करते समय तीन महादंडक प्ररूपणीय हैं। पंच ज्ञानावरण, नवदर्शनावरण, साता वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह, कषाय, पुरुषवेद, हास्य-रति, भय-जुगुप्सा, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, तैजस, कार्माण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक आंगोपांग, वर्णादिचतुष्क, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघुआदि चतुष्क, प्रशस्तविहायोगति, त्रसादि चतुष्क, स्थिरादि षट्क, निर्माण, उच्चगोत्र तथा पंच अंतरायों का बंधक अन्यतर मनुष्य वा मनुष्यनी, वा पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा तिर्यंचिनी हैं। यह प्रथम दण्डक है।

दूसरा दंडक इस प्रकार है:—पंचज्ञानावरण, नवदर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलहकषाय, पुरुषवेद, भय-जुगुप्सा, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक—तैजस—कार्माण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभसंहनन, औदारिक-आंगोपांग, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु चतुष्क, प्रशस्त-विहायोगति, त्रसादि चार, स्थिरादि छह, निर्माण, उच्चगोत्र तथा पंच अन्तरायों का बंधक अन्यतर देव या छह नरकों का नारकी है। यह द्वितीय महादंडक है।

तीसरा महादंडक इस प्रकार हैं:—पंच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पुरुषवेद, हास्यरति, भयजुगुप्सा, तिर्यंचगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक तैजस कार्माण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक आंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघुचतुष्क, उद्योत, १ स्यात् प्रशस्तविहायोगति, त्रसादि चतुष्क स्थिरादि षट्क, निर्माण, नीच गोत्र, तथा पंच अन्तरायों का बंधक कोई सातवें नरक का नारकी होता है।

---

(१) 'सिया पसत्थविहायगदि' पाठ में 'सिया' शब्द अधिक प्रतीत होता है (पृष्ठ १६६९)।

स्थितिबंध—इन प्रकृतियों का स्थिति बंध अंतःकोड़ाकोड़ी सागर है। विशुद्धतर भाव होने के कारण अधिक स्थिति बन्ध होता है ।

अनुभाग बंध—महादंडकों में जो अप्रशस्त प्रकृतियां कही हैं, उनमें द्विस्थानिक अनुभागबन्ध है तथा शेष बची प्रशस्त प्रकृतियों में चतुः स्थानिक अनुभागबंध है।

प्रदेशबंध—पंच ज्ञानावरण, छह दर्शनावरण, सातावेदनीय, द्वादश कषाय, पुरुषवेद, हास्यरति, भयजुगुप्सा, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-तैजस-कार्माण शरीर, औदारिक शरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यंच-मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु आदि चार, उद्योत, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र, पंच अन्तरायों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है।

निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि, मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी चार, देवगति, वैक्रियिक शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर आंगोपांग, वज्रवृषभ संहनन, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय, नीच गोत्र इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट तथा अनुत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

'कदि आवलियं पविसंति' इस अंश की विभाषा इस प्रकार है। दर्शन मोह का उपशामक के कितनी प्रकृतियाँ उदायवली में प्रवेश करती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में चूर्णि सूत्रकार कहते हैं "मूलपयडीओ सव्वाओ पविसंति" (१७००) संपूर्ण मूल प्रकृतियां उदायवली में प्रवेश करती हैं, क्योंकि सभी मूल प्रकृतियों का उदय देखा जाता है।

जो उत्तर प्रकृतियां विद्यमान हैं, उनका उदयावली में प्रवेश का निषेध नहीं है। आयु कर्म के विषय में यह ज्ञातव्य है कि यदि अबद्धायुष्क है, तो भुज्यमान एक आयु का ही उदय होगा।

यदि बद्धायुष्क है, तो उसके आगामीबद्ध आयु का उदय नहीं होगा, 'णवरि जइ परभवियाउमत्थि तण्ण पविसदि ।'

गाथा में प्रश्न किया है "कदिण्हं वा पवेसगो" ?—कौन कौन प्रकृतियों का उदीरणारूप प्रवेशक है ?

विभाषा में कहते हैं, "सभी मूल प्रकृतियों का उदीरण रूप से प्रवेशक है।"

उत्तर प्रकृतियों में पंचज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, मिथ्यात्व पंचेन्द्रिय जाति, तैजस-कार्माण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ अशुभ, निर्माण तथा पंच अन्तरायों का नियम से उदीरणा रूप से प्रवेशक है। इन प्रकृतियों को उदीरणा द्वारा नियम से उदयावली में प्रवेश करता है।

साता—असाता वेदनीय में से किसी एक का उदीरणा द्वारा उदयावली में प्रवेशक है। चार कषाय, तीन वेद, हास्यादि दो युगलों में से अन्यतर अर्थात् किसी एक का प्रवेशक है। भय-जुगुप्सा का स्यात् प्रवेशक है। चार आयु में से एक का प्रवेशक है। छह संहननों में से अन्यतर का प्रवेशक है। उद्योत का स्याद् प्रवेशक है। दो बिहायोगति, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुस्वर, आदेय-अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति इन युगलों में से अन्यतर को उदीरणा द्वारा उदयावली में प्रवेश करता है।

के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा।
अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥९२॥

दर्शनमोह के उपशम के पूर्वबंध अथवा उदय की अपेक्षा कौन कौन कर्मांश क्षय को प्राप्त होते हैं ? कहां पर अन्तर को करता है ? कहा पर किन किन कर्मों का उपशामक होता है ?

श्री चंद्रप्रभु
दिगम्बर जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

विशेष—दर्शनमोह का उपशम करने वाले के असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति शोक, चार आयु, नरकगति, चार जाति, पंचसंस्थान, पंचसंहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये प्रकृतियां पूर्व ही बंध-व्युच्छित्ति को प्राप्त होती हैं।

दर्शन मोह के उपशामक के ये प्रकृतियां उदय से व्युच्छिन्न होती हैं:—पंच दर्शनावरण, एकेन्द्रियादि चार जाति नामकर्म, चार आनुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर नाम कर्म की उदय व्युच्छित्ति होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं' इस गाथा के अंश की विभाषा करते हैं।

इस समय अधःप्रवृत्तकरण के अन्तरकरण अथवा दर्शन मोह का उपशामक नहीं होता है। आगे अनिवृत्तिकरण काल में अन्तर-करण तथा दर्शन मोह का उपशमन होता है। "उवसामगो वा पुरदो होहदि त्ति ण ताव इदानीमंतरकरणमुपशमकत्वं वा दर्शन-मोहस्य विद्यते किन्तु तदुभयं पुरस्तादनिवृत्तिकरणं प्रविष्टस्य भविष्यतीति" (१७०६)

किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टेदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥६४॥

दर्शन मोहनीय का उपशामक किस स्थिति तथा अनुभाग सहित कौन-कौन कर्मों का अपवर्तन करके किस स्थान को प्राप्त करता है तथा शेष कर्म किस स्थिति तथा अनुभाग को प्राप्त करते हैं?

विशेष—इस गाथा की विभाषा करते हैं। स्थितिघात संख्यात बहुभागों का घात करके संख्यातवें भाग को प्राप्त होता

है। अनुभाग घात अनन्तबहुभागों का घात करके अनंतवें भाग को प्राप्त होता है। इस कारण इस अधःप्रवृत्तकरण के चरम समय में वर्तमान जीव के स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होते हैं। "से काले दो वि घादा पवत्तीहिंति" तदनंतर काल में अर्थात् अपूर्व-करण के काल में ये दोनों ही घात प्रारंभ होंगे।

पूर्वोक्त चार सूत्रगाथा अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में प्ररूपित की गई हैं। 'दंसणमोह-उवसामगस्स तिविहं करणं' (१७०७)-दर्शन मोह के उपशामक के अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण होते हैं। करण का स्वरूप इस प्रकार है "येन परिणामविशेषेण दर्शनमोहोपशमादिर्विवक्षितो भावः क्रियते, निष्पाद्यते स परिणामविशेषः करणमित्युच्यते"---जिस परिणाम विशेष के द्वारा दर्शन मोहनीय का उपशमादि रूप विव-क्षित भाव संपादित होता है, उस परिणाम विशेष को करण कहते हैं। दर्शन मोह के तीन करण होते हैं। उस जीव के चौथी उप-शामनाद्धा भी होती है "चउत्थी उवसामणद्धा।" जिस काल विशेष में दर्शन मोहनीय उपशान्तता को प्राप्त हो स्थित होता है, उस काल को उपशामनाद्धा कहते हैं—"जम्हि अद्धाविसेसे दंसण-मोहणीय मुवसंतावण्णं होदूण चिट्ठइ सा उवसामणद्धा त्ति भण्णदे" (१७०८)

अधः प्रवृत्तकरण—जिस भाव में विद्यमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तनसमयवर्ती जीवों के साथ सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है :—

जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तो त्ति णिद्दिट्ठं ॥ ४८ ॥

यतः उपरितन समयवर्ती जीवों के भाव अधस्तन समयवर्ती जीवों के समान होते हैं, ततः प्रथम करण को अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं।

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा ।
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ।। ४९ ।।

इसका समय अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। वे आगे आगे समान वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस अधःप्रवृत्तकरण के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण अपूर्व करण का काल है। अपूर्वकरण के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण अनिवृत्तिकरण का काल है। तीनों का काल मिलने पर अंतर्मुहूर्त ही होता है।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि सबसे अल्प है। द्वितीय समय में वह विशुद्धि पूर्व से अनंतगुणी है। यह क्रम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चलता है। इसके अनंतर प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है। जिस समय में जघन्य विशुद्धि समाप्त होती है, उसके उपरिम समय में अर्थात् प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अंतिम समय के आगे के समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है। प्रथम कांडक की उत्कृष्ट विशुद्धि से द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है। इस प्रकार यह क्रम निर्वर्गणाकांडक मात्र अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण अधःकरण के अंतिम समय पर्यन्त चलता है। इसके पश्चात् अंतर्मुहूर्तकाल अपसरण करके जिस समय में उत्कृष्ट विशुद्धि समाप्त होती है, उससे अर्थात् द्विचरम निर्वर्गणा कांडक के अंतिम समय से उपरिम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार से यह उत्कृष्ट विशुद्धि का क्रम अधःकरण के अंतिम समय पर्यन्त ले जाना चाहिए। यह अधःप्रवृत्तकरण का स्वरूप है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अपूर्वकरण के विषय में कहते हैं।

एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥५१॥ गो० जी०

इस गुणस्थान में विसदृश समय में स्थित जीवों के पूर्व में नहीं प्राप्त हुए अपूर्व परिणाम होते हैं। इस कारण अपूर्वकरण नाम सार्थक है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां भिन्न समय स्थित जीवों के भावों में समानता नहीं होती किन्तु एक समय स्थित जीवों में समानता अथवा असमानता होती है। अंतर्मुहूर्तकाल में असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते हैं। यहां अनुकृष्टि नहीं होती (१)

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्ध सर्व स्तोक है। उससे उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है। द्वितीय समय में जघन्य विशुद्धि पूर्व से अनंत गुणी है। उससे उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणित है। अपूर्वकरण के प्रतिसमय असंख्यातलोक प्रमाण परिणाम होते हैं। इस प्रकार का क्रम निर्वर्गणा कांडक पर्यन्त जानना चाहिये।

जितने काल आगे जाकर विवक्षित समय में होने वाले परिणामों की अनुकृष्टि विच्छिन्न हो जाती है, उसे निर्वर्गणा काण्डक कहा है।

अनिवृत्तिकरण के विषय में यह बात ज्ञातव्य है, "अणियट्टिकरणे समए समए एक्केक्कपरिणामट्ठाणाणि अणंतगुणाणि च" अनिवृत्तिकरण के काल में प्रत्येक समय में एक एक ही परिणाम स्थान होते हैं। वे परिणाम उत्तरोत्तर अनंतगुणित हैं। (१७१४)

नेमिचन्द्र आचार्य ने लिखा है कि जिस प्रकार संस्थान आदि में भिन्नता पाई जाती है, उस प्रकार एक समय के भावों में

(१) अनुत्कर्षणमनुत्कृष्टिरन्योन्येन समानत्वानुचिंतनमित्यनर्थान्तरम् (१७०८)

भिन्नता नहीं पाई जाती है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण गुणस्थानों में जिस प्रकार भावों का परिणमन होता है, वैसे ही लक्षण दर्शन मोह के उपशामक के करणत्रिक में पाये जाते हैं। इसी कारण उनके नामकरण में भिन्नता पाई नहीं जाती है।

उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के विषय में इस प्रकार प्ररूपणा की गई है कि उस जीव के अधःप्रवृत्तकरण में स्थिति-कांडक घात, अनुभाग-कांडक घात, गुणश्रेणी और गुण संक्रम नहीं पाये जाते हैं। वह अनंतगुणी विशुद्धि
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
से विशुद्ध होता जाता है। "अधापवत्तकरणे द्विदिखंडयं वा अणुभाग-खंडयं वा गुणसेडी वा गुणसंकमो वा णत्थि केवलमणंतगुणाए विसोहीए विसुज्झदि।" (१७१४) वह जिन अप्रशस्त कर्मांशों का बंध करता है, उन्हें द्विस्थानिक तथा अनंतगुणहीन बांधता है। जिन प्रशस्त कर्मांशों को वह बांधता है, उन्हें चतुःस्थानिक तथा अनंतगुणित बांधता है। "अप्पसत्थकम्मंसे जे बंधइ ते दुट्ठाणिये अणंतगुणहीणे च, पसत्थकम्मंसे जे बंधइ ते च चउट्ठाणिए अणंतगुणे च" (१७१४)। एक एक स्थितिबंध-काल के पूर्ण होने पर वह पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थितिबंध को बांधता है। इस प्रकार संख्यात सहस्र स्थितिबंधापसरणों के होने पर अधः प्रवृत्त करण का काल समाप्त हो जाता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थितिखंड पल्योपम का संख्यातवां भाग तथा उत्कृष्ट स्थिति खण्ड सागरोपमपृथक्त्व है। अधःप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में होने वाले स्थितिबंध से पल्यो-पम के संख्यातवें भाग से हीन अपूर्व स्थितिबंध अपूर्वकरण के प्रथम समय में होता है। "अणुभागखंडयमप्पसत्थकम्मंसाणमणंताभागा"—अप्रशस्त कर्मांशों का अनुभाग खंडन अनंत बहुभाग होता है। प्रशस्त कर्मों में अनुभाग की वृद्धि होती है।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में अन्य स्थिति खंड, अन्य स्थिति बंध तथा अन्य अनुभाग कांडकघात प्रारंभ होता है। इस प्रकार हजारों स्थितिकांडकघातों के द्वारा अनिवृत्तकरणकाल के संख्यात बहुभागों के व्यतीत होने पर वह जीव मिथ्यात्व कर्म का अंतर करता है। "अणियट्टिस्स पढमसमए अण्णं ट्ठिदिखंडयं अण्णो ट्ठिदिबंधो अण्णमणुभागखंडयं। एवं ट्ठिदिखंडयसहस्सेहि अणियट्टि-अद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु अंतरं करेदि" (१७१९)

निषेकों का अभाव करना अंतरकरण कहा जाता है। "णिसेगाणामभावीकरणमंतरकरणमिदि भण्णदे"।

उस समय जितना स्थितिबंध का काल है, उतने काल के द्वारा अन्तर को करता हुआ गुणश्रेणीनिक्षेप के अग्राग्र से लेकर नीचे संख्यातवें भाग प्रमा मार्गदर्शक - आचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज प्रकार अन्तरकरण पूर्ण होने पर वह जीव उपशामक कहा जाता है "तदोप्पहुडि उवसामगो त्ति भण्णइ" (१७२०)

वह अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर उपशामक था तथा मिथ्यात्व के तीन खण्ड करने पर्यन्त उपशामक रहता है।

दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो।
पंचिंदिय-सण्णी [पुण] णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥९५॥

दर्शन मोह का उपशम करने वाला जीव चारों गतियों में जानना चाहिए। वह नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी तथा पर्याप्तक होता है।

विशेष—पंचेन्द्रिय निर्देश द्वारा एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियों का प्रतिषेध हो जाता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय कहने से सम्यक्त्व उत्पत्ति की प्रायोग्यता असंज्ञी पंचेन्द्रियों में नहीं है, यह सूचित किया गया है। लब्ध्यपर्याप्तक तथा निवृत्यपर्याप्तकों में भी सम्यक्त्व की की उत्पत्ति की प्रायोग्यता का अभाव है। (१)

चदुगति-भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगोय सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥६५२॥ गो० जी०

सव्वणिरय-भवणेसु दीवसमुद्दे गह-जोदिसि-विमाणे ।
अभिजोग्गमणभिजोग्गो उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥९६॥

सर्व नरकों में, भवनवासियों में, सर्व-द्वीप-समुद्रों में, गुह्यों अर्थात् व्यंतरों में, ज्योतिषियों में, वैमानिकों में, आभियोग्यों में उनसे भिन्न अनभियोग्य देवों में दर्शन मोह का उपशम होता है।

विशेष—वेदनाभिभव आदि कारणों से नारकियों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, यह सूचित करने के लिए 'सव्व णिरय' पद दिया गया है। सर्व भवनवासियों में जिन-बिंब दर्शन, देवों की ऋद्धि दर्शन आदि कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

शंका—अढ़ाई द्वीप के आगे के समुद्रों में त्रस जीवों का अभाव है, वहां सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे होगी? "तसजीवविरहियेसु असंखेज्जेसु समुद्देसु कधं ?"

समाधान—सम्यक्त्व प्राप्ति के प्रयत्न में संलग्न तिर्यंचों को कोई शत्रु देव उन समुद्रों में ले जा सकता है। इस प्रकार वहां तिर्यंचों का सद्भाव सिद्ध हो जाता है—"पुव्ववेरिय-देव-पओगेण णीदाणं तिरिक्खाणं सम्मत्तुप्पत्तीए पयट्टंताणं उवलंभादो (१७२९)

वाहनादि कुत्सित कर्मों में नियुक्त आभियोग्य देवों को वाहन देव कहते हैं "अभियुज्यंत इत्यभियोग्याः वाहनादौ कुत्सिते कर्मणि नियुज्यमाना वाहनदेवा इत्यर्थः" इन देवों से भिन्न किल्विषिकादि अनुत्तमदेव तथा पारिषदादि उत्तम देव अनभियोग्य जानना चाहिये।

उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो तहा णिरासाणो ।
उवसंते भजियव्वा णीरासाणो य खीणम्मि ॥९७॥

दर्शन मोह के उपशामक सर्व जीव निर्व्याघात तथा निरासान होते हैं। दर्शन मोह के उपशान्त होने पर सासादन भाव भजनीय है किन्तु क्षीण होने पर निरासान ही रहता है।

विशेष—दर्शन मोह के उपशमन कार्य को प्रारंभ करने वाला उपशामक पर यदि पशु देवादि कृत चार प्रकार के उपसर्ग एक साथ हो जावें, तो भी निश्चय से दर्शन मोह के उपशामना में प्रतिबंध होने पर उस कार्य को वे क्षति नहीं प्राप्त करा सकते। इस कथन से यह बात भी प्रतिपादित की गई है कि दर्शनमोहोपशामक के उस अवस्था में मरण का अभाव भी सूचित किया गया है—"दंसणमोहोवसामणं पारंभिय उवसाममाणस्स जइ वि चउव्विहोवसग्गवग्गो जुगमुवट्ठाइ तो वि णिच्छएण दंसणमोहोवसामणमेत्तो पडिबंधे ण विणासमाणेदि त्ति वुत्तं होइ। एदेण दंसणमोहोवसामगस्स तदवत्थाए मरणाभावो वि पदुप्पाइदो दट्ठव्वो।"

'णिरासाण' के कहने से सूचित होता है कि दर्शनमोहोपशामक उस अवस्था में सासादन गुणस्थान को नहीं प्राप्त होता है। दर्शन मोह की उपशामना होने के अनंतर यदि उपशम सम्यक्त्व का जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से छह आवलीकाल शेष बचा है तो वह सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं प्राप्त होता। इससे सासादन गुणस्थान को प्राप्त होना भजनीय है।

दर्शन मोह के क्षय होने पर सासादन गुणस्थान में प्रतिपात नहीं होता; कारण क्षायिक सम्यक्त्व के प्रतिपात का अभाव है।

सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो।
जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥९८॥

साकार उपयोग में विद्यमान जीव ही दर्शन मोह के उपशमन का प्रस्थापक होता है, किन्तु उसका निष्ठापक तथा मध्यम अवस्था वाला जीव भजनीय है।

मन, वचन तथा काय रूप योगों में से एक योग में विद्यमान तथा तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शन मोह का उपशमन करता है।

विशेष—दर्शनमोहोपशमना का प्रस्थापक साकार उपयोगी रहता है। इससे यह सूचित किया गया है कि जागृत अवस्था युक्त सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रायोग्य है। १ निद्रा परिणाम परिणत जीव के सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य विशुद्ध परिणामों के पाए जाने का विरोध है।

२ दर्शन मोह की उपशामना में उद्यत जीव अधः प्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रस्थापक कहा गया है।

प्रश्न—यहां गाथा में आगत 'मज्झिम' शब्द के विषय में शंकाकार पूछता है "को मज्झिमो णाम ?"

उत्तर—"पट्ठवग–णिट्ठवग–पज्जायाणमंतरालकाले पयट्टमाणो मज्झिमो त्ति भण्णदे–" दर्शनमोह के प्रस्थापक और निष्ठापक पर्यायों के मध्यवर्ती काल में प्रवर्तमान जीव को मज्झिम अथवा मध्यम कहा गया है।

यह मध्यवर्ती जीव ज्ञानोपयोगी तथा दर्शनोपयोगी भी हो सकता है।

लेश्या के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि तिर्यंचों तथा मनुष्यों में कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्या में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि विशुद्धि के काल में अशुभत्रिक लेश्या के परिणामों का सद्भाव असंभव है। नारकियों में अशुभत्रिक लेश्याओं का ही अस्तित्व कहा है, इस कारण "ण तत्थेदं सुत्तं पयट्टदे" उनमें इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। "तदो तिरिक्ख-मणुसविसयमेवेदं सुत्तमिदि गहेयव्वं"—यह सूत्र तिर्यंच तथा मनुष्य विषयक है, यह बात ग्रहण करनी चाहिये।

---

१ णिद्दापरिणामस्स सम्मत्तुप्पत्ति–पाओग्गविसोहि-परिणामेहिं विरुद्ध–सहावत्तादो।

२ दंसणमोहोपवसामणमाढवेंतो अधापवत्तकरणपढमसमयप्पहुडि अंतोमुहुत्तमेत्तकालं पट्ठवगो णाम भवदि॥ १७३०॥

मिच्छत्तवेदणीयं कम्मं उवसामगस्स बोद्धव्वं ।
उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो ॥९९॥

उपशामक के मिथ्यात्व वेदनीय कर्म का उदय जानना चाहिये। दर्शन मोह के उपशमन की अवस्था के अवसान होने पर मिथ्यात्व का उदय भजनीय है।

विशेष—मिथ्यात्ववेदनीय का अर्थ उदयावस्था को प्राप्त मिथ्यात्व कर्म है। "वेद्यते इति वेदनीयं मिथ्यात्वमेव वेदनीयं मिथ्यात्ववेदनीयं उदयावस्थापरिणतं मिथ्यात्वकर्मेति यावत्" (१७३१)

दर्शन मोह के उपशामक के जब तक अंतर प्रवेश नहीं होता, तब तक मिथ्यात्व का उदय पाया जाता है। उपशम सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। उपशम सम्यक्त्व का काल नष्ट होने पर यदि सासादन या मिश्रगुणस्थान को अथवा वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, तो उसके मिथ्यात्व का उदय नहीं होगा। यदि वह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है, तो उसके मिथ्यात्व का उदय होगा। इससे मिथ्यात्व का उदय भजनीय कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सव्वेहिं ट्ठिदिविसेसेहिं उवसंता होंति तिण्णि कम्मंसा ।
एक्कम्हि य अणुभागे णियमा सव्वे ट्ठिदिविसेसा ॥१००॥

दर्शनमोह के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व रूप त्रिविध कर्मांश दर्शन मोह के उपशान्त काल में सर्वस्थिति विशेषों के साथ उपशान्त अर्थात् उदय रहित होते हैं। एक ही अनुभाग में उन तीनों कर्मांशों के सभी स्थिति विशेष नियम से अवस्थित रहते हैं।

विशेष—यहां 'तिण्णि कम्मंसा' कहने का भाव मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व को ग्रहण करना चाहिए।" एत्थ तिण्णि

कम्मंसा त्ति भणिदे मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं गहणं कायव्वं।" उन तीनों की कोई भी स्थिति अनुपशान्त नहीं है।

तीनों प्रकृतियों के सर्वस्थिति विशेष एक ही अनुभाग में रहते हैं।

मिच्छत्तपच्चओ खलु बंधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो ॥१०१॥

दर्शन मोह का उपशमन करने वाले उपशामक के मिथ्यात्व निमित्तक कर्मबंध जानना चाहिए। दर्शन मोह का उपशम हो जाने पर उपशमसम्यक्त्वी के मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है।[१] उपशान्त दशा के अवसान हो जाने पर मिथ्यात्व निमित्तक बंध भजनीय है।

विशेष—दर्शन मोह का उपशमन कार्य पूर्ण न होने पर मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। अतः उसके मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। उपशम सम्यक्त्वी का काल पूर्ण हो जाने पर यदि वह मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त होता है, तो मिथ्यात्व निमित्तक बंध होगा। कदाचित् वह सासादन गुणस्थान को प्राप्त करता है, तो उसके मिथ्यात्व निमित्तक बंध का अभाव होगा। इस कारण उपशान्त दशा के अवसान होने पर मिथ्यात्व निमित्तक बंध भजनीय कहा गया है।

सम्मामिच्छाइट्ठी दंसणमोहस्सअबंधगो होइ।
वेदयसम्माइट्ठी खीणो वि अबंधगो होइ ॥१०२॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोह का अबंधक होता है। वेदक

---

(१) मिच्छत्तं पच्चओ कारणं जस्स सो मिच्छत्तपच्चओ खलु परिप्फुडं बंधो दंसणमोहोवसामगस्स जाव पढमट्ठिदिचरमसमओ त्ति ताव बोद्धव्वो (१७३२)

सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यक्त्वी, उपशम सम्यक्त्वी तथा सासादन
[illegible] मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृति तथा सम्यक्त्वप्रकृति की बंध प्रकृतियों में गणना नहीं की जाती है। इससे मिश्रगुणस्थानवर्ती मिश्र प्रकृति का बंध नहीं करता है तथा वेदक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व प्रकृति का बंध नहीं करता है। सम्यक्त्व प्रकृति तथा मिश्र प्रकृति की उदय प्रकृति में गणना की गई है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह जीव मिथ्यात्व को तीन रूप में विभक्त करता है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये स्वरूप उस मिथ्यात्व कर्म के हो जाते हैं। जिस प्रकार यंत्र के द्वारा दला गया कोदों तीन रूप होता है। कोदों को दले जाने पर कुछ भाग तो मादकता पूर्ण कोदों के रूप में रहता है। कुछ भाग में कम मादकता रहती हैं। भुसी सदृश अंश अल्प मादकता सहित होता है। १

अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो।
तत्तो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स ॥१०३॥

उपशम सम्यक्त्वी के दर्शन मोहनीय कर्म अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त सर्वोपशम से उपशान्त रहता है। अन्तर्मुहूर्त काल बीतने पर मिथ्यात्व, मिश्र अथवा सम्यक्त्व रूप अन्यतर प्रकृति का उदय हो जाता है।

विशेष—'सर्वोपशम' का भाव यह है, कि मिथ्यात्वादि तीनों प्रकृतियों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश संबंधी उपशांतपना पाया जाता है। "सव्वोवसमेणे त्ति वुत्ते सव्वेसिं दंसणमोहणीयकम्माणमुवसमेणेत्ति घेत्तव्वं, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं तिण्हंपि कम्माणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसविहत्ताणमेत्थुवसंतभावेणावट्ठाणदंसणादो (१७३३)

---

(१) जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसम-सम्मभाव-जंतेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ गो० क० २६ ॥

सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥१०४॥

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति सर्वोपशम से होती है। विप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि भी सर्वोपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अविप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि, जो अभीक्ष्ण अर्थात् बार बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, सर्वोपशम तथा देशोपशम से भजनीय है।

विशेष—जिस जीव ने एक बार भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर पश्चात् मिथ्यात्व अवस्था प्राप्त की है, उसको सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके विप्रकृष्ट तथा अविप्रकृष्ट ये दो भेद कहे गए हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो जीव सम्यक्त्व रत्नशैल से गिरकर मिथ्यात्व भूमि को प्राप्त हो गया है तथा जिसने सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना की है और जो पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक देशोन अर्धपुद्गल परिवर्तन काल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करता है, उसे विप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्वी हो पल्योपम के असंख्यातवें भाग के भीतर ही सम्यक्त्व ग्रहण के अभिमुख होते हैं, उन्हें अविप्रकृष्ट सादि मिथ्यात्वी कहते हैं।

विप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि नियम से सर्वोपशम पूर्वक ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व का लाभ करता है। अविप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि सर्वोपशम से तथा देशोपशम से भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

जो सम्यक्त्व से च्युत होकर अल्पकाल के अनंतर वेदक प्रायोग्यकाल के भीतर ही सम्यक्त्व-ग्रहण के अभिमुख है, वह देशोपशम के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अन्यथा सर्वोपशम से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

सम्मत्तपढमलंभस्सणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं ।
लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥१०५॥

सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति के अनंतर तथा पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है, किन्तु अप्रथमबार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजनीय है।

विशेष—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसके पूर्वक्षण में तथा उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय कहा गया है, किन्तु अप्रथम बार अर्थात् दूसरी बार, तीसरी बार आदि बार जो सम्यक्त्व का लाभ होता है, उसके पश्चात् मिथ्यात्व का उदय भजनीय है। वह कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है अथवा मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

कम्माणि जस्स तिण्णि दु णियमा सो संकमेण भजियव्वो ।
एयं जस्स दु कम्मं संकमणे सो ण भजियव्वो ॥१०६॥

जिस जीव की सत्ता में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति विद्यमान है अथवा मिथ्यात्व के बिना या सम्यक्त्व प्रकृति के बिना शेष दो दर्शनमोह की प्रकृतियां सत्ता में हैं, वह जीव नियम से संक्रमण की अपेक्षा भजनीय है। जिसके एक ही दर्शन मोह की प्रकृति सत्ता में है, वह संक्रमण की अपेक्षा भजनीय नहीं है।

विशेष—गाथा के प्रारंभ में 'दु' शब्द आया है, वह मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व प्रकृति के बिना शेष दो प्रकृतियों को सूचित करता है।

जिस मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव में दर्शनमोह की मिथ्यात्वादि तीन प्रकृति की सत्ता रहती है, उसके सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा मिथ्यात्व का यथा क्रम से संक्रमण होता है।

सासादन सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव में उक्त तीनों प्रकृतियों की सत्ता रहते हुए भी उन तीनों प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता क्योंकि सासादन तथा मिश्र गुणस्थान में संक्रमण की शक्ति नहीं होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने कहा है :—

सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदि।
सासण-मिस्से णियमा दंसणतियसंकमो णत्थि॥ गो. क. ४११॥

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्र प्रकृति का असंयतसम्यक्त्व मिथ्यात्व तथा मिश्रगुण स्थान में संक्रमण नहीं करता है। सासादन तथा मिश्र गुणस्थान में दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता है। "असंयतादि-चतुर्ष्वस्तीत्यर्थः"—असंयतादि चार गुणस्थानों में संक्रमण होता है (गो. क. संस्कृत टीका पृष्ठ ५९४)

सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करने वाले मिथ्यादृष्टि के जिस समय वह आवली प्रविष्ट रहता है, उस के दर्शन—मोहत्रिक की सत्ता रहते हुए भी एक का संक्रमण होता है अथवा मिथ्यात्व का का क्षपण करने वाले सम्यक्त्वी के जिस समय उदयावली बाह्य स्थित सर्व द्रव्य का क्षपण किया जाता है, उस समय उसके दर्शन मोहत्रिक की सत्ता रहते हुए भी एक का ही संक्रमण होता है।

दर्शन मोहत्रिक की सत्ता युक्त जीव स्यात् दो का, स्यात् एक का संक्रामक होता है तथा स्यात् एक का भी संक्रामक नहीं होता है। इस प्रकार उसके भजनीयता जानना चाहिये।

जिसने मिथ्यात्व का क्षय किया है, ऐसे वेदक सम्यक्त्वी में या सम्यक्त्व प्रकृति के उद्वेलन करने वाले मिथ्यादृष्टि में दो की सत्ता रहते हुए भी तब तक एक ही प्रकृति का संक्रमण होता है, जब तक कि क्षय को प्राप्त या उद्वेलित सम्यग्मिथ्यात्व अनावली प्रविष्ट है। जब वह सम्यग्मिथ्यात्व आवली प्रविष्ट होता है, तब उस सम्यक्त्वी या मिथ्यादृष्टि के संक्रमण न होने से भजनीयता

सिद्ध होती है। जिस सम्यक्त्वी के क्षपणा वश या मिथ्यात्वी के उद्वेलनावश एक ही सम्यक्त्व प्रकृति या मिथ्यात्व प्रकृति शेष रही है, वह संक्रमण की अपेक्षा भजितव्य नहीं है, क्योंकि उसके संक्रमण शक्ति का अभाव है, इस कारण वह असंक्रामक है। "एयं जस्स दु कम्मं एवं भणिदे जस्स सम्माइट्ठिस्स वा खवणुव्वेलणावसेण सम्मत्तं वा मिच्छत्तं वा एक्कमेव संतकम्ममवसिट्ठं ण सो संकमेण भयणिज्जो। संकमभंगस्स तत्थ असंतामावेण असंकामगो चेव सो होइ त्ति भणिदं होइ" (पृ० १७२४)

सम्माइट्ठी जीवो सद्दहदि पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।
सद्दहइ असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥१०७॥

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञोपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं न जानता हुआ गुरु के निमित्त से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है। (१)

(प्रकर्षता को प्राप्त वचन प्रवचन है।) सर्वज्ञ का उपदेश, परमागम तथा सिद्धान्त एकार्थ वाचक शब्द हैं। ("पयरिसं जुत्तं वयणं पवयणं,) सव्वण्होवएसो परमागमोत्ति सिद्धंतो त्ति एयट्ठो"

सम्यग्दृष्टि असद्भूत अर्थ को गुरु वाणी से प्रमाण मानता हुआ स्वयं अज्ञानतावश श्रद्धान करता है। इससे उस सम्यक्त्वी में आज्ञा सम्यक्त्वी का लक्षण पाया जाता है। असद्भूत अर्थ का श्रद्धान करने पर भी वह सम्यक्त्व युक्त रहता है। "परमागमोपदेश एवायमित्यध्यवसायेन तथा प्रतिपद्यमानस्यानवबुद्धपरमार्थस्यापितस्य सम्यग्दृष्टित्वाप्रच्युतेः"—यह परमागम का ही कथन है, ऐसा अध्यवसाय रहने से तथा प्रतिपद्यमान वस्तु के संबंध में

१ सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥ गो०जी०

श्री चंद्रप्रभु
दिगंबर जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परमार्थ तत्व से अपरिचित रहते हुए भी वह सम्यक्त्वीपने से च्युत नहीं होता है।

१ मिच्छाइट्ठी णियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१०८॥

मिथ्यादृष्टि नियम से सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है किन्तु अल्पज्ञों द्वारा प्रतिपादित अथवा अप्रतिपादित असद्भाव अर्थात् वस्तु के अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है।

विशेष—सत्य प्रवचन में अश्रद्धा तथा असत्य प्रतिपादन में श्रद्धा होने का कारण दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है, जिससे विपरीत अभिनिवेश हो जाया करता है। "दसणमोहणीयोदयजणिद विवरीयाहिणिवेसत्तादो" (१७३५)। दर्शन मोहनीय के उदयवश यह उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट कुमार्ग का श्रद्धान करता है। "उपदिष्टमनुपदिष्टं वा दुर्मार्गमेष दर्शनमोहोदयच्छ्रद्धाति।"

सम्मामिच्छाइट्ठी सागारो वा तहा अणागारो।
अध वंजणोग्गहम्मि दु सागारो होइ बोद्धव्वो ॥ १०९॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि साकारोपयोगी तथा अनाकारोपयोगी होता है। व्यंजनावग्रह (विचारपूर्वक अर्थग्रहण) की अवस्था में साकारोपयोगी ही होता है।

विशेष— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव साकार अर्थात् ज्ञानोपयोग तथा अनाकार उपयोग (दर्शनोपयोग) युक्त होता है। "एदेण दंसणमोहोवसामणाए पयट्टमाणस्स पढमदाए जहा सागारोवजोग-

---

१ मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥ गो०जी०

णियमो एवमेत्थ णत्थि णियमो" (१७३५) इससे दर्शनमोहकी उपशामना में प्रवर्तमान प्रथमावस्था में नियम से साकारोपयोग होता है, यह नियम यहां नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"व्यंजनशब्दस्यार्थविचारवाचिनो ग्रहणात् तदवस्थायां ज्ञानोपयोग परिणत एव भवति, न दर्शनोपयोगपरिणत इति यावत्"—व्यंजन शब्द का भाव अर्थ का विचार है। उस अवस्था में ज्ञानोपयोग परिणत ही होता है। उस समय दर्शनोपयोग परिणत नहीं होता है।

मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव के साकार तथा निराकार रूप उपयोगों में परस्पर परिवर्तन भी संभव है।

शंका— व्यंजनावग्रह काल में दर्शनोपयोग का क्यों निषेध किया गया है?

समाधान— पूर्वापर विचार से शून्य सामान्यमात्रग्राही दर्शनोपयोग में तत्व का विचार नहीं हो सकता है। व्यंजनावग्रह में अर्थका विचार पाया जाता है, इस कारण उस अवस्था में दर्शनोपयोग का सद्भाव नहीं हो सकता।

दर्शनमोह-क्षपणा-अनुयोगद्वार

[1] दंसणमोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमिजादो ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥

कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ तथा मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है । दर्शनमोह की क्षपणा का निष्ठापक (पूर्ण करने वाला) चारों गतियों में पाया जाता है ।

विशेष— दर्शनमोह के क्षपणकार्य का प्रारंभ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है कारण "अकम्मभूमिजस्स य मणुसस्स च दंसणमोहक्खवणासत्तीए अच्चंताभावेन पडिसिद्धत्तादो"— अकर्मभूमिज मनुष्यके दर्शनमोह के क्षपण की सामर्थ्य का सर्वथा अभाव होने उसका प्रतिषेध किया गया है ।

कर्मभूमिज मनुष्य भी तीर्थंकर केवली, सामान्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूलमें दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारम्भ करता है, अन्यत्र नहीं ।" कम्मभूमिजादो वि तित्थयर-केवलि-सुदकेवलीणं पादमूले दंसणमोहणीयं खवेदु माढवेइ णाण्णत्थ ।"

शंका— सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्धि है, उसके लिए बाह्य अवलंबन रूप केवली, श्रुतकेवली के पादमूल की समीपता क्यों आवश्यक कही गई है ?

समाधान—"अदिट्ठ–तित्थयरादिमाहप्पस्स दंसणमोहक्खवण-णिबंधणकरण–परिणामाणमणुप्पत्तीदो" (१७२७)-तीर्थंकर आदि के माहात्म्य को न देखनेवाले मनुष्य के दर्शनमोहके क्षपण में कारण परिणाम उत्पन्न नहीं हो पाते ।

---

१ दंसण-मोहक्खवणा–पट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥गो.जी.

महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाह्य तथा अन्तरंग सामग्री को आवश्यक कहा है:—

देशना–काललब्ध्यादि–बाह्यकारणसम्पदि।

अन्तः–करणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक् ॥११६-६॥

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब देशना, काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धि रूप अन्तरंग सामग्री की प्राप्ति होती है, तब भव्यात्मा विशुद्ध सम्यक्त्व को धारण करता है।

इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि हुए बिना क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं हो सकता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति में केवली के पादमूल का आश्रय रूप निमित्त कारण आवश्यक माना गया है। इस निमित्त कारण का सुयोग न मिलने पर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति असंभव है।

यदि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक जीव बद्धायुष्क है, तो वह दर्शनमोहकी क्षपणा का कार्य प्रारंभ करने के उपरांत कृतकृत्य वेदक-काल के भीतर ही मरण को प्राप्त करता है तथा चारों ही गतियों में दर्शनमोह क्षपण की निष्ठापना करता है। वह प्रथम नरक में, भोगभूमियां पुरुषवेदी तिर्यंचों में, भोगभूमियां पुरुषों अथवा कल्पवासी देवों में उत्पन्न होकर दर्शनमोह क्षपणा की निष्ठापना करता है।

मिच्छत्तवेदणीए कम्मे ओवट्टिदम्मि सम्मत्ते।
खवणाए पट्ठवगो जहण्णगो तेउलेस्साए ॥११९॥

मिथ्यात्व वेदनीय कर्म के सम्यक्त्व प्रकृति में अपवर्तित (संक्रमित) किए जाने पर जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है। उसे जघन्य तेजो लेश्या में वर्तमान होना चाहिए।

विशेष— दर्शनमोह की क्षपणा में तत्पर कर्मभूमिया मनुष्य मिथ्यात्व प्रकृति के सर्व द्रव्य को मिश्र प्रकृति रूप में संक्रमित

करता है। मिश्र प्रकृति रुप परिणत द्रव्य को जब पूर्ण रूप से सम्यक्त्व प्रकृति रुप में संक्रमित कर देता है, तब उसे दर्शन-मोह-क्षपणा का प्रस्थापक कहते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से ही प्रस्थापक संज्ञा प्रारंभ होती है तथा वह यहां तक प्रस्थापक कहलाता है।

जघन्य तेजोलेश्या का निर्देश करने से अशुभ त्रिक लेश्याओं में दर्शनमोहकी क्षपणा का कार्य प्रारंभ नहीं होता, यह ज्ञात होता है। कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्याका विशुद्धि के विरुद्ध स्वभाव है किण्ण–नील–काउलेस्साणं विसोहिविरुद्धसहावाणं।" इस कारण आत्मविशुद्धि पर निर्भर इस दर्शन मोहकी क्षपणा के अवसर उक्त अशुभत्रिक लेश्याओं का अभाव परम आवश्यक है।

अंतोमुहुत्तमद्धं दंसणमोहस्स णियमसा खवगो।
खीणे देवमणुस्से सिया वि णामाउगो बंधो॥ ११२॥

वह दर्शनमोह का क्षपक अंतर्मुहूर्त पर्यन्त नियम से दर्शन मोह के क्षपणका कार्य करता है। दर्शन मोह के क्षीण हो जाने पर देवगति तथा मनुष्यगति संबंधी नाम कर्म की प्रकृतियों का तथा आयुकर्मका स्यात् बंधक है।

विशेष— दर्शन मोहका क्षपण करने वाला यदि मनुष्य है या तिर्यंच है, तो वह देवगति संबंध नाम कर्म तथा देवायुका बंध करता है।

यदि वह जीव देव है अथवा नारकी है, तो वह मनुष्यगति संबंधी नाम कर्म तथा मनुष्यायुका बंध करता है। यदि वह चरम शरीरी मनुष्य है तो आयु का बंध नहीं करेगा तथा नामकर्म की प्रकृतियोंका, स्वयोग्य गुणस्थानों में बंधव्युच्छित्ति होने के पश्चात् पुनः बंध नहीं करेगा। यह भाव गाथा में आगत 'सिया' शब्द से सूचित होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

खवणाए पट्ठवगो जम्हि भव णियमसा तदो अण्णे ।
णाधिच्छदि तिण्णिभवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥

दर्शन मोह की क्षपणा में प्रवर्तमान (प्रस्थापक) जीव जिस भव में प्रस्थापक होता है, उससे अन्य तीन भवों का उल्लंघन नहीं करता है ।

विशेष— दर्शनमोह की क्षपणा करने वाला जीव अधिक से अधिक तीन भव और धारणकरके मोक्ष को प्राप्त करता है । "जो पुण पुव्वाउअबंधवसेण भोगभूमिज-तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जइ तस्स खवणापट्ठवणभवं मोत्तूण अण्णे तिण्णि भवा होंति । तत्तो गंतूण देवेसुप्पज्जिय तदो चविय मणुस्सेसुप्पण्णस्स णिव्वाणगमण-णियम दंसणादो"—जिस जीव ने पूर्व आयु का बंध करने के कारण भोगभूमिज तिर्यंचपना या मनुष्यपना प्राप्त किया है, उसके क्षपणा प्रस्थापनभव को छोड़कर अन्य तीन भव होंगे । वह भोगभूमि से देवों में उत्पन्न होगा, तथा वहां से चयकर मनुष्यों में पैदा होकर नियम से निर्वाण गमन करता है । (१७२९)

संखेज्जा च मणुस्सेसु खीणमोहा सहस्ससो णियमा ।
सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंखेज्जा ॥११४॥

मनुष्यों में क्षीण-दर्शनमोही नियम से संख्यात सहस्र होते हैं । शेष गतियों में क्षीणदर्शनमोही नियम से असंख्यात होते हैं ।

विशेष— यहां 'क्षीणमोह' शब्द द्वारा दर्शनमोह का क्षपण करने वाला ही जानना चाहिए । क्षीणमोह गुणस्थानप्राप्त अर्थ करना असंगत है ।

जो वेदक सम्यक्त्वी दर्शन-मोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है, वह पूर्व में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ की विसंयोजना का कार्य पूर्ण करता है । "अविसंजोइदाणंताणुबंधि-चउक्कस्स दंसणमोहक्खवणपट्ठवणाणुववत्तीदो"— अनंतानुबंधी-

चतुष्क की विसंयोजना हुए बिना दर्शन मोहकी क्षपणा की प्रस्थापना नहीं होती है। इससे अनंतानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करने वाला वेदक सम्यक्त्वी, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त संयत वा अप्रमत्त संयत सर्वविशुद्ध परिणाम से दर्शनमोहकी क्षपणा में प्रवृत्त होता है यह जानना चाहिए। तम्हा विसंजोइदाणंताणुबंधिचउक्को वेदगसम्माइट्ठी असंजदो संजदासंजदो पमत्तापमत्ताणमण्णदरो संजदो वा सव्वविसुद्धेण परिणामेण दंसणमोहक्खवणाए पयट्टदित्ति घेत्तव्वं (१७४०)

दर्शनमोहकी क्षपणा के विषय में विशेष परिज्ञानार्थ सत्प्ररूपणा, द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भागाभाग तथा अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार इस गाथा द्वारा सूचित किए गए हैं—"एदीए खीणदंसणमोहाणं जीवाणं पमाण-पदुप्पायणदुवारेण संतादि-अट्ठाणियोगद्दारेहिं परूवणा सूचिदा"। (१७३९)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देशविरत अनुयोगद्वार

लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स ।
वड्ढावड्ढी उवसामणा य तह पुव्वबद्धाणं ॥ ११५ ॥

संयमासंयम की लब्धि, सकल चरित्र की लब्धि, भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा पूर्वबद्ध कर्मों की उपशामना इस अनुयोगद्वार में वर्णनीय है।

विशेष— इस एक ही गाथा द्वारा संयमासंयम लब्धि तथा संयमलब्धि का उल्लेख किया गया है।

हिंसादि पापों का एक देशत्याग संयमासंयम है। इसमें त्रसवध का त्यागरुप संयम पाया जाता है तथा स्थावरवध का त्याग न होने से असंयम भी पाया जाता है। इस कारण इसे संयमासंयम या विरताविरत कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है:—

जो तसबहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥

जो त्रसहिंसासे विरत है तथा स्थावर हिंसा से अविरत है तथा आप्त, आगमादि में प्रगाढ़ श्रद्धावान् है, वह एक काल में विरताविरत कहा जाता है। गाथा में आगत 'च' शब्द का भाव है "चेत्यनेन प्रयोजनं विना स्थावरवधमपि न करोतीत्ययमर्थः सूच्यते" (पृष्ठ ६०, संस्कृत टीका गो. जी.)– बिना प्रयोजन के वह स्थावर जीवों का वध भी नहीं करता।

देशविरत के देशचारित्र का घात करने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयाभाव से जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, उसे संयमासंयम लब्धि कहते हैं। यहां संयमासंयमी के प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन तथा नव नोकषायों का उदय भी पाया जाता है; किन्तु यह विशेषता है "तेसिमुदयस्स सव्वघादित्ताभावेण देसोवसमस्स

तत्थ संभवे विरोहाभावादो" उनका उदय सर्वघातीपने से रहित होने से देशोपशम वहां भी संभव है, कारण इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रत्याख्यानावरण का उदय तो सर्वघाती ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। देशसंयम के विषय में उसका व्यापार नहीं पाया जाता है" पच्चक्खाणावरणीयोदयो सव्वघादी चेवेत्ति चे ण, देससंजमविसए तस्स वावाराभावादो (१७७५)

नेमिचंद्राचार्य ने कहा है:—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥ गो. जी.

प्रत्याख्यानावरण कषाय प्रत्याख्यान अर्थात् सकलसंयम को

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रोकती है। उस कषाय की उदय होने पर संयम भाव नहीं होता है। १ प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव लक्षण क्षय तथा उनका सदवस्था रूप उपशम होने पर तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय होने से अल्प व्रत रूप देशव्रत होते हैं। इसको धारण करने वाला पंचमगुणस्थानयुक्त कहा गया है।

यतिवृषभ आचार्य कहते हैं "पच्चक्खाणावरणीया वि संजमासंजमस्स ण किंचि आवरेंति—" प्रत्याख्यानावरणीय कषाय संयमासंयम को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचाती है। "सेसा चदुकसाया णवणोकसायवेदणीयाणि च उदिण्णाणि देशघादि करेदि संजमासंजमं"—शेष चार संज्वलन कषाय, नव नोकषाय वेदनीय के उदयवश संयमासंयम को देशघाती करती हैं। 'देशघादिं करेंति, खओवसामियं करेंति त्ति वुत्तं होदि—" देशघाती करती हैं इसका भाव यह है कि उसे क्षायोपशमिक करती हैं।

---

१ प्रत्याख्यानावरणकषायाणां सर्वघातिस्पर्धकोदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च देशघातिस्पर्धकोदयादुत्पन्नत्वाद्देशसंयमः क्षायोपशमिक इति प्रतिपादितः ॥

(संस्कृत टीका पृष्ठ ५९)

यदि प्रत्याख्यानावरणीय का उदय होते हुए भी शेष संज्वलनादि चारित्र मोह की प्रकृतियों का वेदन न हो, तो संयमासंयम लब्धि को क्षायिकपना प्राप्त हो जायगा—"जइ पंचक्खाणावरणीय वेदेंतो सेसाणि चरित्तमोहणीयाणि ण वेदेज्ज तदा संजमासंजम लद्धी खइया होज्ज।" संज्वलनादि का देशघाति रूपसे उदय परिणाम पाया जाता है, इससे उसे क्षायोपशमिक कहा है। (१७६४)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस संयमासंजम के विशेष परिज्ञानार्थ सत् प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भागाभाग और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार हैं, "संजदासंजदाणमट्ठ अणियोगद्दाराणि"

हिंसादि का त्याग करके पंच महाव्रत, पंच समिति तथा तीन गुप्ति को धारण करने रूप जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, वह संयम लब्धि है। गोम्मटसार जीवकांड में कहा है:—

> संजलण—णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
> मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥३२॥

संज्वलन तथा नव नोकषायों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभाव रूप क्षय, तथा उनका सदवस्था रूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों के उदय होने से संयम के साथ मलिनता का कारण प्रमाद भी होता है, इससे प्रमत्तविरत कहते हैं।

१ अलब्धपूर्व संयमासंयम लब्धि अथवा संयम लब्धि के प्राप्त होने पर उसके प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त पर्यन्त प्रति समय अनंतगुणित क्रम से परिणामों में विशुद्धता की वृद्धि को 'वड्ढावड्ढी' कहते हैं।

---

१ 'वड्ढावड्ढी' एव भणिदे तासु चेव संजमासंजम-संजम-लद्धीसु अलद्धपुव्वासु पडिलद्धासु तल्लाभपढमसमयप्पहुडि अंतोमुहुत्तकालब्भंतरे पडिसमयमणंतगुणाए सेढीए परिणामवड्ढी गहेयव्वो। उवरुवरि परिणामवड्ढीए वड्ढावड्ढिववएसो वलंवणादो। (१७७५)

२ देशसंयम तथा संयम के प्रतिबंधक पूर्वबद्धकर्मों के अनुदय को उपशामना कहा है। इसके चार भेद हैं। (१) प्रकृति उपशामना (२) स्थिति उपशामना (३) अनुभाग उपशामना (४) प्रदेश उपशामना।

देशसंयम तथा सकल संयम को घातकरने वाली प्रकृतियों की उपशामना को प्रकृति उपशामना कहते हैं। इन्हीं प्रकृतियों की अथवा सभी कर्मों की अंतःकोडाकोडी सागर से ऊपर की स्थितियों का उदयाभाव स्थिति उपशामना है। चारित्र के घातक मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज कषायों के त्रिस्थानीय, चतुःस्थानीय अनुभाग के उदयाभाव को तथा उदय में आनेवाली कषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव को अनुभागोपशामना कहा है। उनके देशघाति द्विस्थानीय अनुभाग के उदय का सद्भाव पाया जाता है। अनुदय प्राप्त कषायों के प्रदेशों के उदयाभाव को प्रदेशोपशामना कहा है।

---

२ संजमासंजम-संजमलद्धीओ पडिवज्जमाणस्स पुव्वबद्धाणं कम्माणं चारित्तपडिबंधीणमणुदयलक्खणा उवसामणा घेतव्वा।

चारित्रलब्धि अनुयोगद्वार

चारित्र तथा संयम में कोई भेद नहीं है। चूर्णिसूत्रकार ने इस

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुयोग द्वार को चारित्र का अनुयोग द्वार कहा है। उन्होंने लिखा है "लद्धी तहा चरित्तस्से त्ति अणियोगद्दारे पुव्वं गमणिज्जं सुत्तं" (१७९५) चारित्र लब्धि अनुयोग द्वार में पहले गाथा रूप सूत्र ज्ञातव्य है। "तं जहा जा चेव संजमासंजमे भणिदा गाहा सा चेव एत्थ वि कायव्वा" वह इस प्रकार है। जो गाथा संयमासंयम लब्धि नामक अनुयोग द्वार में कही है, वही यहां भी प्ररूपण करना चाहिये। गुणधर आचार्य ने गाथा में "लद्धी तहा चरित्तस्स" (११५ गाथा) शब्दों का प्रयोग किया है। जयधवला टीका के मंगलाचरण में संयमलब्धि अनुयोग शब्द का उपयोग किया गया है।

संजमिद-सयलकरणे णमसिउं सव्वसंजदे वोच्छं।
संजमसुद्धिणिमित्तं संजमलद्धि त्ति अणियोगं ॥

जिन्होंने संपूर्ण इंद्रियों को वश में कर लिया है, ऐसे संपूर्ण संयमियों को नमस्कार करके संयम की शुद्धि के निमित्त संयम लब्धि अनुयोग को कहता हूँ।

चूर्णिसूत्रकार कहते हैं "जो संजमं पढमदाए पडिवज्जदि तस्स दुविहा अद्धा अद्धापवत्तकरणद्धा अपुव्वकरणद्धा च" (१७९७) जो संयम को प्रथमता से प्राप्त होता है, उसके अधःप्रवृत्तकरण काल तथा अपूर्वकरण काल इस प्रकार दो प्रकार काल कहा है।

शंका—यहां अनिवृत्तिकाल के साथ तीन अद्धा (काल) क्यों नहीं कहे—"एत्थ अणियट्टिअद्धाए सह तिण्णि अद्धा कधं ण परूविदाओ ?"

समाधान—वेदक प्रायोग्य मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि के प्रथमता से संयम को स्वीकार करने वाले के अनिवृत्तिकरण नहीं पाया जाता है—"वेदगपाओग्ग-मिच्छाइट्ठिस्स वेदगसम्मा-

इट्ठिस्स वा पढमदाए संजमं पडिवज्जमाणस्साणियट्टिकरण—संभवा-भावादो" (१६९८)। संयमासंयम लब्धि में दो करण कहे हैं।

• अनादि मिथ्यादृष्टि के उपशम सम्यक्त्व के साथ संयम के प्राप्त होते समय तीनों करण होते हैं, किन्तु यहां उसकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि वह दर्शनमोह की उपशामना में अंतर्भूत हो जाता है।

• चारित्रलब्धि को प्राप्त होने वाले जीवों के सत्प्ररूपणा, द्रव्य, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भागाभाग और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार हैं। संयमलब्धि के दो भेद हैं। (१) जघन्य (२) उत्कृष्ट संयमलब्धि रूप भेद हैं। कषायों के तीव्र अनुभागोदय जनित मंद विशुद्धता युक्त जघन्य संयम लब्धि है। कषायों के मन्दतर अनुभागोदय जनित विपुल विशुद्धता सहित उत्कृष्ट संयम लब्धि है।

शंका—क्षीण कषाय तथा उपशांतकषाय गुणस्थानों की सर्वोत्कृष्ट चारित्र लब्धि को यहां क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—यहां प्रकरणवश सामायिक, छेदोपस्थापना संयम वालों की उत्कृष्ट चारित्र लब्धि को ग्रहण किया है।

जघन्य संयम लब्धि सर्व संक्लिष्ट तथा अनंतर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाले अंतिम समयवर्ती संयमी के होती है।

• उत्कृष्ट संयम लब्धि सर्वविशुद्ध स्वस्थान संयत के होती है। सर्वोत्कृष्ट संयम लब्धि उपशांतमोह तथा क्षीण मोह के होती है, जिनके यथाख्यात संयमलब्धि पाई जाती है।

• संयम लब्धि स्थान के (१) प्रतिपात स्थान (२) उत्पादक स्थान (३) लब्धि स्थान ये तीन भेद हैं—

१ प्रतिपातस्थान की व्युत्पत्ति इस प्रकार है "प्रतिपतत्यस्माद-धस्तनगुणेष्विति"—नीचे के गुणस्थान में यहां से प्रतिपतन होने से
मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
से प्रतिपात कहते हैं। जिस स्थान पर स्थित जीव मिथ्यात्व को, असंयम सम्यक्त्व (असंजमसम्मत्तं) वा संयमासंयम को प्राप्त होता है, वह प्रतिपात स्थान कहा गया है।

जिस स्थान पर स्थित जीव संयम को प्राप्त होता है, उसे उत्पादकस्थान कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है "संयम मुत्पादयतीत्युत्पादकः प्रतिपद्यमान इत्यर्थः; तस्य स्थान मुत्पादक स्थानं पडिवज्जमाणट्ठाणमिदि वुत्तं होइ" संयम को उत्पन्न कराता है, इससे उत्पादक कहते हैं। यह विशुद्धिवश संयम को प्राप्त करता है।

संपूर्ण चारित्र स्थानों को लब्धि स्थान कहते हैं। "सव्वाणि चेव चरित्तट्ठाणाणि लद्धिट्ठाणाणि" (१८०२) चूर्णिकार ने 'सर्व' शब्द ग्रहण किया है, उसमें प्रतिपात स्थान, अप्रतिपात स्थान, प्रतिपद्यमान स्थान, अप्रतिपद्यमान स्थान इन सबका समावेश हुआ है। इसका दूसरा अर्थ यह किया गया है कि उत्पादक स्थान तथा प्रतिपात स्थान को छोड़कर शेष संयम स्थानों का यहां ग्रहण किया गया है। अतः अप्रतिपात तथा अप्रतिपद्यमान संयम लब्धि स्थान 'सर्व' शब्द द्वारा ग्रहण किए गए हैं।

भरत, ऐरावत तथा विदेह सम्बन्धी पंचदश कर्मभूमियां हैं। उनमें उत्पन्न जीवों के प्रतिपद्यमान जघन्य संयम स्थानों की अपेक्षा अकर्मभूमि में उत्पन्न जीवों के प्रतिपद्यमान जघन्य संयम स्थान अनंतगुणे कहे हैं।

---

१ पडिवादट्ठाणं णाम जम्हि ट्ठाणे मिच्छत्तं वा असंजमसम्मत्तं वा संजमासंजमं वा गच्छइ तं पडिवादट्ठाणं। उप्पादयट्ठाणं णाम जहा जम्हि ट्ठाणे संजमं पडिवज्जइ तमुप्पादयट्ठाणं णाम। (१८०२)

श्री चंद्रप्रभु
दिगंबर जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

शंका—अकर्मभूमिज कौन कहे गए हैं ?

समाधान—भरत, ऐरावत तथा विदेहों में विनीत अर्थात् आर्य नामक मध्यम खण्ड को छोड़कर शेष पंचखण्डों के निवासी मनुष्य यहां 'अकर्मभूमिज' कहे गए हैं। १ उनमें धर्म-कर्म की प्रवृत्ति असंभव होने से अकर्मभूमिजपना उपयुक्त है।

शंका—जब वहां धर्म-कर्म की प्रवृत्ति संभव नहीं है, तब वहां संयम का ग्रहण किस प्रकार होगा ?

समाधान—२ दिग्विजय (दिशा-विजय) में प्रवृत्त चक्रवर्ती के स्कन्धावार (कटक) के साथ जो म्लेच्छ नरेश आर्यखण्ड में आ जाते हैं, उनके साथ चक्रवर्ती का विवाह का सम्बन्ध हो जाने से संयम की प्रतिपत्ति में बाधा नहीं है।

अथवा चक्रवर्ती आदि के द्वारा विवाहित उन म्लेच्छ क्षेत्रोत्पन्न नरेशों की कन्याओं के गर्भ से जो संतान उत्पन्न हुई, वह मातृपक्ष की अपेक्षा यहां अकर्मभूमिज पद से विवक्षित की गई है, अतः कोई बाधा नहीं है। ऐसी संतान की दीक्षा सम्बन्धी योग्यता में कोई बाधा नहीं है।

---

१ भरहेरावयविदेहेसु विणीदसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूण सेस-पंचखंडणिवासी मणुओ एत्थाकम्मभूमिओ त्ति विवक्खिदो, तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो (१८०५)

२ दिसाविजयपट्टचक्कवट्टी-खंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टीआदिहिं सह-जाद वेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादि-परिणीतानां गर्भेषूत्पन्न-मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इति इह विवक्षिताः ततो न किंचित् विप्रतिषिद्धं, तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् इति (१८०५)

संयम को प्राप्त अकर्मभूमिज के जघन्य संयम स्थान से संयम को प्राप्त होने वाले अकर्मभूमिज मनुष्य का उत्कृष्ट संयम स्थान अनंतगुणित है। इससे संयम को प्राप्त करने वाले कर्मभूमिज का उत्कृष्ट संयम स्थान अनंतगुणित है। इससे परिहारविशुद्धि संयत का जघन्य संयम स्थान अनंत-गुणित है। उसका उत्कृष्ट संयम स्थान अनंत-गुणित है। इससे सामायिक और छेदोपस्थापना संयमियों का उत्कृष्ट संयम-स्थान अनंतगुणित है। इससे सूक्ष्मसांपराय शुद्धि संयतों का जघन्य संयमस्थान अनंतगुणित है। इससे उसका ही उत्कृष्ट संयमस्थान अनंतगुणित है। वीतराग का अजघन्य और अनुत्कृष्ट चारित्रलब्धिस्थान अनंतगुणित है। "वीयरायस्स अजहण्णमणुक्कस्सयं चरित्तलद्धिट्ठाणमणंत-गुणं" (पृष्ठ १८०६)। यहां वीतराग शब्द द्वारा उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय तथा केवली का ग्रहण विवक्षित है। कषाय का अभाव हो जाने से उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय तथा केवली अवस्था में पाए जाने वाले यथाख्यातविहारशुद्धि संयतों में जघन्य तथा उत्कृष्ट भेद की अनुपलब्धि है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चारित्रमोहोपशामना—अनुयोगद्वार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उवसामणा कदिविधा उवसामो कस्स कस्स कम्मस्स ।
कं कम्मं उवसंतं अणउवसंतं च कं कम्मं ॥ ११६ ॥

उपशामना के कितने भेद हैं ? किस किस कर्म का उपशम होता है ? किस अवस्था में कौन कर्म उपशान्त रहता है तथा कौन कर्म अनुपशांत रहता है ?

कदिभागुवसामिज्जदि संकमणमुदीरणा च कदिभागो ।
कदिभागं वा बंधदि ठिदिअणुभागे पदेसग्गे ॥ ११७ ॥

चारित्र मोहकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्रों का कितना भाग उपशमित होता है ? कितना भाग संक्रमण और उदीरणा को प्राप्त होता है ? कितना भाग बंध को प्राप्त होता है ?

केवचिरमुवसामिज्जदि संकमणमुदीरणा च केवचिरं ।
केवचिरं उवसंतं अणउवसंतं च केवचिरं ॥ ११८ ॥

चारित्र मोहकी प्रकृतियों का कितने काल पर्यन्त उपशमन होता है ? कितने काल पर्यन्त संक्रमण, उदीरणा होती हैं । कौन कर्म कितने काल पर्यन्त उपशांत तथा अनुपशांत रहता है ?

कं करणं वोच्छिज्जदि अव्वोच्छिण्णं च होइ कं करणं ।
कं करणं उवसंतं अणउवसंतं च कं करणं ॥११९॥

कौन करण व्युच्छिन्न होता है ? कौन करण अव्युच्छिन्न होता है ? कौन करण उपशान्त रहता है ? कौन करण अनुपशांत रहता है ?

विशेष—"एदाओ चत्तारि सुत्तगाहाओ उवसामग-परुवणाए पडिबद्धाओ, उवरिम चत्तारि गाहाओ तस्सेव पडिवादपरुप्पायणे पडिबद्धाओ"—पूर्वोक्त चार सूत्र गाथाएं उपशामक प्ररूपणा से

प्रतिबद्ध हैं। इसके आगे की चार गाथाएँ प्रतिपात प्रतिपादना से प्रतिबद्ध हैं (१८०९)

पडिवादो च कदिविधो कम्हि कसायम्हि होइ पडिवदिदो ।
केसिं कम्मंसाणं पडिवदिदो बंधगो होइ ॥१२०॥

प्रतिपात कितने प्रकार का है तथा वह प्रतिपात किस कषाय में होता है ? वह प्रतिपात होते हुए भी किन किन कर्मांशों का बंधक होता है ?

दुविहो खलु पडिवादो भवक्खया-दुवसमक्खयादो दु ।
सुहुमे च संपराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥१२१॥

प्रतिपात दो प्रकार का है। एक प्रतिपात भवक्षय से होता है तथा दूसरा उपशमकाल के क्षय से होता है। वह प्रतिपात सूक्ष्मसांपराय तथा बादर राग (लोभ) नामक गुणस्थान में जानना चाहिये।

उवसामणा-खयेण दु पडिवदिदो होइ सुहुमरागम्हि ।
बादररागे णियमा भवक्खया होइ परिवदिदो ॥१२२॥

उपशामना काल के क्षय होने पर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में प्रतिपात होता है। भवक्षय से होने वाला प्रतिपात नियम से बादरराग में होता है।

उवसामणा—खएण दु अंसे बंधदि जहाणुपुव्वीए ।
एमेव य वेदयदे जहाणुपुव्वीय कम्मंसे ॥ १२३ ॥

उपशामना काल के समाप्त होने पर गिरने वाला जीव यथानुपूर्वी से कर्मों को बांधता है। इसी प्रकार वह आनुपूर्वी क्रमसे कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

श्री चंद्रप्रभु
दिगंबर जैन पाठशाला
ग्राम... जि. ... गुडगाणा

विशेष—चारित्र मोहकी उपशामना में उपक्रम परिभाषा पहले प्ररुपणीय है। "उपक्रमणमुपक्रमः समीपीकरणं प्रारंभ इत्यनर्थान्तरं, तस्य परिभाषा उपक्रम-परिभाषा"— उपक्रम का अर्थ समीप करना अथवा प्रारंभ है। उसकी परिभाषा उपक्रम परि-मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराजभाषा है। वह (१) अनंतानुबंधी विसंयोजना (२) दर्शन-मोहोपशमना के भेद से दो प्रकार है। इनमें अनंतानुबंधी की विसंयोजना पूर्व में प्ररुपण करने योग्य है, क्योंकि अट्ठाईस प्रकृतियों के सत्व युक्त वेदक सम्यक्त्वी संयत जब तक अनंतानुबंधी क्रोध मान, माया तथा लोभ की विसंयोजना नहीं कर लेता है, तब तक वह कषायों के उपशम को प्रारम्भ नहीं करता है।

प्रश्न—इसका क्या कारण है ?

समाधान—"तेसिमविसंजोयणाए तस्स उवसमसेढिचढणपाओग्गभावासंभवादो"— अनंतानुबंधी की विसंयोजना किए बिना वह संयमी उपशम श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है। चूर्णिसूत्र में कहा है "सो ताव पुव्वमेव अणंताणुबंधी-विसंजोएंतस्स जाणि करणाणि ताणि सव्वाणि परुवेयव्वाणि" (१८१०)— वह संयत पूर्व ही अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है। अतः अनंतानुबंधी के विसंयोजक के जो करण हैं, वे सभी प्ररुपणीय हैं।

प्रश्न—करण-परिणामों का कथन क्यों आवश्यक है ?

समाधान—"करणपरिणामेहि विणा तव्विसंजोयणाणुववत्तीदो"- करण परिणामों के अभाव में विसंयोजना की उपपत्ति नहीं है। वे करण (१) अधःप्रवृत्तकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार हैं। इनके द्वारा अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना होती है।

अधःप्रवृत्तकरण में प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि होती है किन्तु वहां स्थितिघात [अनुभागघात] गुणश्रेणी अथवा [गुण

संक्रमण] नहीं होते। अपूर्वकरण में स्थितिघात, अनुभागघात, गुणश्रेणी तथा गुणसंक्रमण पाए जाते हैं। ये अनिवृत्तिकरण में भी पाये जाते हैं। वहां अन्तरकरण नहीं पाया जाता है। दर्शनमोह की उपशामना में अनिवृत्तिकरण में अन्तरकरण नहीं पाया जाता है, उसप्रकार यहां चरित्रमोह की उपशामना में अनिवृत्तिकरण में अन्तरकरण नहीं पाया जाता है। "जहा पुण दंसणमोहोवसामणाए अणियट्टिकरणम्मि अन्तरकरणमत्थि किमेवमेत्थ वि संभवो आहो णत्थि त्ति आसंकाए णिराकरणट्ठमंतरकरणं णत्थि त्ति पदुप्पाइदं।" (१८११)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ का विसंयोजन होने पर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अधःप्रवृत्तसंयत रहता है। उस समय वह स्वस्थानसंयत (सत्थाण संजदो) रहता है। संक्लेश तथा विशुद्धि के वशसे प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानों में परिवर्तन करता हुआ करण की विशुद्धि के फलस्वरूप असाता वेदनीय, अरति, शोक, अयशस्कीर्ति आदि प्रकृतियों का अबंधक होता है तथा संक्लेश परिणामों के कारण वह असातावेदनीय, अरति, शोक, अयशस्कीर्ति तथा आदि पद से सूचित अस्थिर और अशुभ इन छह प्रकृतियों का बंधक हो जाता है। "तदो अंतोमुहुत्तेण दंसणमोहणीयमुवसामेदि।" इसके बाद एक अंतर्मुहूर्त के द्वारा दर्शनमोह का उपशमन करता है। दर्शनमोह के उपशामक के करण कहे गए हैं। वे यहां भी होते हैं। यहां पर दर्शनमोह की उपशामना के समान स्थितिघात, अनुभागघात एवं गुणश्रेणी हैं। गुणसंक्रमण नहीं होता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो स्थिति सत्व होता है, वह उसके चरिम समय में संख्यातगुणहीन होता है। इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में जो स्थिति-सत्व होता है, वह उससे अंतिम समय में संख्यातगुणित हीन हो जाता है।

दर्शनमोह के उपशामक के अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात-

भागों के बीतने पर सम्यक्त्व प्रकृति के असंख्यात समयप्रबद्धों की उदीरणा होती है। "अंतोमुहुत्तेण दंसणमोहणीयस्स अंतरं करेदि"— तदनंतर एक अंतर्मुहूर्तकाल में दर्शनमोहनीय का अंतर करता है।

सम्यक्त्व प्रकृति की प्रथम स्थिति के क्षीण होने पर जो मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र शेष रहता है, उसका सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व में गुणसंक्रमण द्वारा संक्रमण नहीं करता है। उसके विध्यात संक्रमण होता है। प्रथमवार सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव का जो गुणसंक्रमण से पूर्णकाल है, उससे संख्यातगुणित काल पर्यन्त यह उपशान्त–दर्शन–मोहनीय जीव विशुद्धि से बढ़ता है। इसके पश्चात् स्वस्थान में पतित उस जीव के संक्लेश तथा विशुद्धिवश कभी हानि, कभी विशुद्धि तथा कभी अवस्थितपना पाया जाता है। वही जीव असाता, अरति, शोक, अयशःकीर्ति, [illegible] बंध परावर्तन करता है। वह हजारों बार प्रमत्त, अप्रमत्त होता है। वह कषायों के उपशमन हेतु उद्यत होता है। उसके लिए आदि करण रूप परिणाम को अधःप्रवृत्त कहते हैं— "कषायानुपशमयितु मुद्यतस्तस्य कृत्ये, तस्य कृते आद्यं करणपरिणाममधः प्रवृत्त-संज्ञमेव कृताशेषपरिकरकरणीयः परिणमत इत्यर्थः" (१८१६)

जो कर्म अनंतानुबंधी के विसंयोजन करने वाले के द्वारा नष्ट किया गया, वह 'हत' कहलाता है तथा जो दर्शन मोहनीय के उपशमन करने वाले के द्वारा नष्ट किया जाता है, वह कर्म उपरि-हत कहा जाता है।

कषायों का उपशमन करने वाले जीव के जो अधःप्रवृत्तकरण होता है, उसमें स्थितिघात, अनुभागघात तथा गुणश्रेणी नहीं होती हैं। वह अनंतगुणित विशुद्धि से प्रति समय बढ़ता है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में ये स्थिति कांडक आदि आव-

श्यक कार्य होते हैं। जो क्षीण दर्शन-मोह व्यक्ति कषायों का उपशामक होता है, उसके कषाय–उपशामना के अपूर्वकरण काल में प्रथम स्थितिकांडक का प्रमाण नियम से पल्योपमका संख्यातवां भाग होता है। स्थितिबंध के द्वारा जो अपसरण करता है, वह भी पल्योपम का संख्यातवांभाग होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुभाग कांडक का प्रमाण अशुभकर्मों के अनंतबहुभाग प्रमाण है। उस समय स्थितिसत्व अंतःकोडाकोडी सागरोपम है। गुण श्रेणी को अंतर्मुहूर्त मात्र निक्षिप्त करता है। इसके पश्चात् अनुभाग कांडक पृथक्त्व के व्यतीत होने पर दूसरा अनुभाग कांडक, प्रथम स्थिति कांडक और अपूर्वकरणका प्रथम स्थितिबंध ये एक साथ निष्पन्न होते हैं। स्थिति कांडक पृथक्त्व के व्यतीत होने पर निद्रा तथा प्रचला की बंधव्युच्छित्ति होती है। अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पर-भव संबंधी नामकर्म की प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है।

अपूर्वकरणकाल के अंतिम समय में स्थिति कांडक, अनुभाग कांडक एवं स्थितिबंध एक साथ निष्पन्न होते हैं। इसी समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है। वहां ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन की उदय व्युच्छित्ति होती है।

इसके अनन्तर समय में वह प्रथम समयवर्ती अनिवृत्तिकरण संयत होता है। उस समय अप्रशस्तोपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरेण एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं। "तिस्से चेव अणियट्टिअद्धाए पढमसमए अप्पसत्थउवसामणाकरणं णिधत्तीकरणं णिकाचनाकरणं च वोच्छिण्णाणि" (१८२३)

जो कर्म उत्कर्षण, अपकर्षण, तथा पर-प्रकृति संक्रमण के योग्य होते हुए भी उदय स्थिति में अपकर्षित करने के लिए

शक्य न हो अर्थात् जिसकी उदीरणा न की जा सके, उसे अप्रशस्तोपशामना कहते हैं। जिस कर्म में उत्कर्षण, अपकर्षण हों, किन्तु उदीरणा और पर-प्रकृति रूप संक्रमण न हो, उसे निधत्तीकरण कहते हैं। जिस कर्म में उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा तथा संक्रमण न हों तथा जो सत्ता में तदवस्थ रहे, उसे निकाचना-करण कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—सूत्र गाथा में प्रश्न उठाया है, "उवसामणा कदिविधा?" (गाथा ११६) उपशामना के कितने भेद हैं?

उत्तर—चूर्णिसूत्रकार कहते हैं, "उवसामणा दुविहा करणो-वसामणा च अकरणोवसामणा च" (पृ. १८७१) उपशामना (१) करणोपशामना (२) अकरणोपशामना के भेद से दो प्रकार है। अकरणोपशामना को अनुदीर्णोपशामना भी कहते हैं। "एसा कम्मपवादे"—यह कर्मप्रवाद नामके आठवें पूर्व में विस्तारपूर्वक कही गई है।

करणोपशामना के दो भेद हैं, (१) देशकरणोपशामना (२) सर्वकरणोपशामना। "देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थ-उवसामणात्ति वि—"देशकरणोप-शामना के दो नाम हैं। एक नाम देशकरणोपशामना है तथा दूसरा नाम अप्रशस्त उपशामना है। इसका विस्तारपूर्वक कथन कम्मपयडी प्राभृत में किया गया है। यह द्वितीय पूर्व की पंचम वस्तु से प्रतिबद्ध चतुर्थ प्राभृत नामका अधिकार है। "तत्थेसा देसकरणोवसामणा दट्ठव्वा"— वहां देशकरणोपशामना का वर्णन देखना चाहिए।

सर्वकरणोपशामना के सर्वकरणोपशामना तथा प्रशस्त-करणोपशामना ये दो नाम हैं, "जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा

सि वि" यहां अकरणोपशामना तथा देशकरणोपशामना से प्रयोजन नहीं है—"अकरणोवसामणाए देसकरणोवसामणाए च एत्थ पओजणाभावादो त्ति" (१८७४) यहां कसायोपशामना की प्ररूपणा के अवसर पर सर्वकरणोपशामना प्रकृत है।

प्रश्न—"उवसामेंतो कस्स कस्स कम्मस्स" किस किस कर्म का उपशमन होता है ?

समाधान—"मोहणीयवज्जाणं कम्माणं णत्थि उवसामो" –मोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों में उपशामना नहीं होती है।

प्रश्न—इसका क्या कारण है ?

समाधान—"सहावदो चेव"–ऐसा स्वभाव है। ज्ञानावरणादि कर्मों में उपशामना परिणाम संभव नहीं है। उन कर्मों में अकरणोपशामना तथा देशकरणोपशामना पाई जाती हैं, ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहां प्रशस्तकरणोपशामना का प्रसंग है॥ इससे शेष कर्मों का परिहार करके मोहनीय की प्रशस्तोपशामना में उपशामक होता है, यह जानना चाहिए। मोहनीय में भी दर्शनमोह को छोड़कर चारित्रमोहका ही उपशामक होता है, यह बात यहां प्रकृत है। (१२८)

चूर्णिसूत्रकार कहते हैं "दंसणमोहणीयस्स वि णत्थि उवसामो" दर्शनमोह का उपशम नहीं होता है। इस विषय में यह स्पष्टीकरण ज्ञातव्य है, कि इस प्रकार दर्शनमोह के उपशम की विवक्षा नहीं की गई है। "तदो संते वि दंसणमोहणीयस्स उपसमसंभवे सो एत्थ ण विवक्खिओ त्ति एसो एदस्स भावत्थो" (१८७५)

"अणंताणुबंधीणं पि णत्थि उवसामो"–अनंतानुबंधी में भी उपशम नहीं है। इसका कारण यह है, कि पहिले अनंतानुबंधी का

विसंयोजन करके तत्पश्चात् उपशमश्रेणी में समारोहण देखा जाता है। इससे विसंयोजन रूप अनंतानुबंधी में उपशामना संभव नहीं है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अप्रत्याख्यानावरण आदि द्वादश कषाय तथा नव नोकषाय-वेदनीय इन इक्कीस प्रकृतियों का उपशम होता है। उपशम श्रेणी में इन इक्कीस प्रकृतियों का उपशम होता है। 'बारसकसाय-णवणोकसायवेदणीयाणमुवसामो"।

प्रश्न—"कं कम्मं उवसंतं अणुवसंतं च कं कम्मं"? कौन कर्म उपशान्त रहता है? कौन कर्म अनुपशान्त रहता है?

उत्तर—इस गाथा ११६ के प्रश्न के समाधान में चूर्णि-सूत्रकार कहते हैं,—"पुरिसवेदेण उवट्ठिदस्स पढमं ताव णवुंसयवेदो उवसमेदि सेसाणि कम्माणि अणुवसमाणि'—पुरुषवेद के उदय के साथ उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाले जीव के सर्वप्रथम नपुंसकवेद का उपशम होता है। शेष कर्म अनुपशान्त रहते हैं।

नपुंसकवेद के उपशम होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् स्त्रीवेद का उपशम होता है।—"तदो सत्तणोकसाया उवसामेदि"—इसके अनंतर सात नोकषायों का उपशम होता है। इसके पश्चात् तीन प्रकार का क्रोध उपशम को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् त्रिविधि मान उपशम को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् त्रिविधि माया उपशम को प्राप्त होती है। "तदो तिविहो लोहो उवसमदि किट्टीवज्जो" इसके पश्चात् कृष्टियों को छोड़कर तीन प्रकार का लोभ उपशम को प्राप्त होता है। "तदो सव्वं मोहणीयं उवसंतं भवदि"—इसके पश्चात संपूर्ण मोहनीय उपशान्त होता है।

शंका—गाथा सूत्र में प्रश्न किया है; "कदिभागुव-सामिज्जदि संकमणमुदीरणा च कदिभागो"—चारित्र मोह का कितना भाग उपशम होता है? कितना भाग संक्रमण और उदी-रणा करता है?

समाधान—जो कर्म उपशम को प्राप्त कराया जाता है, वह अन्तर्मुहूर्त के द्वारा उपशान्त किया जाता है। उस कर्म का जो

प्रदेशाग्र प्रथम समय में उपशम को प्राप्त कराया जाता है, वह सबसे कम है। द्वितीय समय में जो उपशान्त किया जाता है, वह असंख्यातगुणा है। इस क्रम से जाकर अंतिम समय में कर्मप्रदेशाग्र' के असंख्यात बहुभाग उपशांत किये जाते हैं।

"एवं सव्वकम्माणं" (१८७७) इस प्रकार सर्व कर्मों का अर्थात् नपुंसकवेदादि का क्रम जानना चाहिए।

उदयावली तथा बंधावली को छोड़कर शेष सर्व स्थितियां समय समय अर्थात् प्रति समय उपशांत की जाती हैं। उदयावली में प्रविष्ट स्थितियों की उपशामना नहीं होती। बंधावली को अति-क्रांत स्थितियों की उपशामनादिकरणों की अप्रायोग्यता है।

"अणुभागाणं सव्वाणि फद्दयाणि सव्वाओ वग्गणाओ उव-सामिज्जंति" अनुभागों के सर्व स्पर्धक और वर्गणाएं उपशान्त की जाती हैं। नपुंसकवेद का उपशमन करने वाले प्रथम समयवर्ती जीव के जो स्थितियां बंधती हैं, वे सबसे कम हैं। जो स्थितियां संक्रान्त की जाती हैं, वे असंख्यातगुणी हैं, जो स्थितियां उदीरणा को प्राप्त कराई जाती हैं, वे उतनी ही हैं। उदीर्ण स्थितियां विशे-षाधिक हैं। 'जट्ठिदिउदयोदीरणा संतकम्मं च विसेसाहिओ' (पृ० १८८०) यत्स्थितिक उदय उदीरणा और सत्कर्म विशेषाधिक हैं।

"अणुभागेण बंधो थोवो"—अनुभाग की अपेक्षा बन्ध सर्व स्तोक है। उससे उदय और उदीरणा अनंतगुणी हैं। उससे संक्र-मण और सत्कर्म अनंतगुणित हैं।

"किट्टीओ वेदेंतस्स बंधो णत्थि"—कृष्टियों को वेदन करने वाले जीव के बंध नहीं होता है। कृष्टियों का वेदक सूक्ष्मसांपराय संयत होता है। मोहनीय का बंध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से आगे नहीं होता है।

उदय और उदीरणा स्तोक हैं, क्योंकि कृष्टियों की अनंत-गुणहानि होकर उदय और उदीरणा स्वरूप से परिणमन

देखा जाता है। इससे संक्रम अनंतगुणा है। उससे सत्कर्म अनंतगुणा है।

नपुंसकवेद की अनुत्कृष्ट—अजघन्य प्रदेश उदीरणा स्तोक [illegible]। उससे उत्कृष्ट उदय विशेषाधिक है। उससे जघन्य संक्रमण असंख्यातगुणित है। उससे उपशांत किया जाने वाला जघन्य द्रव्य असंख्यातगुणित है। उससे जघन्य सत्कर्म असंख्यातगुणित है। उससे संक्रान्त किया जाने वाला उत्कृष्ट द्रव्य असंख्यातगुणित है। उससे उत्कृष्ट सत्कर्म असंख्यात-गुणित है। यह सब अन्तरकरण के दो समय पश्चात् होने वाले नपुन्सकवेद के प्रदेशाग्र का अल्पबहुत्व है।

स्त्रीवेद का अल्पबहुत्व भी इसीप्रकार जानना चाहिए। आठकषाय, छहनोकषायों का उदय और उदीरणा को छोड़कर अल्पबहुत्व जानना चाहिये। पुरुषवेद तथा चार संज्वलनों के अल्पबहुत्व को जानकर लगाना चाहिये। उनके अल्पबहुत्व में बं-पद सबसे स्तोक हैं। अब "केवचिरंमुवसामिज्जदि" इस तीसरी गाथा की विभाषा को छोड़कर "कं करणं वोच्छिज्जदि" इस चतुर्थ गाथा की विभाषा करते हैं, कारण इससे तृतीय गाथा का प्रायः निरुपण हो जाता है।

प्रश्न—कौन करण कहां पर व्युच्छिन्न होता है? कौन करण कहां पर अव्युच्छिन्न होता है?

समाधान—इस सम्बन्ध में पहले करणों के भेद गिनाते हैं "अट्ठविहं ताव करणं" करण के आठ भेद हैं। (१) अप्रशस्त-उपशामना करण (२) निधत्तीकरण (३) निकाचनाकरण (४) बंध-करण (५) उदीरणाकरण (६) अपकर्षणाकरण (७) उत्कर्षणकरण (८) संक्रमणकरण।

इन आठ करणों में से अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से सभी कर्मों के अप्रशस्तोपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरणों की व्युच्छित्ति होती है। उस समय आयुकर्म तथा वेदनीय को छोड़कर शेष कर्मों के पांच करण होते हैं। आयु के केवल उद्वर्तनाकरण

(उत्कर्षणाकरण) होता है। शेष सात करण नहीं होते हैं। "आउगस्स ओवट्टणाकरणमत्थि सेसाणि सत्तकरणाणि णत्थि" (१८८५) वेदनीय के अपवर्तना, उद्वर्तना और संक्रमण ये चार करण होते हैं। "सेसाणि चत्तारि करणाणि णत्थि"—शेष चार करण नहीं होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मूलप्रकृतियों की अपेक्षा यह क्रम बादरसांपराय गुणस्थान के अंतिम समय पर्यन्त जानना चाहिये। सूक्ष्मसांपराय में मोहनीय के अपवर्तना और उदीरणाकरण ही होते हैं। उपशांतकषाय वीतराग के दर्शनमोह अपवर्तना तथा संक्रमणकरण होते हैं। वहां शेष कर्मों के उद्वर्तना और उदीरणाकरण होते हैं। आयु और वेदनीय का अपवर्तना करण ही होता है।

"कं करणं उवसंतं" आदि गाथा की विभाषा करते हैं।

प्रश्न—कौन कर्म कितने काल पर्यन्त उपशांत रहता है?

समाधान—निर्व्याघात काल (मरणादि व्याघात रहित अवस्था) की अपेक्षा नपुंसकवेदादि मोह की प्रकृतियां अंतर्मुहूर्त पर्यन्त उपशान्त रहती हैं।

प्रश्न—कौन कर्म कितने काल पर्यन्त अनुपशान्त रहता है?

समाधान—अप्रशस्तोपशामना के द्वारा निर्व्याघात की अपेक्षा कर्म अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनुपशान्त रहते हैं, किन्तु व्याघात अर्थात् मरण की अपेक्षा एक समय तक ही अनुपशांत रहते हैं।

शंका—उपशान्त मोह जीव किस कारण से नीचे गिरता है?

समाधान—उपशांत कषाय से गिरने का कारण उपशमनकाल का क्षय है। उससे वह सूक्ष्मलोभ में गिरता है। "अद्धाक्खएण सो लोभे पडिवदिदो होइ" (१८९२)

———

चारित्र-मोहक्षपणा अनुयोगद्वार

कषायोपशामना प्ररूपणा के पश्चात् चारित्र मोह की क्षपणा पर प्रकाश डाला गया है। यह चारित्र मोह की क्षपणा दर्शनमोह की क्षपणा से अविनाभाव संबंध रखती है। दर्शनमोह की क्षपणा अनंतानुबंधी की विसंयोजना पूर्वक होती है, कारण अनंतानुबंधी की विसंयोजना के अभाव में दर्शन मोह की क्षपणा की प्रवृत्ति की उपलब्धि नहीं पाई जाती है।

चारित्र मोहनीय की क्षपणा में अधः प्रवृत्तकरण काल, अपूर्वकरण काल तथा अनिवृत्तिकरण काल में तीनों परस्पर मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज सम्बद्ध तथा एकावलि रूप से विरचित करना चाहिये। इसके पश्चात् जो कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उनकी स्थितियों की पृथक् रचना करना चाहिए। उन्हीं कर्मों के जघन्य अनुभाग संबंधी स्पर्धकों की जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक एक स्पर्धकावली रचना करना चाहिये।

प्रश्न—संक्रमण प्रस्थापक अर्थात् कषायों के क्षपण आरंभक के परिणाम किस प्रकार के होते हैं ?

समाधान—उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं। कषायों का क्षपण प्रारंभ करने के अन्तर्मुहूर्त पूर्व से अनंतगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होते हुए आ रहे हैं। कषायों का क्षपक अन्यतर मनोयोग, अन्यतर वचन योग तथा काययोग में औदारिक काययोग युक्त होता है।

उस क्षपक के चारों कषायों में से किसी एक कषाय का उदय पाया जाता है।

प्रश्न—उसके क्या वर्धमान कषाय होती है या हीयमान होती है ?

समाधान—नियम से हीयमान कषाय होती है। "णियमा हायमाणो' उपयोग के विषय में यह वर्णन किया गया है। "आत्मनोऽर्थग्रहणपरिणामः उपयोगः"—आत्मा के अर्थग्रहण का परिणाम उपयोग है। उसका भेद साकार उपयोग मतिज्ञानादि आठ प्रकार का है तथा अनाकार उपयोग चक्षुदर्शनादि के भेद से चार प्रकार का है।

एक उपदेश है, कि श्रुतज्ञानोपयोगी क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है। दूसरा उपदेश है कि श्रुतज्ञानी अथवा मतिज्ञानी चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन से उपयुक्त होकर क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है। "एक्को उवएसो णियमा सुदोवजुत्तो होदूण खवगसेढिं चढदि त्ति। एक्को उवदेसो सुदेण वा मदीए वा, चक्खुदंसणेण वा, अचक्खुदंसणेण वा"

क्षपक के नियम से शुक्ललेश्या होती है। "णियमा वड्ढमाण लेस्सा"—नियम से वर्धमानलेश्या होती है।

प्रश्न— उसके कौन सा वेद होता है?

समाधान—"अण्णदरो वेदो"—अन्यतर अर्थात् तीन वेदों में कोई एक वेद होता है। यह भाववेद की अपेक्षा कहा गया है।

शंका—उसके द्रव्यवेद कौन सा है?

समाधान—"दव्वदो पुरिसवेदो चेव खवगसेढिमारोहदि त्ति वत्तव्वं। तत्थ पयांतरासंभवादो" (पृ० १९४४) द्रव्य से पुरुषवेद युक्त क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है। इस विषय में प्रकारान्तर नहीं है।

प्रश्न—"काणि वा पुव्वबद्धाणि?"—कौन कौन कर्म पूर्वबद्ध हैं?

समाधान—क्षपणा प्रारंभ करने वाले के प्रकृति सत्कर्म मार्गणा में दर्शन मोह, अनंतानुबंधी चतुष्क तथा तीन आयु को छोड़कर शेष कर्मों का सत्कर्म कहना चाहिये। आहारकशरीर

आहारकआंगोपांग तथा तीर्थंकर प्रकृति भजनीय हैं, क्योंकि सब जीवों में उनका सद्भाव असंभव है। स्थिति सत्कर्म की मार्गणा में जिन प्रकृतियों का प्रकृति सत्कर्म होता है, उनमें आयु को छोड़कर शेष का अंत: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सत्कर्म कहना चाहिए। अनुभाग सत्कर्म अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानिक तथा प्रशस्त प्रकृतियों का चतुःस्थानिक होता है। प्रदेश सत्कर्म सर्व कर्मों का अजघन्य-अनुत्कृष्ट होता है, क्योंकि प्रकारान्तर संभव नहीं है।

प्रश्न—"के वा अंसे णिबंधदि ?"—कौन कौन कर्मांशों को बांधता है ?

समाधान—इस विषय में उपशामक का जिस प्रकार वर्णन हुआ है, वैसा ही यहां भी ज्ञातव्य है। यहां प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध तथा प्रदेश बंध का अनुमार्गण करना चाहिए।

प्रश्न—"कदि आवलियं पविसंति—"कितनी प्रकृतियां उदयावली में प्रवेश करती है ?

समाधान— क्षपणा प्रारंभक के सभी मूल प्रकृतियां उदयावली में प्रविष्ट होती हैं। सत्ता में विद्यमान उत्तर प्रकृतियां उदयावली में प्रवेश करती हैं। "मूल पयडीओ सव्वाओ पविसंति। उत्तर-पयडीओ वि जाओ अत्थि ताओ पविसंति" (१९४५)

प्रश्न—"कदिण्हं वा पवेसगो"—कितनी प्रकृतियों को उदयावली में प्रवेश करता है ?

समाधान—आयु और वेदनीय को छोड़कर वेद्यमान अर्थात् वेदन किए जाने वाले सर्वकर्मों को प्रवेश करता है।

पंचज्ञानावरण, चार दर्शनावरण का नियम से वेदक है। निद्रा प्रचला का स्यात् वेदक है। साता-असाता में से कोई एक, चार संज्वलन, तीन वेद, दो युगलों में से अन्यतर का नियम से वेदक है। भय जुगुप्सा का स्यात् वेदक है। मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक, तैजस, कार्माणशरीर, छहों संस्थानों में

अन्यतर, औदारिक आंगोपांग, वज्रवृषभसंहनन, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु आदि चार, दो में से अन्यतर विहायोगति, त्रस चतुष्क, स्थिर-अथिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुस्वर इनमें से एकतर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र तथा पंच अंतरायों का यह वेदक है। यहां अन्य प्रकृतियों का उदय असंभव है। इन प्रकृतियों में से साता वेदनीय और मनुष्यायु को छोड़कर शेष प्रकृतियों की वह उदीरणा करता है।

प्रश्न—यहां आयु तथा वेदनीय की उदीरणा क्यों संभव नहीं है ?

समाधान—वेदनीय तथा आयु की उदीरणा प्रमत्तगुणस्थान से आगे असंभव है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—"के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा"—कौन कौन कर्मांश बंध अथवा उदय की अपेक्षा पहले निर्जीर्ण होते हैं ?

समाधान—स्त्यानगृद्धि त्रिक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, द्वादश कषाय, अरति, शोक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, सभी आयु, परिवर्तमान नाम कर्म की सभी अशुभ प्रकृतियां, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, वज्रवृषभ संहनन, मनुष्य-गति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत ये शुभ प्रकृतियां तथा नीच-गोत्र ये कर्म कषायों की क्षपणा के आरंभ करने वाले के बंध से व्युच्छिन्न होते हैं।

उदय से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियां ये हैं—स्त्यानगृद्धित्रिक, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, द्वादश कषाय, मनुष्यायु को छोड़कर शेष आयु, नरकगति, तिर्यंचगति, देवगति के प्रायोग्य नाम कर्म की प्रकृतियां, आहारकद्विक, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़ शेष संहनन, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अपर्याप्तनाम, अशुभत्रिक, कदाचित् तीर्थंकरनाम, नीचगोत्र ये प्रकृतियां कषायों के क्षपक के उदय व्युच्छिन्न होती हैं।

शंका—"अंतरं वा कहिं किच्चा के के संकामगो कहिं ति" कहां पर अन्तर करके किन किन कर्मों का कहां पर संक्रमण करता है ?

समाधान—यह अधः प्रवृत्तकरण-संयत यहां पर अन्तर नहीं करता है। यह अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात बहुभाग व्यतीत होने पर अन्तर करेगा।

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न—"किं ट्ठिदियाणि अणुभागेसु केसु वा ओवट्टेयूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि"—वह किस किस स्थिति और अनुभाग युक्त किन किन कर्मों का अपवर्तन करके किस किस स्थान को प्राप्त करता है और शेष कर्म किस स्थिति तथा अनुभाग को प्राप्त होते हैं ?

समाधान—यहाँ स्थिति घात तथा अनुभागघात सूचित किए गए हैं। इससे अधःप्रवृत्तकरण के चरम समय में वर्तमान कर्मक्षपणार्थ तत्पर जीव के स्थितिघात तथा अनुभागघात नहीं होते हैं किन्तु उसके पश्चात् वर्ती समय में दोनों ही घात प्रारंभ होंगे।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में प्रविष्ट क्षपक के द्वारा स्थिति कांडक तथा अनुभाग कांडक घात करने के लिए ग्रहण किए गये हैं। यह अनुभाग कांडक अप्रशस्त कर्मों के बहुभाग प्रमाण है।

अपूर्वकरण में जघन्य प्रथम स्थितिकांडक स्तोक (अल्प) हैं। उत्कृष्ट स्थितिकांडक संख्यात गुणे हैं। यह उत्कृष्ट पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण है। अपूर्वकरण में प्रथम स्थिति कांडक जघन्य तथा उत्कृष्ट दोनों ही पल्योपम के संख्यातवें भाग हैं "जण्हण्यं पि उक्कस्सयं पि पलिदोवमस्स संखेज्जदिभागो" (पृ. १९४९)

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण अन्य स्थितिकांडक होता है। अन्य अनुभाग कांडक भी होता है। वह घात से शेष रहे अनुभाग के अनन्त बहुभाग प्रमाण है।

पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थिति बंध होता है। प्रथम स्थिति कांडक विषम होता है। जघन्य से उत्कृष्ट स्थिति कांडक का प्रमाण पल्योपम के संख्यातवें भाग से अधिक होता है।

प्रथम स्थितिकांडक के नष्ट होने पर अनिवृत्तिकरण में समान काल में वर्तमान सब जीवों का स्थिति सत्व तथा स्थिति कांडक समान होते हैं। अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट हुए सब जीवों का द्वितीय स्थितिकांडक से द्वितीय स्थिति कांडक समान होता है। यही क्रम तृतीय आदि स्थिति कांडकों में जानना चाहिये। अनिवृत्ति-करण में स्थितिबंध सागरोपम सहस्र पृथक्त्व है। स्थिति सत्व सागरोपमशत-सहस्र पृथक्त्व है।

अपूर्वकरण में जो गुणश्रेणी निक्षेप था, उसके शेष शेष में ही यहां वह निक्षेप होता है। यहां सर्वकर्मों के अप्रशस्तोपशामनाकरण निधत्तीकरण तथा निकाचनाकरण तीनों ही व्युच्छित्ति को प्राप्त होते हैं। प्रथम समयवर्ती अनिवृत्तिकरण के उपरोक्त आवश्यक कहे गए हैं। अनंतरकाल में भी वे ही आवश्यक होते हैं। इतना विशेष है कि यहां गुणश्रेणी असंख्यात गुणी है। शेष शेष में निक्षेप होता है। विशुद्ध भी अनंतगुणी होती है।

जिस समय नाम और गोत्र का पल्योपम स्थिति प्रमाण बंध होता है, उस समय का उन दोनों का स्थितिबंध स्तोक है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबंध विशेषाधिक है। मोहनीय का स्थितिबंध विशेषाधिक है। अतिक्रांत स्थितिबंध इसी अल्पबहुत्व से व्यतीत हुए हैं।

नाम गोत्र का पल्योपम की स्थिति वाला बंध पूर्ण होने पर जो अन्य स्थितिबंध है, वह संख्यातगुणा हीन होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध विशेष-हीन होता है।

संख्यात सहस्र स्थितिकांडकों के बीतने पर आठ मध्यम कषायों का संक्रामक अर्थात क्षपणा का प्रारम्भक होता है। तत्पश्चात् स्थिति कांडक पृथक्त्व से आठ कषाय संक्रान्त की जाती हैं। उसके अंतिम स्थितिकांडक के उत्कीर्ण होने पर उनका स्थिति सत्व आवली प्रविष्ट शेष अर्थात् उदयावली प्रमाण है। स्थिति कांडक पृथक्त्व के अनंतर निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकद्विक तिर्यंगतिद्विक, एकेन्द्रियादि चार जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण के स्थितिसत्व का संक्रामक होता है। पुनः स्थितिकांडक पृथक्त्व से अपश्चिम स्थितिकांडक के उत्कीर्ण होने पर पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का उदयावली प्रविष्ट शेष रहता है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसके बाद स्थितिकांडक पृथक्त्व के द्वारा मनःपर्ययज्ञानावरण और दानान्तराय का अनुभाग बंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है। पुनः स्थितिकांडक पृथक्त्व के द्वारा अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभान्तराय का अनुभागबंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है। पुनः स्थिति काण्डक पृथक्त्व के द्वारा श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगान्तराय कर्म का अनुभाग बंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है। पुनः स्थितिकांडक पृथक्त्व के द्वारा चक्षुदर्शनावरण का अनुभाग बंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है। पुनः स्थितिकांडक पृथक्त्व से द्वारा आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय तथा परिभोगान्तराय का अनुभाग बंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है। पुनः स्थितिकांडक पृथक्त्व के द्वारा वीर्यान्तराय का अनुभाग बंध की अपेक्षा देशघाती हो जाता है।

इसके बाद सहस्रों स्थितिकांडकों के बीतने पर अन्य स्थिति कांडक, अन्य अनुभाग काण्डक, अन्य स्थितिबंध और उत्कीरण करने के लिए अन्तर स्थितियां इन चारों कारणों को एक साथ प्रारम्भ करता है। चार संज्वलन तथा नवनोकषायों का अन्तर करता है। शेष कर्मों का अंतर नहीं होता है। पुरुषवेद और संज्वलन की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति को छोड़कर अन्तर करता है।

जिस समय अन्तर संबंधी चरमफाली नष्ट होती है, उस समय उसे प्रथम समय कृत अन्तर कहते हैं तथा तदनंतर समय में उसे द्विसमय कृत अन्तर कहते हैं। अन्तर संबंधी चरमफाली के पतन होने पर नपुंसकवेद की क्षपणा में प्रवृत्त होता है। संख्यात सहस्र स्थितिकांडकों के बीतने पर नपुंसकवेद का पुरुषवेद में संक्रमण होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तदनंतर समय मे वह स्त्रीवेद का प्रथम समयवर्ती संक्रामक होता है। स्थिति कांडक के पूर्ण होने पर संक्रम्यमाण स्त्रीवेद संक्रान्त हो जाता है। तदनंतरकाल में वह सात नोकषायों का प्रथम समयवर्ती संक्रामक होता है। सात नोकषायों के संक्रामक के पुरुषवेद का अंतिम स्थितिबंध आठ वर्ष । संज्वलन कषायों का स्थितिबंध सोलह वर्ष प्रमाण है। शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात हजार वर्ष है। नाम गोत्र और वेदनीय का असंख्यातवर्ष है। द्विसमयकृत अन्तर के स्थल से आगे छह नोकषायों को क्रोध में संक्रान्त करता है।

वह क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन में, माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में संक्रान्त करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अश्वकर्णक्रिया और कृष्टिकरण विधि द्वारा लोभ को सूक्ष्म रूपता प्रदानकर सूक्ष्मसांपराय क्षपक होता है। सूक्ष्म लोभ का क्षपण होने पर क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त होता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला का क्षय करके अन्त समय में पंच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पंच अन्तराय का क्षय करके केवली भगवान होता है। अयोग केवली उपान्त्य समय में बहत्तर प्रकृतियों का तथा अंत समय में त्रयोदश प्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध परमात्मा होते हैं।

संक्षेप में यह कथन ज्ञातव्य है कि अधः करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप करणत्रिक के द्वारा मोह की इक्कीस प्रकृतियों के क्षय का उद्योग होता है। अधःप्रवृत्तकरण में प्रथम क्षण में पाए जाने वाले परिणाम दूसरे क्षण में भी होते हैं तथा इसी दूसरे क्षण में पूर्व परिणामों में भिन्न और भी परिणाम होते हैं। इसी प्रकार के परिणाम अंतिम समय तक होने से इसका अधःप्रवृत्तकरण नाम सार्थक है।

अपूर्वकरण में प्रत्येक क्षण में अपूर्व ही अपूर्व परिणाम होते हैं। इससे इसका अपूर्वकरण नाम सार्थक है।

अनिवृत्तिकरण में भिन्नता नहीं होती। इसके प्रत्येक क्षण में रहने वाले सभी जीव परिणामों की अपेक्षा समान ही होते हैं, इससे इसका अनिवृत्तिकरण नाम भी सार्थक है। आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अधःकरण में रहनेवाला संयमी स्थितिबंध-अनुभागबंध को घटाता है। वहां स्थितिघातादि का उपक्रम नहीं होता है।

अपूर्वकरण में यह विशेषता है कि इस करणवाला जीव गुणश्रेणी के द्वारा स्थितिबंध तथा अनुभागबंध का संक्रमण और निर्जरा करता हुआ उन दोनों के अग्रभाग को नष्ट कर देता है।

अनिवृत्तिकरण वाला स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, नरकगति द्विक, तिर्यंचगति द्विक, एकेन्द्रियादि चार जाति, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म तथा साधारण इन सोलह प्रकृतियों का एक प्रहार से क्षय करता है। तदनंतर वह आठ मध्यम कषायों का विनाश करता है। पश्चात् कुछ अंतर लेकर वेद त्रय, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध, मान तथा माया का क्षय करता है। फिर वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान को प्राप्त करके सूक्ष्म लोभ का क्षय करता है। क्षीणकषाय नामके

बारहवें गुणस्थान में एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान के द्वारा सोलह प्रकृतियों का नाश करके सयोगीजिन होता है। अयोगीजिन होकर वह पच्यासी प्रकृतियों का क्षयकर सिद्ध भगवान होता है।

संकामयपट्ठवगस्स किंट्ठिदियाणि पुव्वबद्धाणि।
केसु व अणुभागेसु य संकंतं वा असंकंतं ॥ १२४ ॥

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संक्रमण प्रस्थापक के पूर्ववद्ध कर्म किस स्थिति वाले रहते हैं ? वे किस अनुभाग में वर्तमान हैं ? उस समय कौन संक्रान्त है तथा कौन कर्म असंक्रान्त हैं ?

विशेष— **प्रश्नः**—संक्रमण प्रस्थापक किसे कहते हैं ?

उत्तर—"अंतरकरणं समाणिय जहाकमं णोकम्मक्खवणमाढवेंतो संकामणपट्ठवगोणाम" (१९७३)। अन्तरकरण समाप्त करके क्रमानुसार नो कषायों के क्षपणको प्रारम्भ करने वाला संयमी जीव संक्रमण प्रस्थापक कहलाता है।

संकमणपट्ठवगस्स मोहणीयस्स दो पुण ट्ठिदीओ।
किंचूणियं मुहुत्तं णियमा से अन्तरं होई ॥ १२५ ॥

संक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय की दो स्थितियां होती हैं १) एक प्रथम स्थिति (२) द्वितीय स्थिति। इनका प्रमाण कुछ न्यून मुहूर्त है। इसके पश्चात् नियम से अन्तर होता है।

विशेष—"मोहणीयस्स" पद के द्वारा इस संभावना का निराकरण हो जाता है, कि ये दो स्थितियां संपूर्ण ज्ञानावरणादि में नहीं हैं, केवल मोहनीय कर्म में हैं। "ण सेसाणं कम्माणमिदि वक्खाणं कायव्वं"— शेष कर्मों में ये दो स्थितियां नहीं है, यह व्याख्यान करना चाहिये।

"किंचूण मुहुत्तंति अंतोमुहुत्तंति णादव्वं"—किंचित् ऊन मुहूर्त मे अंतर्मुहूर्त जानना चाहिये

झीणट्ठिदि-कम्मंसे जे वेदयदे दु दोसु वि ट्ठिदीसु ।
जे चावि ण वेदयदे विदियाए ते दु बोद्धव्वा ॥ १२६ ॥

जो उदय या अनुदयरुप कर्मप्रकृतियां परिक्षीण स्थितिवाली हैं, उन्हें उपर्युक्त जीव दोनों ही स्थितियों में वेदन करता है। किन्तु जिन कर्मांशों को वेदन नहीं करता है, उन्हें तो द्वितीय स्थिति में ही जानना चाहिये।

विशेष— "झीणट्ठिदिकम्मंसे" को सप्तमी विभक्ति मानकर यह अर्थ किया जाता है, कि वेद्यमान अन्यतर वेद तथा किसी एक संज्वलन के अतिरिक्त अवेद्यमान शेष एकादश प्रकृतियों के समयोन आवलोप्रमाण प्रथम स्थिति के क्षीण हो जाने पर जिन कर्मों का वेदन करता है, वे दोनों ही स्थितियों में पाये जाते हैं, किन्तु जिन्हे वेदन नहीं करता है, वे उसकी द्वितीय स्थिति में ही पाए जाते हैं।

स्थिति सत्व तथा अनुभाग सत्व को कहते हैं:—

संकामणपट्ठवगस्स पुव्वबद्धाणि मज्झिमट्ठिदीसु ।
साद-सुहणाम-गोदा तहाणुभागे सुदुक्कस्सा ॥ १२७ ॥

संक्रमण-प्रस्थापकके पूर्वबद्ध कर्म मध्यम स्थितियों में पाये जाते हैं तथा अनुभागों में साता वेदनीय, शुभनाम तथा उच्चगोत्र उत्कृष्ट रुपसे पाये जाते हैं।

विशेष— "मज्झिमट्ठिदीसु अणुक्कस्स-अजहण्णट्ठिदीसु त्ति भणिदं होदि"— मध्यम स्थितियों से अनुत्कृष्ट-अजघन्य स्थितियों में यह अर्थ जानना चाहिए।

"साद-सुह-णामगोदा" आदि के साथ जो "उक्कस्स" पद आया है, उसका भाव है "ण चेदे ओघुक्कस्सा तस्समयपाओग्ग-उक्कस्सगा एदे अणुभागेण" ((१९७६) ये प्रकृतियां ओघरुप से

उत्कृष्ट नहीं ग्रहण करना चाहिये, किन्तु आदेश की अपेक्षा तत्समय-प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहण करना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ थीणगिद्धि-कम्मं णिद्दाणिद्दा व पयलपयला य।
तह णिरय-तिरियणामा झीणा संछोहणादीसु॥ १२८॥

आठ मध्यम कषायों की क्षपणा के पश्चात् स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा तथा प्रचलाप्रचला तथा नरकगति, तिर्यंगति संबंधी त्रयोदश नाम कर्म की प्रकृतियां संक्रमण प्रस्थापक के द्वारा अंतमुंहूर्त पूर्व ही सर्वसंक्रमणादि में क्षीण की जा चुकी हैं।

विशेष—'अथ' शब्द द्वारा यह सूचित किया गया है, "ण केवलमेदाओ चेव सोलसपयडीओ झीणाओ किंतु अट्ठकसाया वि" केवल सोलह प्रकृति ही क्षीण नहीं होती हैं, किन्तु आठकषाय भी क्षय को प्राप्त होती हैं। चूर्णिसूत्र से ज्ञात होता है कि सोलह प्रकृतियों के क्षय के पूर्व अष्टकषायों का क्षय किया जाता है "एदाणि कम्माणि पुव्वमेव झीणाणि। एदेणेव सूचिदा अट्ठवि कसाया पुव्वमेव खविदा त्ति" (१९७८)

संकंतम्हि य णियमा णामागोदाणि वेयणीयं च।
वस्सेसु असंखेज्जेसु सेसगा होंति संखेज्जे॥ १२९॥

हास्यादि छह नोकषाय के पुरुषवेदके चिरंतन सत्व के साथ संक्रामक होने पर नाम, गोत्र तथा वेदनीय असंख्यातवर्ष प्रमाण स्थिति सत्व में रहते हैं। शेष ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्व में रहते हैं।

विशेष—"सेसगा होंति संखेज्जे" कथन का भाव है कि ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म नियम से संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्व में विद्यमान रहते हैं। नाम, गोत्र एवं वेदनीय रूप तीन अघातिया असंख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्व में रहते हैं।

संकामगपट्ठवगो के बंधदि के व वेदयदि अंसे।
संकामेदि व के के केसु असंकामगो होइ ॥१२०॥

संक्रमण—प्रस्थापक किन किन कर्मांशों को बांधता है, किन-किन कर्मांशों का वेदन करता है तथा किन किन कर्मांशों का संक्रमण करता है तथा किन किन कर्मांशों का असंक्रामक होता है?

वस्ससदसहस्साइं ट्ठिदिसंखाए दु मोहणीयं तु।
बंधदि च सदसहस्सेसु असंखेज्जेसु सेसाणि ॥१२१॥

द्विसमयकृत अन्तरावस्था में वर्तमान संक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय कर्म तो वर्ष शतसहस्र स्थिति संख्यारूप बंधता है और शेष कर्म असंख्यात शतसहस्र वर्ष प्रमाण बंधते हैं।

विशेष—गाथा में आगत 'तु' शब्द पाद पूरण हेतु है अथवा अनुक्त समुच्चयार्थ है। यह गाथा द्विसमय कृत अन्तरकरण के दो समय पश्चात् स्थिति बंध को कहती है "एसा गाहा अंतर-दुसमयकदे ट्ठिदिबंधपमाणं भणइ"।

भयसोगमरदि-रदिगं हस्स-दुगुंछा-णवुंसगित्थीओ।
असादं णीचगोदं अजसं सारीरगं णाम ॥१२२॥

भय, शोक, अरति, रति, हास्य, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अयशःकीर्ति और शरीर नाम-कर्म को नियम से नहीं बांधता है।

विशेष—"एदाणि णियमा ण बंधई" इनको नियम से नहीं बांधता है। यहां अयशःकीर्तिसे सभी अशुभनाम कर्मकी प्रकृतियों को ग्रहण करना चाहिये। शरीरनाम कर्मसे वैक्रियिक शरीरादि सभी शरीर नामकर्म और उनसे संबंधित आंगोपांगादि तथा

यशःकीर्ति के सिवाय सभी शुभनाम कर्म की प्रकृतियों को ग्रहण करना चाहिए। १

सव्वावरणीयाणं जेसिं ओवट्टणा दु णिद्दाए।
पयलायुगस्स य तहा अबंधगो बंधगो सेसे ॥ १३३ ॥

जिन सर्वावरणीय अर्थात् सर्वघातिया कर्मों की अपवर्तना
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
होती है, उनका तथा निद्रा, प्रचला और आयु कर्म का भी अबंधक होता है। शेष कर्मों का बंधक होता है।

विशेष—जिन कर्मों के देशघाती स्पर्धक होते हैं, उन कर्मों की अपवर्तना संज्ञा है। "जेसि कम्माणं देसघादिफद्दयाणि अत्थि, तेसिं कम्माणमोवट्टणा अत्थित्ति सण्णा" (१९८२)

जिन कर्मों के देशघाती स्पर्धक होते हैं, उन सर्वघातिया कर्मों को नहीं बांधता है; किन्तु देशघाती कर्मों को बांधता है। मतिज्ञानावरणादि चार ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरणादि चार दर्शनावरण तथा पंच अंतराय कर्मों को बांधता है। "एदाणि कम्माणि देसघादीणि बंधदि"—ये कर्म देशघाती हैं। इनका बंध करता है। २

णिद्दा य णीचगोदं पचला णियमा अगित्ति णामं च।
छच्चेय णोकसाया अंसेसु अवेदगो होदि ॥ १३४ ॥

निद्रानिद्रा, नीचगोत्र, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अयशःकीर्ति,

---

१ अजसगित्तिणिद्देसेण सव्वेसिमसुहणामाणं पडिसेहसिद्धीदो। सारीरग्गहणणिद्देसेण च वेउव्वियसरीरादीणं सव्वेसिमेव सुहणामाणं जसगित्तिवज्जाणं बंधपडिसेहावलंबणादो (१९८१)

२ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णवणोकसाय-विग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥ ४० ॥ गो० क०

छह नोकषाय इनका संक्रमण-प्रस्थापक नियमसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप सर्व अंशों में अवेदक रहता है।

विशेष— (१) निद्रा शब्द निद्रानिद्रा का सूचक है। प्रचला से प्रचलाप्रचला जानना चाहिये। 'च' शब्द स्त्यानगृद्धि का बोधक है। 'अगि' शब्द अयशःकीर्ति का बोधक है। इस पद को उपलक्षण मानकर अवेद्यमान सभी प्रशस्त, अप्रशस्त प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिए, कारण मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति आदि तीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष का यहां उदय नहीं पाया जाता है।

वेदे च वेदणीए सव्वावरणे तहा कसाए च ।
भयणिज्जो वेदंतो अभज्जगो सेसगो होदि ॥ १२५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वह संक्रमण प्रस्थापक वेदों को, वेदनीय कर्म को, सर्वघाती प्रकृतियों को तथा कषायों को वेदन करता हुआ भजनीय है। उनके अतिरिक्त शेष का वेदन करता हुआ अभजनीय है।

विशेष—तीनों वेदों में से एक वेद का वेदन करता है। "पुरिसवेदादीणमण्णदरोदयेण सेढिसमारोहणे विरोहाभावादो"—पुरुषवेदादि में से किसी वेद से श्रेणी समारोहण का विरोध नहीं है। यहां वेद का संबंध भाववेद से है। द्रव्यतः पुरुषवेदी ही श्रेणी पर आरोहण करता है।

साता, असाता वेदनीय में से अन्यतर का वेदन करता है। आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय आदि सर्व आवरणीय कर्मों के सर्वघाती अथवा देशघाती अनुभाग का वेदन करता है। चारों कषायों में से किसी एक कषाय का वेदन करता है।

---

१ 'णिद्दा च' एवं भणिदे णिद्दाणिद्दाए गहणं कायव्वं। 'च' सद्देण थीणगिद्धीए वि गहणं कायव्वं। 'पयला' णिद्देसेण वि पयलापयलाए संगहो दट्ठव्वो।

उपरोक्त प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियों में भजनीयता नहीं है। वहां जिसका वेदक है, उसका वेदक ही है तथा जिसका अवेदक है, उसका अवेदक है—"णवरि णामपयडीसु संठाणादीणं केसिं पि उदयेण भयणिज्जमत्थि तेसिं 'च' सद्देण संगहो कायव्वो" (१९८५)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह कथन विशेष है कि नामकर्म की प्रकृतियों में संस्थानादि किन्हीं प्रकृतियों के उदय के विषय में भजनीयता है। उनका 'च' शब्द से संग्रह किया है।

सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वीय संकमो होदि ।
लोभकसाये णियमा असंकमो होइ णायव्वो ॥ १३६ ॥

मोहनीय की सर्वप्रकृतियों का आनुपूर्वी क्रमसे संक्रमण होता है, किन्तु लोभ कषायका नियम से असंक्रमण जानना चाहिये।

विशेष—शंका—आनुपूर्वी संक्रमण किसे कहते हैं?

समाधान— क्रोध, मान, माया तथा लोभ इस परिपाटी क्रमसे संक्रमण होना आनुपूर्वी संक्रमण है—"कोह-माण-माया-लोभा एसा परिवाडी आणुपुव्वीसंकमो णाम" (१९८७)

संकामगो च कोधं माणं मायं तहेव लोभं च ।
सव्वं जहाणुपुव्वी वेदादी संछुहदि कम्मं ॥ १३७ ॥

नव नोकषाय और चार संज्वलन रूप त्रयोदश प्रकृतियों का संक्रमण करने वाला क्षपक नपुंसक वेद को आदि करके क्रोध, मान, माया और लोभ इन सबको आनुपूर्वी क्रमसे संक्रान्त करता है।

विशेष— त्रयोदश प्रकृतियों का संक्रामक जीव पहिले नपुंसकवेद तथा स्त्रीवेद का पुरुषवेद में संक्रमण करता है। इसके

अनंतर पुरुषवेद तथा हास्यादि छह का क्रोध संज्वलन में संक्रमण करता है। इस क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में तथा माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में संक्रमण करता है। वह लोभ संज्वलन का अन्य प्रकृतिरूप में परिवर्तन नहीं करता है। लोभ संज्वलन का अपने ही रूप में क्षय करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णवुंसयं चेव ।
सत्तेव णोकसाये णियमा कोहम्मि संछुहदि ॥ १३८ ॥

स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का नियमसे पुरुषवेद में संक्रमण करता है । पुरुषवेद तथा हास्यादि छह नोकषाय इन सब नोकषायों का नियमसे संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है।

विशेष—"इत्थीवेदं णवुंसयवेदं च पुरिसवेदे संछुहदि ण अण्णत्थ सत्तणोकसाए कोधे संछुहदि ण अण्णत्थ" । (१९८८) स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद को पुरुषवेद में संक्रमण करता है, अन्यत्र संक्रमण नहीं करता है। सप्त नोकषायों का संज्वल क्रोध में संक्रमण करता है। अन्यत्र संक्रमण नहीं करता है।

कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमा संछुहइ ।
मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥ १३९ ॥

क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में संक्रान्त करता है। मान संज्वलन को माया संज्वलन में संक्रान्त करता है। माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में संक्रान्त करता है। इनका प्रतिलोम अर्थात् विपरीत क्रम से संक्रमण नहीं होता है ।

विशेष—यहां "पुव्वाणुपुव्वीविसयो कमो पदविदो"—पूर्वानुपूर्वी रूप से विषय क्रम कहा है। "पडिलोमेण पच्छाणुपुव्वीए संकमो णत्थि"—प्रतिलोम रूप से अर्थात् पश्चात् आनुपूर्वी से संक्रमण नहीं होता है। (१९८९)

जो जम्हि संछुहंतो णियमा बंधसरिसम्हि संछुहइ ।
बंधेण हीणदरगे अहिए वा संकमो णत्थि ॥ १४० ॥

जो जीव बध्यमान जिस प्रकृति में संक्रमण करता है, वह नियमसे बंध सदृश प्रकृति में ही संक्रमण करता है अथवा बंधकी अपेक्षा हीनतर स्थितिवाली प्रकृति में संक्रमण करता है। वह अधिक स्थिति वाली प्रकृति में संक्रमण नहीं करता है।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—जो जीव जिस प्रकृति को संक्रमित करता है, वह नियमसे बध्यमान स्थिति में संक्रान्त करता है। जो जीव जिस स्थिति को बांधता है, उसमें अथवा उससे हीन स्थिति में संक्रान्त करता है। वह अबध्यमान स्थितियों में उत्कीर्णकर संक्रान्त नहीं करता है। "अबज्झमाणासु ट्ठिदीसु ण उक्कड्डिज्जदि"। समान स्थिति में संक्रान्त करता है—"समट्ठिदिगं तु संकामेज्जदि" समान स्थिति में संक्रान्त करता है। (१९९१)

संकामणपट्ठवगो माणकसायस्स वेदगो कोधं ।
संछुहदि अवेदेंतो माणकसाये कमो सेसे ॥ १४१ ॥

मान कषाय का वेदन करने वाला संक्रमण प्रस्थापक क्रोध संज्वलन को वेदन नहीं करते हुए भी उसे मानकषाय में संक्रान्त करता है। शेष कषायों में यही क्रम है।

विशेष— मान कषाय का संक्रमण-प्रस्थापक मानको ही वेदन करता हुआ क्रोध संज्वलन के जो दो समय कम आवली प्रमाण नवबद्ध समयप्रबद्ध हैं, उन्हें मान संज्वलन में संक्रान्त करता है। "माणकसायस्स संकामणपट्ठवगो माणं चेव वेदेंतो कोहस्स जे दो आवलियबंधा दुसमयूणा ते माणे संछुहदि"।

बंधो व संकमो वा उदयो वा तह पदेस-अणुभागे ।
अधिगो समो व हीणो गुणेण किंवा विसेसेण ॥ १४२ ॥

संक्रमण-प्रस्थापक के अनुभाग और प्रदेश संबंधी बंध, उदय तथा संक्रमण ये परस्पर में क्या अधिक हैं या समान हैं अथवा हीन

हैं ? इसी प्रकार प्रदेशों की अपेक्षा वे संख्यात, असंख्यात या अनंतगुणित रूप विशेष से परस्पर हीन हैं या अधिक हैं ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—इस गाथा की पृच्छाओं का समाधान आगे किया गया है।

बंधेण होई उदयो अहिओ उदएण संकमो अहियो।
गुणसेढि अणंतगुणा बोद्धव्वा होइ अणुभागे ॥ १४३ ॥

बंध से उदय अधिक होता है तथा उदयसे संक्रमण अधिक होता है। इस प्रकार अनुभाग के विषय में गुण श्रेणी अनंतगुणी जानना चाहिये।

विशेष—अनुभाग विषय बंध स्तोक है। बंध से उदय अधिक है। उदय से संक्रम अधिक है। बंध से उदय कितना अधिक है ? उदओ "अणंतगुणो" उदय अनंतगुणा है। उदय से संक्रमण अनन्त गुणा है। (१९९४)

बंधेण होइ उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ।
गुणसेढि असंखेज्जा च पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥ १४४ ॥

बंधसे उदय अधिक होता है। उदय से संक्रमण अधिक होता है। इस प्रकार प्रदेशाग्र की अपेक्षा गुणश्रेणी असंख्यातगुणी जानना चाहिये।

विशेष—"पदेसग्गेण बंधो थोवो"—प्रदेशाग्र की अपेक्षा बंध स्तोक है। "उदयो असंखेज्जगुणो"—उदय बंध से असंख्यात गुणा है। "संकमो असंखेज्जगुणो"—संक्रम उदय से असंख्यातगुणा है। (१९९५)

उदओ च अणंतगुणो संपहि-बंधेण होइ अणुभागे।
से काले उदयादो संपहिबंधो अणंतगुणो ॥ १४५ ॥

अनुभाग की अपेक्षा सांप्रतिक बंध से सांप्रतिक उदय अनन्त-

गुणा है । इसके अनन्तर कालीन उदय से सांप्रतिक बंध अनन्त गुणा है ।

विशेष— विवक्षित समय के अनन्तर काल में होने वाला अनुभाग बन्ध स्तोक है। उससे तदनन्तर काल में होनेवाला अनुभाग उदय अनन्तगुणा है। उस उदय से इस समय होनेवाला अनुभाग बन्ध अनन्तगुणा है । इस अनुभागबन्ध से इस समय होनेवाला अनुभाग उदय अनन्तगुणा है– "सेकाले अणुभागबन्धो थोवो, सेकाले चेव उदओ अणंतगुणो । अस्सि समए बन्धो अणंतगुणो । अस्सि चेव समए उदओ अणंतगुणो" (१९९६)

गुणसेढि अणंतगुणेणूणाए वेदगो दु अणुभागे ।
गणणादियंतसेढी पदेसअग्गेण बोद्धव्वा ॥ १४६ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह अनुभाग का प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन गुणश्रेणीरूप से वेदक है। प्रदेशाग्रकी अपेक्षा उसे असंख्यात गुणित श्रेणी रूपसे वेदक जानना चाहिए ।

विशेष—"अस्सि समए अणभागुदयो बहुगो । से काले अणंतगुणहीणो एव सव्वत्थ"–इस समय अर्थात् वर्तमान काल में अनुभाग का उदय बहुत होता है । इसके अनंतरकाल में अनुभाग का उदय अनन्तगुणहीन है। इस प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए । "पदेसुदयो अस्सि समए थोवो । से काले असंखेज्जगुणो । एवं सव्वत्थ"– इस वर्तमानकाल में प्रदेशोदय अल्प होता है। इसके अनन्तरकाल में वह असंख्यातगुणा होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समय में प्रदेशोदय सर्वत्र असंख्यातगुणा जानना चाहिए ।(१९९७)

बंधो व संकमो वा उदओ वा किं सगे सगे ठाणे ।
से काले से काले अधिओ हीणो समो वा पि ॥ १४७ ॥

बंध, संक्रम वा उदय स्वस्व स्थान पर तदनन्तर तदनन्तर काल की अपेक्षा क्या अधिक है, हीन है अथवा समान है ?

बंधोदएहिं णियमा अणुभागो होदि णंतगुणहीणो ।
से काले से काले भज्जो पुण संकमो होदि ॥ १४८ ॥

अनुभाग, बंध और उदय की अपेक्षा तदनंतर काल में नियम से अनंतगुणित हीन होता है, किन्तु संक्रमण भजनीय है ।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—"अस्सि समए अणुभागबंधो बहुओ । से काले अणंतगुणहीणो"-वर्तमान समय में अनुभागबंध बहुत होता है । अंतर काल में अनंतगुणीत हीन होता है । "एवं समए समए अणंतगुण-हीणो"—इस प्रकार समय समय में अनंतगुणित हीन होता है ।

"एवमुदयो वि कायव्वो"—इसके समान अनुभागोदय को जानना चाहिये । वर्तमान क्षण में अनुभागोदय बहुत होता है । तदनंतर कालमें अनंतगुणित हीन होता है ।

संक्रमण जब तक एक अनुभागकांडक का उत्कीरण करता है, तब तक अनुभागसंक्रमण उतना उतना ही होता रहता है । अन्य अनुभाग कांडक के आरंभ करने पर उत्तरोत्तर क्षणों में वह अनुभाग-संक्रमण अनंतगुणा हीन होता जाता है ।

गुणसेढि असंखेज्जा च पदेसग्गेण संकमो उदओ ।
से काले से काले भज्जो बंधो पदेसग्गे ॥ १४९ ॥

प्रदेशाग्र की अपेक्षा संक्रमण और उदय उत्तरोत्तरकाल में असंख्यातगुण श्रेणिरूप होते हैं । बंध प्रदेशाग्रमें भजनीय है ।

विशेष—"पदेसुदयो अस्सि समएथोवो । से काले असंखेज्जगुणो" वर्तमान समय में प्रदेशोदय स्तोक है । तदनंतर कालमें असंख्यात-गुणित है । इस प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ।

जैसी प्रदेशोदय की प्ररूपणा है, वैसी ही संक्रमण की भी है । "जहा उदयो तहा संकमो वि कायव्वो" । वर्तमान काल में प्रदेशों का संक्रमण अल्प है । तदनंतरकाल में वह असंख्यातगुणित है ।

प्रदेशबंध चतुर्विध वृद्धि, चतुर्विध हानि तथा अवस्थान में भजनीय है। "जोगवड्ढि-हाणि-अवट्ठाणवसेण पदेसबन्धस्स तत्तभाव-सिद्धीए विरोहाभावादो" (१९९९) - योगों में वृद्धि, हानि तथा अवस्थान के वशसे प्रदेशबन्ध में वृद्धि, हानि तथा अवस्थान के होने में कोई बाधा नहीं है।

गुणदो अणंतगुणहीणं वेदयदि णियमसा दु अणुभागे।
अहिया च पदेसग्गे गुणेण गणणादियंतेण ॥ १५० ॥

अनुभाग में गुणश्रेणीकी अपेक्षा नियमसे अनन्तगुणा हीन वेदन करता है। प्रदेशाग्र में गणनातिक्रान्त गुणितरूप श्रेणी के द्वारा अधिक है।

किं अंतरं करेंतो वड्ढदि हायदि ट्ठिदी य अणुभागे।
णिरुवक्कमा च वड्ढी हाणी वा केच्चिरं कालं ॥ १५१ ॥

अन्तर को करता हुआ क्या स्थिति और अनुभाग को बढ़ाता है या घटाता है ? स्थिति तथा अनुभाग की वृद्धि या हानि करते हुए निरुपक्रम अर्थात्, अन्तररहित वृद्धि अथवा हानि कितने काल तक होती है ?

ओवट्टणा जहण्णा आवलिया ऊणिया तिभागेण ।
एसा ट्ठिदिसु जहण्णा तहाणुभागे सणंतेसु ॥ १५२ ॥

जघन्य अपवर्तना त्रिभाग से ऊन आवली है। यह जघन्य अपवर्तना स्थितियों के विषयमें ग्रहण करना चाहिए। अनुभाग सम्बन्धी जघन्य-अपवर्तना अनन्त स्पर्धकों से प्रतिबद्ध है।

विशेष—अपवर्तन किया द्रव्य जिन निषेकों में मिलाते हैं, वे निषेक निक्षेपरूप कहे जाते हैं। अपवर्तन किया द्रव्य जिन निषेकों में नहीं मिलाया जाता है, वे निषेक अति स्थापनारूप कहलाते हैं।

निक्षेप और अतिस्थापना का क्रम यह है, कि उदयावली प्रमाण निषेकों में से एक कमकर तीन का भाग दो। इनमें एक

रुप-रहित प्रथम त्रिभाग तो निक्षेप रुप है और अन्तिम दो भाग

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब तक अनन्त स्पर्धक अतिस्थापना रुप से निक्षिप्त नहीं हो जाते हैं, तब तक अनुभाग विषयक अपवर्तना की प्रवृत्ति नहीं होती है।

संकामेदुक्कड्डदि जे अंसे ते अवट्ठिदा होंति।
आवलियं से काले तेण परं होंति भजिदव्वा ॥ १५३ ॥

जो कर्म रुप अंश संक्रमित, अपकर्षित या उत्कर्षित किये जाते हैं, वे आवली पर्यन्त अवस्थित रहते हैं अर्थात् उनमें वृद्धि हानि आदि नहीं होती। तदनंतर समय में वे भजनीय हैं, कारण संक्रमणावली के पश्चात् उनमें वृद्धि हानि आदि होती हैं, नहीं भी होती हैं।

विशेष—"जं पदेसग्गं परपयडीए संकामिज्जदि ट्ठिदीहिं वा अणुभागेहिं वा उक्कड्डिज्जदि तं पदेसग्गमावलियं ण सक्कं ओकड्डिदुं वा संकामेदुं वा।" (२००५)—जो प्रदेशाग्र परप्रकृति में संक्रांत किया जाता है, अथवा स्थिति और अनुभाग के द्वारा अपवर्तित किया जाता है वह प्रदेशाग्र एक आवली तक अपकर्षण या संक्रमण, उत्कर्षण या संक्रमण के लिए समर्थ नहीं है।

ओकड्डदि जे अंसे से काले ते च होंति भजियव्वा।
वड्ढीए अवट्ठाणे हाणीए संकमे उदए ॥ १५४ ॥

जो कर्मांश अपकर्षित किए जाते हैं, वे अनंतर काल में वृद्धि, अवस्थान, हानि, संक्रमण तथा उदय की अपेक्षा भजनीय हैं।

विशेष – जो कर्मप्रदेशाग्र स्थिति अथवा अनुभाग की अपेक्षा अपकर्षित किया जाता है, वह तदनंतरकाल में ही अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण वा उदीरणा को प्राप्त किया जा सकता है। "ट्ठिदीहिं वा अणुभागेहिं वा पदेसग्गमोकड्डिज्जदि तं पदेसग्गं से काले चेव

ओकड्डिज्जेज्ज वा उक्कड्डिज्जेज्ज वा संकामिज्जेज्ज वा उदीरिज्जेज्ज वा" (२००६)।

एक्कं च ट्ठिदिविसेसं तु ट्ठिदिविसेसेसु कदिसु वड्ढेदि ।
हरस्सेदि कदिसु एगं तहाणुभागेसु बोद्धव्वं ॥ १५५ ॥

एक स्थिति-विशेष को असंख्यात स्थिति-विशेषों में बढ़ाता है, घटाता है। इसी प्रकार अनुभाग विशेष को अनंत अनुभाग स्पर्धकों में बढ़ाता है तथा घटाता है।

विशेष—यहां स्थिति उत्कर्षण सम्बन्धी जघन्य उत्कृष्ट निक्षेप के प्रमाण के विषय में पृच्छा की गई है। 'च' और 'तु' शब्दों के द्वारा उत्कर्षण विषयक जघन्य तथा उत्कृष्ट अति स्थापना के संग्रह का भी सूचित किया गया है। "हरस्सेदि कदिसु एगं" के द्वारा अपकर्षण सम्बन्धी जघन्य-उत्कृष्ट निक्षेप के प्रमाण निश्चयार्थ शंका की गई है। अनुभाग विषयक उत्कर्षण अपकर्षण सम्बन्धी जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप के विषय में तथा जघन्य और उत्कृष्ट अति स्थापना के प्रमाण में पृच्छा हुई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक्कं च ट्ठिदिविसेसं तु असंखेज्जेसु ट्ठिदिविसेसेसु ।
वड्ढेदि हरस्सेदि च तहाणुभागे सणंतेसु ॥ १५६ ॥

एक स्थिति विशेष को असंख्यात स्थिति विशेषों में बढ़ाता है तथा घटाता है। इसी प्रकार अनुभाग विशेष को अनंत अनुभाग स्पर्धकों में बढ़ाता तथा घटाता है।

ट्ठिदि अणुभागे अंसे के के वड्ढदि के व हरस्सेदि ।
केसु अवट्ठाणं वा गुणेण किं वा विसेसेण ॥ १५७ ॥

स्थिति तथा अनुभाग सम्बन्धी कौन कौन अंशों कर्म प्रदेशों को बढ़ाता, अथवा घटाता है अथवा किन किन अंशों में अवस्थान करता है? यह वृद्धि, हानि तथा अवस्थान किस किस गुण से विशिष्ट होता है।

ओवट्टेदि ट्ठिदिं पुण अधिगं हीणं च बंधसमगं वा।
उक्कड्डुदि बंधसमं हीणं अधिगं ण वड्ढेदि ॥ १५८ ॥

स्थिति का अपकर्षण करता हुआ कदाचित् अधिक, हीन तथा कदाचित् बंध समान स्थिति का अपकर्षण करता है। स्थिति का उत्कर्षण करता हुआ कदाचित् हीन तथा बंध समान स्थिति का उत्कर्षण करता है, किन्तु अधिक स्थिति को नहीं बढ़ाता है।

विशेष—जो स्थिति अपकर्षण की जाती है, वह बध्यमान स्थिति से अधिक, हीन तथा समान होती है; किन्तु उत्कर्षण की जाने वाली स्थिति बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है, अधिक नहीं होती है। "जा ट्ठिदी ओक्कड्डिज्जदि सा ट्ठिदी बज्झमाणियादो अधिका वा हीणा वा तुल्ला वा। उक्कड्डिज्जमाणिया ट्ठिदी बज्झमाणियादो ट्ठिदीदो तुल्ला हीणा वा अहिया णत्थी"। (२०१५)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सव्वे वि य अणुभागे ओकड्डुदि जे ण आवलियपविट्ठे।
उक्कड्डुदि बंधसमं णिरुवक्कम होदि आवलिया॥ १५९ ॥

उदयावली से बाहिर स्थित सभी अर्थात् बंध सदृश या उससे अधिक अनुभाग का अपकर्षण करता है, किन्तु आवली प्रविष्ट अनुभाग का अपकर्षण नहीं करता है। बंध समान अनुभाग का उत्कर्षण करता है; उससे अधिक का नहीं। आवली अर्थात् बंधावली निरुपक्रम होती है।

विशेष—उदयावली में प्रविष्ट अनुभागों को छोड़कर शेष सब अनुभागों का अपकर्षण तथा उत्कर्षण होता है। "उदयावलियपविट्ठे अणुभागे मोत्तूण सेसे सव्वे चेव अणुभागे ओकड्डुदि। एवं चेव उकड्डुदि" (२०१६)

इस विषय में सद्भाव संज्ञक सूक्ष्म अर्थ इस प्रकार है। प्रथम स्पर्धक से लेकर अनंत स्पर्धक अपकर्षित नहीं किए जाते हैं। वे स्पर्धक जघन्य अति स्थापना स्पर्धक तथा जघन्य निक्षेप स्पर्धक

प्रमाण हैं। इस कारण उतने अतिस्थापना रूप स्पर्धकों को छोड़कर तदुपरिम स्पर्धक अपकर्षित किया जाता है। इस प्रकार क्रम से बढ़ते हुए अंतिम स्पर्धक पर्यन्त अनंत स्पर्धकों का अपकर्षण किया जाता है। चरिम तथा उपचरिम स्पर्धक उत्कर्षित नहीं किये जाते।

इस प्रकार अंतिम स्पर्धक से नीचे अनंत स्पर्धक उतरकर अर्थात् चरम स्पर्धक से जघन्य अतिस्थापना निक्षेप प्रमाण स्पर्धक छोड़कर जो स्पर्धक प्राप्त होता है, वह स्पर्धक उत्कर्षित किया जाता है और उसे आदि लेकर उससे नीचे के शेष सर्व स्पर्धक उत्कर्षित किए जाते हैं।

वड्ढीदु होइ हाणी अधिगा हाणी दु तह अवट्ठाणं।
गुणसेढिअसंखेज्जा च पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥ १६० ॥

वृद्धि (उत्कर्षण) से हानि (अपकर्षण) अधिक होती है। हानि से अवस्थान अधिक है। अधिक का प्रमाण प्रदेशाग्रकी अपेक्षा असंख्यात गुणश्रेणी रूप जानना चाहिये।

विशेष—"जं पदेसग्गमुक्कड्डिज्जदि सा वड्ढि त्ति सण्णा। जमोकड्डिज्जदि सा हाणि त्ति सण्णा। जं ण ओकड्डिज्जदि, ण उक्कड्डिज्जदि पदेसग्गं तमवट्ठाणं त्ति सण्णा"— जो प्रदेशाग्र उत्कर्षित किए जाते हैं, उनकी 'वृद्धि' संज्ञा है। जो अपकर्षित किए जाते हैं, उन प्रदेशाग्रों को हानि कहते हैं तथा जो प्रदेशाग्र न अपकर्षित तथा न उत्कर्षित किए जाते हैं, उन्हें अवस्थित कहते हैं।

वृद्धि स्तोक है। हानि असंख्यात गुणी है। उससे अवस्थान असंख्यात गुणित है। यह कथन क्षपक तथा उपशामक की अपेक्षा कहा है। अक्षपक तथा अनुपशामक के "वड्ढीदो हाणी तुल्ला वा, विसेसाहिया वा विसेसहीणा वा अवट्ठाणमसंखेज्जगुणं"—वृद्धि से हानि तुल्य भी है, विशेषाधिक भी है अथवा विशेषहीन भी है, किन्तु अवस्थान असंख्यात गुणित है। उपरोक्त कथन एक स्थिति की अपेक्षा तथा सर्व स्थितियों की अपेक्षा किया गया है (२०२०)

ओवट्टणमुव्वट्टण किट्टीवज्जेसु होदि कम्मेसु।
ओवट्टणा च णियमा किट्टीकरणम्हि बोद्धव्वा ॥ १६१ ॥

अपवर्तन (अपकर्षण) और उद्वर्तन (उत्कर्षण) कृष्टिवर्जित कर्मों में होता है। अपवर्तना नियम से कृष्टिकरण में जानना चाहिए ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—कृष्टिकरण के पूर्व में उत्कर्षण, अपकर्षण दोनों होते हैं। कृष्टिकरण के समय तथा उसके पश्चात् उत्कर्षण करण नहीं होता है, अपकर्षण होता है। यह क्षपक श्रेणी की अपेक्षा कथन किया गया है ।

उपशम श्रेणी में सूक्ष्मसांपरायिक के प्रथम समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के प्रथम तक मोहनीय की अपवर्तना ही होती है। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समयसे नीचे सर्वत्र अपवर्तना तथा उद्वर्तना दोनों होते हैं। (२०२१)

केवदिया किट्टीओ कम्हि कसायम्हि कदि च किट्टीओ।
किट्टीए किं करणं लक्खणमथ किं च किट्टीए ॥ १६२ ॥

कृष्टियां कितनी होती हैं ? किस कषाय में कितनी कृष्टि होती है ? कृष्टि में कौन सा करण होता ? कृष्टि का क्या लक्षण है ?

विशेष—कृष्टि का स्वरूप इस प्रकार कहा है कि जिससे संज्वलन कषायों का अनुभाग-सत्व कृशता को प्राप्त होता है, वह कृष्टि कही गई है। इसका विशेष कथन आगामी गाथाओं में किया गया है ।

बारस णव छ तिण्णिय किट्टीओ होंति अधव ऽणंताओ।
एक्केक्कम्हि कसाए तिग तिग अधवा अणंताओ ॥१६३॥

संज्वलन क्रोधादि कषायों की बारह, नव, छह तथा तीन कृष्टियां होती हैं अथवा अनंतकृष्टियां होती हैं। एक एक कषाय में तीन तीन अथवा अनंतकृष्टियां होती हैं।

विशेष—क्षपक श्रेणी का आरोहण क्रोध कषाय के उदय के साथ होने पर बारह, मान कषाय के साथ होने पर नव, माया कषाय के साथ होने पर छह और लोभ कषाय के साथ होने पर तीन कृष्टियां होती हैं।

एक एक संग्रह कृष्टि में अवयव कृष्टियां अनंत होती हैं। "एक्केक्कस्स कसायस्स एक्केक्किस्से संगहकिट्टीए अवयवकिट्टीओ अणंताओ अत्थि" (२०७३)

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक एक कषाय में तीन तीन कृष्टियां होती हैं।

किट्टी करेदि णियमा ओवट्टेंतो ठिदी य अणुभागे।
वड्ढेंतो किट्टीए अकारगो होदि बोद्धव्वो ॥ १६४ ॥

चारों कषायों की स्थिति और अनुभाग का नियम से अपवर्तन करता हुआ कृष्टियों को करता है। स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ाने वाला कृष्टि का अकारक होता है यह जानना चाहिए।

विशेष—"जो किट्टीकारगो सो पदेसग्गं ठिदीहिं वा अणुभागेहिं वा ओकड्डदि ण उक्कड्डदि"—कृष्टि कारक प्रदेशाग्र को स्थिति तथा अनुभाग की अपेक्षा अपवर्तन (अपकर्षण) करता है, उद्वर्तन (उत्कर्षण) नहीं करता है।

कृष्टिकारक क्षपक कृष्टि करण के प्रथम समय से लेकर जब तक चरमसमयवर्ती संक्रामक है, तब तक मोहनीय के प्रदेशाग्र का अपकर्षक ही है, उत्कर्षक नहीं है।

उपशामक प्रथम समय कृष्टि कार्य को आदि लेकर जब तक वह चरम समयवर्ती सकषाय रहता है, तब तक अपकर्षक रहता है, उत्कर्षक नहीं। उपशम श्रेणी से गिरने वाला जीव सूक्ष्म-सांपरायिक होने के प्रथम समय से लेकर नीचे अपकर्षक भी है, उत्कर्षक भी है।

उपशमश्रेणी चढ़नेवाले के कृष्टिकरण के प्रथम समय से लेकर सूक्ष्मसांपरायिकके अन्तिम समय पर्यन्त अपकर्षण करण होता है।

उपशम श्रेणी से नीचे गिरने वाले के सूक्ष्मसांपराय के प्रथम समय से दोनों ही करण प्रवृत्त होते हैं। 'पडिवदमाणगो पुण पढमसमय-कसायप्पहुडि ओकड्डगो वि उक्कड्डगो वि (२०७५)

गुणसेढि अणंतगुणा लोभादी कोध-पच्छिमपदादो।
कम्मस्स य अणुभागे किट्टीए लक्खणं एदं ॥ १६५ ॥

लोभ की जघन्य कृष्टि को आदि लेकर क्रोध कषायकी सर्व पश्चिमपद (अंतिम उत्कृष्ट कृष्टि) पर्यन्त यथाक्रमसे अवस्थित चारों संज्वलन कषाय रुप कर्म के अनुभाग में गुणश्रेणी अनंतगुणित हैं। यह कृष्टि का लक्षण है।

विशेष—पश्चात् आनुपूर्वी की अपेक्षा कृष्टि का स्वरूप यहां कहा गया है, कि लोभ कषाय की जघन्य कृष्टि से लेकर क्रोध की उत्कृष्ट कृष्टि पर्यन्त कषायों का अनुभाग अनंतगुणित वृद्धिरुप है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट कृष्टि से लेकर लोभ की जघन्य कृष्टि पर्यन्त कषायों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनंतगुणित हानि रुप से कृश होता है।

लोभ की जघन्य कृष्टि अनुभाग की अपेक्षा स्तोक है। द्वितीय कृष्टि अनुभाग की अपेक्षा अनंतगुणी है। तृतीय कृष्टि अनुभाग की अपेक्षा अनंतगुणी है। इस प्रकार अनंतर अनंतर क्रम से सर्वत्र तब तक कृष्टियों का अनंतगुणित अनुभाग जानना चाहिये, जब तक क्रोध की अंतिम उत्कृष्ट कृष्टि उपलब्ध हो। संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट कृष्टि अपूर्व स्पर्धक की आदि वर्गणा के अनंतवें भाग है। इस प्रकार कृष्टियों में अनुभाग स्तोक है, "एवं किट्टीसु थोवो अणुभागो"। "किसं कम्मं कदं जम्हा तम्हा किट्टी"—जिसके द्वारा कर्म कृश किया जाता है, उसे कृष्टि कहते हैं।

कदिसु च अणुभागेसु च ट्ठिदीसु वा केत्तियासु का किट्टी।
सव्वासु वा ट्ठिदीसु च आहो सव्वासु पत्तेयं ॥ १६६ ॥

कितने अनुभागों तथा कितनी स्थितियों में कौन कृष्टि है? यदि सभी स्थितियों में सभी कृष्टियां संभव हैं, तो क्या उनकी सभी अवयव स्थितियों में भी सभी कृष्टियां संभव हैं अथवा प्रत्येक स्थिति पर एक एक कृष्टि संभव है?

किट्टी च ट्ठिदीविसेसेसु असंखेज्जेसु णियमसा होदि।
णियमा अणुभागेसु च होदि हु किट्टी अणंतेसु ॥१६७॥

सभी कृष्टियां सर्व असंख्यात-स्थितिविशेषों पर नियमसे होती हैं तथा प्रत्येक कृष्टि नियमसे अनंत अनुभागों में होती हैं।

विशेष—क्रोध की प्रथम संग्रहकृष्टि को वेदन करने वाले जीव के उस अवस्था में क्रोध संज्वलन की प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति संज्ञावाली दो स्थितियां होती हैं। उनमें द्वितीय स्थिति संबंधी एक एक समय रूप जितनी अवयव स्थितियां हैं, उन सब में वेदन की जानेवाली क्रोध-प्रथम संग्रहकृष्टि की जितनी अवयवकृष्टियां हैं, वे सब पाई जाती हैं; किन्तु प्रथम स्थिति संबंधी जितनी अवान्तर स्थितियां हैं, उनमें केवल एक उदयस्थिति को छोड़कर शेष सर्व अवान्तरस्थितियों में क्रोध कषाय संबंधी प्रथम संग्रह कृष्टि की सर्व अवयवकृष्टियां पाई जाती हैं।

उदय स्थिति में वेद्यमान संग्रहकृष्टिकी जितनी अवयवकृष्टियां हैं, उनका असंख्यात बहुभाग पाया जाता है। शेष अवेद्यमान ग्यारह संग्रहकृष्टियों की एक एक अवयव कृष्टि सर्व द्वितीय स्थिति संबंधी अवान्तरस्थितियों में पाई जाती हैं। प्रथम स्थिति संबंधी अवान्तर स्थितियों में नहीं पाई जाती—"सेसाणमवेदिज्जमाणिगाणं संगहकिट्टीणमेक्केक्का किट्टी सव्वासु विदियट्ठिदीसु, पढमट्ठिदीसु णत्थि" (२०७९)।

एक एक संग्रह कृष्टि अथवा अवयवकृष्टियां अनन्त अनुभागों में रहती हैं। जिन अनंत अनुभागों में एक विवक्षित कृष्टि वर्तमान

है, उनमें दूसरी अन्य कृष्टियां नहीं रहती हैं। "एक्केक्का किट्टी अणुभागेसु अणंतेसु। जेसु पुण एक्का ण तेसु बिदिया"।

सव्वाओ किट्टीओ बिदियट्ठिदीए दु होंति सव्विस्से।
जं किट्टिं वेदयदे तिस्से अंसो च पढमाए ॥ १६८॥

सभी संग्रह कृष्टियां और उनकी अवयव कृष्टियां समस्त द्वितीय स्थिति में होती हैं, किंतु वह जिस कृष्टि का वेदन करता है, उसका अंश प्रथम स्थिति में होता है।

विशेष—वेद्यमान संग्रहकृष्टिका अंश उदय को छोड़कर शेष सर्व स्थितियों में पाया जाता है, किन्तु उदय स्थितिमें वेद्यमान कृष्टि के असंख्यात बहुभाग ही पाए जाते हैं।

किट्टी च पदेसग्गेणणुभागग्गेण का च कालेण।
अधिका समा व हीणा गुणेण किंवा विसेसेण ॥ १६९॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कौन कृष्टि प्रदेशाग्र, अनुभागाग्र तथा काल की अपेक्षा किस कृष्टिसे अधिक है, समान है अथवा हीन है? एक कृष्टिसे दूसरी में गुणों की अपेक्षा क्या विशेषता है?

बिदियादो पुण पढमा संखेज्जगुणा भवे पदेसग्गे।
बिदियादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसहिया ॥१७०॥

क्रोध की प्रथम संग्रहकृष्टि उसकी द्वितीय संग्रह कृष्टिसे प्रदेशाग्र की अपेक्षा संख्यातगुणी है। द्वितीय संग्रह कृष्टि से तीसरी विशेषाधिक है।

विशेष—क्रोध की द्वितीय संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र स्तोक हैं। प्रथम संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र संख्यातगुणे अर्थात् तेरह गुने हैं। "पढमाए संगहकिट्टीए पदेसग्गं संखेज्जगुणं तेरसगुणमेत्तं" (२०८३)।

मान की प्रथम संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र स्तोक हैं। द्वितीय संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। तृतीय संग्रह कृष्टि में

प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। "विसेसो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पडिभागो"—विशेष का प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग का प्रतिभाग है। (२०८५)।

मान की तृतीय संग्रह कृष्टिसे क्रोध की द्वितीय संग्रह कृष्टिमें प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। तृतीय संग्रह कृष्टिमें प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। माया की प्रथम संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। द्वितीय संग्रहकृष्टि में प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। तृतीय संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं।

लोभ की प्रथम संग्रह कृष्टिमें प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। द्वितीय संग्रह कृष्टिमें प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं। तृतीय संग्रह कृष्टिमें प्रदेशाग्र विशेषाधिक हैं।

क्रोध की प्रथम संग्रह कृष्टि में प्रदेशाग्र संख्यातगुणे हैं। "कोहस्स पढमाए संगहकिट्टीए पदेसग्गं संखेज्जगुणं"। यहां संख्यात मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज [illegible] मेत्तमिदि वुत्तं होदि" (२०८६)।

विदियादो पुण पढमा संखेज्ज गुणा दु वग्गणग्गेण।
विदियादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसहिया ॥१७१॥

क्रोध की द्वितीय संग्रह कृष्टि से प्रथम संग्रह कृष्टि वर्गणाओं के समूह की अपेक्षा संख्यातगुणी है। द्वितीय संग्रह कृष्टि से तृतीय विशेषाधिक है। इस प्रकार शेष संग्रह कृष्टियां विशेषाधिक जानना चाहिए।

विशेष—अनंत परमाणुओं के समुदायात्मक एक अन्तर कृष्टि को वर्गणा कहते हैं। वर्गणाओं का समुदाय वर्गणाग्र है। "एत्थ वग्गणा त्ति वुत्ते एक्केक्का अंतरकिट्टी घेत्तव्वा अणंतसरिसधणियपरमाणु समूहारद्धा एगेगा वग्गणा त्ति घेत्तव्वा तासिं समूहो 'वग्गणग्गमिदि भण्णदे"। (२०८६)

जा हीणा अणुभागेणहिया सा वग्गणा पदेसग्गे।
भागेणाणंतिमेण दु अधिगा हीणा च बोधव्वा ॥१७२॥

जो वर्गणा अनुभाग की अपेक्षा हीन है, वह प्रदेशाग्र की अपेक्षा अधिक है। ये वर्गणाएं अनंतवें भाग से अधिक तथा हीन जानना चाहिए।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—जिन वर्गणाओं में अनुभाग अधिक होगा, उनमें प्रदेशाग्र कम होंगे। जिनमें प्रदेशाग्र अधिक रहेंगे, उनमें अनुभाग कम रहेगा। जघन्य वर्गणामें प्रदेशाग्र बहुत हैं। दूसरी वर्गणा में प्रदेशाग्र विशेषहीन अर्थात् अनंतवें भागसे हीन होते हैं। इस प्रकार अनंतर अनंतर क्रमसे सर्वत्र विशेष हीन प्रदेशाग्र जानना चाहिए। "जहण्णियाए वग्गणाए पदेसग्गं बहुअं। बिदियाए वग्गणाए पदेसग्गं विसेसहीण-मणंतभागेण। एवमणंतराणंतरेण विसेसहीणं सव्वत्थ"। (२०८८)

कोधादिवग्गणादो सुद्धं कोधस्स उत्तरपदं तु।
सेसो अणंतभागो णियमा तिस्से पदेसग्गे ॥१७३॥

क्रोध कषाय का उत्तर पद क्रोध की आदि वर्गणा में से घटाना चाहिये। इससे जो शेष रूप अनंतवां भाग रहता है, वह क्रोध की आदि वर्गणा अर्थात् जघन्य वर्गणा के प्रदेशाग्र में अधिक है।

विशेष—क्रोध की जघन्य वर्गणा से उसकी उत्कृष्ट वर्गणा में प्रदेशाग्र विशेष हीन अर्थात् अनंतवें भाग से हीन हैं।[1]

एसो कमो य कोधे माणे णियमा च होदि मायाए।
लोभम्हि च किट्टीए पत्तेगं होदि बोद्धव्वो ॥ १७४ ॥

क्रोध के विषय में कहा गया यह क्रम नियम से मान, माया, लोभ की कृष्टि में प्रत्येक का जानना चाहिये।

---

१ कोधस्स जहण्णियादो वग्गणादो उक्कस्सियाए वग्गणाए पदेसग्गं विसेसहीणमणंत-भागेण (२०८९)

विशेष--मान कषाय का उत्तरपद अर्थात् चरम कृष्टि का प्रदेशाग्र मानकी आदि वर्गणा में से घटाना चाहिये। जो शेष अनंतवां भाग रहता है, वह नियम से मानकी जघन्य वर्गणा के प्रदेशाग्र से अधिक है। इसी प्रकार माया संज्वलन और लोभ संज्वलन का उत्तरपद उनकी आदि वर्गणा में से घटाना चाहिये। जो शेष अनंतवां भाग बचे, वह नियम से उनकी जघन्य वर्गणा के प्रदेशाग्र से अधिक है।

पढमा च अणंतगुणा विदियादो णियमसा हि अणुभागो।
तदियादो पुण विदिया कमेण सेसा गुणेण ऽहिया ॥१७५॥

अनुभाग की अपेक्षा क्रोध संज्वलन की द्वितीय कृष्टि से प्रथम कृष्टि अनंतगुणित है और तृतीय कृष्टि से द्वितीय कृष्टि अनंत गुणी है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ की तीनों तीनों कृष्टियां तृतीय से द्वितीय और द्वितीय से प्रथम अनंतगुणी जानना चाहिये।

विशेष--संग्रह कृष्टि की अपेक्षा क्रोध की तीसरी कृष्टि में अनुभाग अल्प है। द्वितीय में अनुभाग अनंतगुणा है। प्रथम में अनुभाग अनंतगुणा है। इसी प्रकार "एवं माण-माया-लोभाणं पि"-मान, माया लोभ में जानना चाहिए। (२०९२)

पढमसमयकिट्टीणं कालो वस्सं व दो व चत्तारि।
अट्ठ च वस्साणि ट्ठिदी विदियट्ठिदीए समा होदि ॥१७६॥

प्रथम समय में कृष्टियों का स्थिति काल एक वर्ष, दो वर्ष, चार वर्ष, और आठ वर्ष है। द्वितीय स्थिति और अन्तर स्थितियों के साथ प्रथम स्थिति का यह काल कहा है।

विशेष--यदि क्रोध संज्वलन के उदय के साथ उपस्थित हुआ कृष्टियों का वेदन करता है, तो उसके प्रथम समय में कृष्टि वेदक के मोहनीय का स्थिति सत्व आठ वर्ष है। मान के उदय के साथ

उपस्थित प्रथम समय में कृष्टिवेदक के मोह का स्थिति सत्व चार वर्ष है। माया के उदय के साथ उपस्थित प्रथम समय कृष्टिवेदक के मोह का स्थिति सत्व दो वर्ष है। लोभ के उदयके साथ उपस्थित प्रथम समय कृष्टिवेदक के मोहका स्थिति सत्व एक वर्ष है। (२०९४)

जं किट्टिं वेदयदे जवमज्झं सांतरं दुसु ट्ठिदीसु।
पढमा जं गुणसेढी उत्तरसेढी य बिदिया दु ॥१७७॥

जिस कृष्टि को वेदन करता है, उसमें प्रदेशाग्र का अवस्थान यवमध्य रूप से होता है तथा वह यवमध्य प्रथम और द्वितीय इन दोनों स्थितियों में वर्तमान होकर भी अन्तर स्थितियों से अंतरित होने के कारण सांतर है। जो प्रथम स्थिति है, वह गुणश्रेणी रूप है तथा द्वितीय स्थिति उत्तर श्रेणी रूप है।

विशेष—जिस कृष्टि को वेदन करता है, उसकी उदय स्थिति में अल्प प्रदेशाग्र हैं। द्वितीय स्थिति में प्रदेशाग्र असंख्यातगुणे हैं। इस प्रकार असंख्यातगुणित क्रम से प्रदेशाग्र प्रथम स्थिति के चरम समय तक बढ़ते हुए पाए जाते हैं। तदनंतर द्वितीय स्थिति की जो आदि स्थिति है, उसमें प्रदेशाग्र असंख्यातगुणित हैं। तदनंतर सर्वत्र विशेष हीन क्रम से प्रदेशाग्र विद्यमान हैं। यह प्रदेशों की रचना रूप यवमध्य प्रथम स्थिति के चरम स्थिति में द्वितीय स्थिति के आदि स्थिति में पाया जाता है। वह यह यवमध्य दोनों स्थितियों के अंतिम और प्रारंभिक समयों में वर्तमान होने से सांतर है। (२०९६)

बिदियट्ठिदि-आदिपदा सुद्धं पुण होदि उत्तरपदं तु।
सेसो असंखेज्जदिमो भागो तिस्से पदेसग्गे ॥१७८॥

द्वितीय स्थिति के आदिपद (प्रथम निषेक के प्रदेशाग्र) में से उसके उत्तरपद (चरम निषेक के प्रदेशाग्र) को घटाना चाहिए।

ऐसा करने पर जो असंख्यातवां भाग शेष रहता है, वह उस प्रथम निषेक के प्रदेशाग्र से अधिक है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उदयादि या ट्ठिदीओ णिरंतरं तासु होइ गुणसेढी।
उदयादि-पदेसग्गं गुणेण गणणादियंतेण ॥१७९॥

उदय काल से आदि लेकर प्रथम स्थिति सम्बन्धी जितनी स्थितियां हैं, उनमें निरंतर गुणश्रेणी होती है। उदय काल से लेकर उत्तरोत्तर समयवर्ती स्थितियों में प्रदेशाग्र गणना के अन्त अर्थात् असंख्यात गुणे हैं।

विशेष—उदय स्थिति में प्रदेशाग्र अल्प हैं। द्वितीय स्थिति में प्रदेशाग्र असंख्यातगुणित हैं। इस प्रकार संपूर्ण प्रथम स्थिति में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र जानना चाहिये। "उदय-ट्ठिदिपदेसग्गं थोवं। बिदियाए ट्ठिदीए पदेसग्गमसंखेज्जगुणं। एवं सव्विस्से पढमट्ठिदीए" (पृ. २०९८)

उदयादिसु ट्ठिदीसु य जं कम्मं णियमसा दु तं हरस्सं।
पविसदि ट्ठिदिक्खएदु गुणेण गणणादियंतेण ॥१८०॥

उदय को आदि लेकर यथाक्रम से अवस्थित प्रथम स्थिति की अवयवस्थितियों में जो कर्मरूप द्रव्य है, वह नियम से आगे आगे ह्रस्व (न्यून) है। उपस्थिति से ऊपर अनंतर स्थिति में जो प्रदेशाग्र स्थिति के क्षय से प्रवेश करते हैं, वे असंख्यात गुणे रूप से प्रवेश करते हैं।

विशेष—जो प्रदेशाग्र वर्तमान समय में उदय को प्राप्त होता है, वह अल्प है। जो प्रदेशाग्र स्थिति के क्षय से अनंतर समय में उदय को प्राप्त होगा, वह असंख्यातगुणा है। इस प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। (२१००)

वेदगकालो किट्टीय पच्छिमाए दु णियमसा हरस्सो।
संखेज्जदिभागेण दु सेसग्गाणं कमेणऽधिगो ॥१८१॥

पश्चिम कृष्टि (संज्वलन लोभ की सूक्ष्मसांपरायिक अन्तिम द्वादशम कृष्टि) का वेदक काल नियम से अल्प है। पश्चात् अनुपूर्वी से शेष एकादश कृष्टियों का वेदक काल क्रमशः संख्यातवें भाग से अधिक है।

विशेष—पश्चिम अर्थात् द्वादशम कृष्टि को अंतर्मूहूर्त पर्यन्त वेदन करता है। [illegible] एकादशम कृष्टि का वेदक काल विशेषाधिक है। दशमी कृष्टि का वेदक काल विशेषाधिक है। नवमी आदि से प्रथम कृष्टि पर्यन्त कृष्टियों का वेदक काल सर्वत्र विशेषाधिक विशेषाधिक है।

शंका—"एत्थ सव्वत्थ विसेसो किं पमाणो ?"—यहां सर्वत्र विशेष का क्या प्रमाण है ?

समाधान—"विसेसो संखेज्जदिभागो" (२१०२) विशेष संख्यातवें भाग है अर्थात् संख्यात आवली है।

कदिसु गदीसु भवेसु य ट्ठिदि-अणुभागेसु वा कसाएसु।
कम्माणि पुव्वबद्धाणि कदीसु किट्टीसु च ट्ठिदीसु॥ १८२॥

पूर्वबद्ध कर्म कितनी गतियों में, भवों में, स्थितियों में, अनुभागों में, कषायों में, कितनी कृष्टियों में तथा उनकी कितनी स्थितियों में पाये जाते हैं ?

विशेष—"गति" शब्द गति मार्गणा का ज्ञापक है। "भव" पद से इंद्रिय और काय मार्गणा सूचित की गई हैं। "कषाय" के द्वारा कषाय मार्गणा का ग्रहण हुआ है।

पूर्वोक्त मूल गाथा की तीन भाष्य गाथा हैं।

दोसु गदीसु अभज्जाणि दोसु भज्जाणि पुव्वबद्धाणि।
एइंदियकाएसु च पंचसु भज्जा ण च तसेसु॥१८३॥

पूर्वबद्ध कर्म दो गतियों में अभजनीय हैं तथा दो गतियों में भजनीय हैं। एकेन्द्रिय जाति और पंच स्थावरकायों में भजनीय है। शेष द्वीन्द्रियादि चार जातियों तथा त्रसों में भजनीय नहीं हैं।

विशेष—"एदस्स दुगदिसमज्जिदं कम्मं णियमसा अत्थि"—इस कृष्टिवेदक क्षपक के दो गति में उपार्जित कर्म नियम से पाया जाता है।

प्रश्न—वे दो गति कौन हैं, जहां उपार्जित कर्म नियम से पाया जाता है? मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—वे गतियां तिर्यंच गति तथा मनुष्य गति हैं। "देवगदि समज्जिदं च णिरयगदि समज्जिदं च भजियव्वं"—देवगदि समुपार्जित और नरक गति समुपार्जित कर्म भजनीय हैं। एकेन्द्रियादि पंच स्थावरकायों में समुपार्जित कर्म भजनीय हैं।

शंका—भजनीय का क्या अभिप्राय है?

समाधान—"सिया अत्थि, सिया णत्थि"—होते भी हैं अथवा नहीं भी होते हैं।

"तसकाइयं समज्जिदं णियमा अत्थि" (२१०६) त्रसकाय में समुपार्जित कर्म नियम से पाया जाता है।

एइंदियभवग्गहणेहिं असंखेज्जेहि णियमसा बद्धं।
एगादेगुत्तरियं संखेज्जेहि य तसभवेहिं ॥१८४॥

क्षपक के असंख्यात एकेन्द्रिय-भव-ग्रहणों के द्वारा बद्धकर्म नियम से पाया जाता है और एकादि संख्यात त्रस भवों के द्वारा संचित कर्म पाया जाता है।

उक्कस्सय अणुभागे ट्ठिदिउक्कस्सगाणि पुव्वबद्धाणि।
भजियव्वाणि अभज्जाणि होंति णियमा कसाएसु ॥१८५॥

उत्कृष्ट अनुभाग युक्त तथा उत्कृष्ट स्थितियुक्त पूर्वबद्ध कर्म भजनीय हैं। कषायों में पूर्वबद्धकर्म नियम से अभजनीय हैं।

विशेष—कृष्टिवेदक क्षपक के उत्कृष्ट स्थिति तथा उत्कृष्ट अनुभाग बद्ध कर्म भजनीय हैं अर्थात् होते भी है, नहीं भी होते हैं। "कोह-माण-माया-लोभोवजुत्तेहिं बद्धाणि अभजियव्वाणि" क्रोध, मान, माया तथा लोभ के उपयोग पूर्वक बद्धकर्म अभजनीय हैं अर्थात् "एदस्स खवगस्स णियमा अत्थि"-इस क्षपक में नियम से पाये जाते हैं।

पज्जत्तापज्जत्तेण तथा त्थीपुण्णवुंसयमिस्सेण।
सम्मत्ते मिच्छत्ते केण व जोगोवजोगेण ॥ १८६ ॥

पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था के साथ तथा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद के साथ मिश्र प्रकृति, सम्यक्त्व प्रकृति तथा मिथ्यात्व प्रकृति के साथ और किस योग और उपयोग के साथ पूर्वबद्ध कर्म क्षपक के पाए जाते हैं ?

विशेष—इस गाथा के अर्थ की विभाषा आगामी चार गाथाओं द्वारा की गई है. "एत्थ चत्तारि भास गाहाओ" (२११०)

पज्जत्तापज्जत्ते मिच्छत्त-णवुंसये च सम्मत्ते।
कम्माणि अभज्जाणि दु थी-पुरिसे मिस्सगे भज्जा ॥१८७॥

पर्याप्त, अपर्याप्त में, मिथ्यात्व, नपुंसक वेद तथा सम्यक्त्व अवस्था में बांधे गए कर्म अभजनीय हैं तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और सम्यग्मिथ्यात्व अवस्था में बांधे कर्म भाज्य हैं।

ओरालिये सरीरे ओरालिय-मिस्सये च जोगे दु।
चदुविधमण-वचिजोगे च अभज्जा सेसगे भज्जा ॥१८८॥

औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, चतुर्विध मनोयोग, चतुर्विध वचनयोग में बांधे कर्म अभजनीय हैं, शेष योगों में बांधे हुए कर्म भजनीय हैं।

विशेष—क्षपक के वैक्रियिक काययोग तथा कार्माण काययोग आहारक, आहारकमिश्र काययोग तथा कार्माण काययोग के साथ बांधे गए कर्म भजनीय हैं—"सेसजोगेसु बद्धाणि भज्जाणि" (२१११)।

अध सुद–मदिउवजोगे होंति अभज्जाणि पुव्वबद्धाणि ।
भज्जाणि च पच्चक्खेसु दोसु छदुमत्थणाणेसु ॥१८६ ॥

श्रुत, कुश्रुतरूप उपयोग में, मति, कुमति रूप उपयोग में पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं, किन्तु दोनों प्रत्यक्ष छद्मस्थज्ञानों में पूर्वबद्ध कर्म भजनीय हैं ।

विशेष—"सुदणाणे अण्णाणे मदिणाणे अण्णाणे एदेसु चदुसु
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
उवजोगेसु पुव्वबद्धाणि णियमा अत्थि"-श्रुतज्ञान कुश्रुतज्ञान, मतिज्ञान कुमतिज्ञान इन चार उपयोगों में पूर्वबद्ध कर्म नियम से पाए जाते हैं । "ओहिणाणे अण्णाणे मणपज्जवणाणे एदेसु तिसु उवजोगेसु पुव्वबद्धाणि भजियव्वाणि,–अवधिज्ञान, विभंगज्ञान, मनःपर्ययज्ञान इन तीन उपयोगों में पूर्वबद्ध कर्म भजनीय हैं । वे किसी के पाये जाते हैं, और किसी के नहीं पाये जाते ।

कम्माणि अभज्जाणि दु अणगार–अचक्खुदंसणुवजोगे ।
अध ओहिदंसणे पुण उवजोगे होंति भज्जाणि ॥१६०॥

अनाकार अर्थात् चक्षुदर्शनोपयोग तथा अचक्षुदर्शनोपयोग में पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं । अवधि दर्शन उपयोग में पूर्वबद्धकर्म कृष्टि वेदक क्षपक के भाज्य हैं ।

विशेष—यहां अनाकार उपयोग सामान्य निर्देश होते हुए भी पारिशेष्य न्याय से चक्षुदर्शनोपयोग का ही ग्रहण करना चाहिए- "एत्थ अणगारोवजोगे त्ति सामण्णणिद्देसे वि पारिसेसिय-णाएण चक्खुदंसणोवजोगस्सेव गहणं कायव्वं' (२११३)

प्रश्न—अवधिदर्शनोपयोग को भाज्य क्यों कहा है ?

समाधान–"ओहिदंसणावरणक्खओवसमस्स सव्वजीवेसु संभवाणुवलंभादो"-अवधिदर्शनावरण का क्षयोपशम सर्व जीवों में संभव नहीं है । इससे इस उपयोग को भाज्य कहा है, क्योंकि यह किसी क्षपक के पाया जाता है तथा किसी के नहीं भी पाया जाता है ।

किं लेस्साए बद्धाणि केसु कम्मेसु वट्टमाणेण।
सादेण असादेण च लिंगेण च कम्हि खेत्तम्हि ॥१६१॥

किस लेश्या में, किन कर्मों में, किस क्षेत्र में, (किस काल में) वर्तमान जीव के द्वारा बांधे हुए साता और असाता, किस लिंग के द्वारा बांधे हुए कर्म क्षपक के पाये जाते हैं ?

इस गाथा की विभाषा दो गाथाओं में हुई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लेस्सा साद असादे च अभज्जा कम्म-सिप्प-लिंगे च।
खेत्तम्हि च भज्जाणि दु समाविभागे अभज्जाणि ॥१६२॥

सर्व लेश्याओं में, साता तथा असाता में वर्तमान जीव के पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं। असि मषि आदि कर्मों में, शिल्प कार्यों में, सभी पाखण्ड लिंगों में तथा सभी क्षेत्रों में बद्ध कर्म भजनीय हैं। समा अर्थात् उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप काल के विभागों में पूर्व बद्ध कर्म अभाज्य हैं।

विशेष—छहों लेश्याओं में, साता असाता वेदनीय के उदय में वर्तमान जीव के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं। वे कृष्टिवेदक के नियम से पाये जाते हैं। सर्व कर्मों और सर्व शिल्पों में पूर्वबद्ध कर्म भाज्य हैं।

प्रश्न—वे कर्म कौन हैं ?

समाधान—"कम्माणि जहा अंगारकम्मं वण्णकम्मं पव्वदकम्म-मेदेसु कम्मेसु भज्जाणि"-कर्म इस प्रकार हैं; अंगारकर्म, वर्णकर्म, पर्वत कर्म। इनमें बांधे हुए कर्म भाज्य हैं।

अंगारकर्म पापप्रचुर आजीविका को कहते हैं। चित्र निर्माण, कारीगरी आदि वर्ण कर्म हैं। पाषाण को काटना, मूर्ति स्तंभादि का निर्माण करना पर्वत कर्म है। हस्त नैपुण्य द्वारा संपादित कर्म शिल्प कर्म है।

इन नाना प्रकार के कर्मों के द्वारा जिन कर्मों का बंध होता है, उनका अस्तित्व कृष्टिवेदक के स्यात् नहीं होता है। इससे उन्हें भाज्य कहा गया है।

सर्व निर्ग्रन्थ लिंग को छोड़कर अन्य लिंग में पूर्वबद्ध कर्म क्षपक के भजनीय हैं।

क्षेत्र में अधोलोक तथा उर्ध्वलोक में बांधे हुए कर्म स्यात् पाए जाते हैं। तिर्यग्लोक में बद्धकर्म नियम से पाये जाते हैं। अधोलोक और उर्ध्वलोक में संचित कर्म शुद्ध नहीं रहता है। तिर्यग्लोक में सम्मिश्रित कर्म पाया जाता है। तिर्यग्लोक का संचय शुद्ध भी पाया जाता है। अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में संचित शुद्ध कर्म नहीं होता है—"ओसप्पिणीए च उस्सप्पिणीए च सुद्धं णत्थि"। (२११७)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एदाणि पुव्वबद्धाणि होंति सव्वेसु ट्ठिदिविसेसेसु।
सव्वेसु चाणुभागेसु णियमा सव्वकिट्टीसु ॥१९३॥

ये पूर्वबद्ध (अभाज्य स्वरूप) कर्म सर्व स्थिति विशेषों में, सर्व अनुभागों में तथा सर्व कृष्टियों में नियम से होते हैं।

विशेष—"जाणि अभज्जाणि पुव्वबद्धाणि ताणि णियमा सव्वेसु ट्ठिदिविसेसेसु णियमा सव्वासु किट्टीसु" (पृ. २११८) जो अभाज्य रूप पूर्वबद्ध कर्म हैं, वे नियम से सर्व स्थिति विशेषों में तथा नियम से सर्व कृष्टियों में पाये जाते हैं।

एगसमयपबद्धा पुण अच्छुत्ता केत्तिगा कहिं ट्ठिदीसु।
भवबद्धा अच्छुत्ता ट्ठिदीसु कहिं केत्तिया होंति ॥१९४॥

एक समय में प्रबद्ध कितने कर्म प्रदेश किन-किन स्थितियों में अछूते (उदय स्थिति को अप्राप्त) रहते हैं ? इस प्रकार कितने भवबद्ध कर्म प्रदेश किन-किन स्थितियों में असंक्षुब्ध रहते हैं ?

विशेष—एक समय में बद्ध कर्मपुंज को एक समय प्रबद्ध कहते हैं। अनेक भवों में बांधे गए कर्मपुंज को भवबद्ध कहते हैं, "एक्कम्हि भवग्गहणे जेत्तिओ कम्मपोग्गलो संचिदो तस्स भव-बद्धसण्णा" (२११९)

गाथा में "अच्छुत्ता" पद आया है, उसका अर्थ "असंक्षुब्ध" तथा उदय स्थिति को अप्राप्त "अस्पृष्ट" भी किया गया है।

इस मूल गाथा के अर्थ का व्याख्यान करने वाली चार भाष्य गाथाएं हैं।

छण्हं आवलियाणं अच्छुत्ता णियमसा समयपबद्धा।
सव्वेसु ट्ठिदिविसेसाणुभागेसु च चउण्हं पि ॥१९५॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्तरकरण करने से उपरिम अवस्था में वर्तमान क्षपक के छह आवलियों के भीतर बंधे हुए समय प्रबद्ध नियम से अस्पष्ट हैं। (कारण अन्तरकरण के पश्चात् छह आवली के भीतर उदीरणा नहीं होती है)। वे अछूते समय-प्रबद्ध चारों संज्वलन संबंधी स्थिति-विशेषों और सभी अनुभागों में अवस्थित रहते हैं।

विशेष—जिस पाए अर्थात् स्थल पर अन्तर किया जाता है, उस पाए पर बंधा समय-प्रबद्ध छह आवलियों के बीतने पर उदी-रणा को प्राप्त होता है। अतः अन्तरकरण समाप्त होने के अनंतर समय से लेकर छह आवलियों के बीतने पर उससे परे सर्वत्र छह आवलियों के समय प्रबद्ध उदय में अछूते हैं।

भवबद्ध सभी समयप्रबद्ध नियम से उदय में संक्षुब्ध होते हैं, "भवबद्धा पुण णियमा सव्वे उदये संछुद्धा भवंति" (२१२१)

जा चावि बज्झमाणी आवलिया होदि पढम किट्टीए।
पुव्वावलिया णियमा अणंतरा चदुसु किट्टीसु ॥ १९६ ॥

—जो बध्यमान आवली है, उसके कर्मप्रदेश क्रोध संज्वलन की प्रथम कृष्टि में पाये जाते हैं। इस पूर्व आवली के अनंतर जो

उपरिम अर्थात् द्वितीय आवली है, उसके कर्मप्रदेश क्रोध संज्वलन की तीन और मान संज्वलन की एक इन चार संग्रह कृष्टियों में पाये जाते हैं।

तदिया सत्तसु किट्टीसु चउत्थी दससु होइ किट्टीसु।
तेण परं सेसाओ भवंति सव्वासु किट्टीसु ॥१९७॥ ॥ ३ ८७ ॥

तीसरी आवली सात कृष्टियों में, चौथी आवली दस कृष्टियों में और उससे आगे की शेष सर्व आवलियां सर्व कृष्टियों में पाई जाती हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एदे समयपबद्धा अच्छुत्ता णियमसा इह भवम्मि।
सेसा भवबद्धा खलु संछुद्धा होंति बोद्धव्वा ॥१९८॥

पूर्वोक्त छहों आवलियों के वर्तमान भव में ग्रहण किए गए समय प्रबध्द नियम से असंक्षुब्ध रहते हैं। उदय या उदीरणा को नहीं प्राप्त होते हैं, किन्तु शेष भवबध्द उदय में संक्षुब्ध रहते हैं।

एकसमयपबद्धाणं सेसाणि च कदिसु ट्ठिदिविसेसेसु।
भवसेसगाणि कदिसु च कदि कदि वा एगसमएण ॥१९९॥

एक तथा अनेक समयों में बंधे समय प्रबद्धों के शेष कितने कर्मप्रदेश, कितने स्थिति और अनुभाग विशेषों में पाये जाते हैं? एक तथा अनेक भवों में बंधे हुए कितने कर्मप्रदेश कितने स्थिति और अनुभाग विशेषों में पाये जाते हैं? एक समय रूप एक स्थिति विशेष में वर्तमान कितने कर्मप्रदेश एक अनेक समय प्रबध्द के शेष पाये जाते हैं?

एक्कम्हि ट्ठिदिविसेसे भव-सेसगसमयपबद्धसेसाणि।
णियमा अणुभागेसु य भवंति सेसा अणंतेसु ॥२००॥

एक स्थिति विशेष में नियम से एक अनेक भवबध्दों के समय प्रबध्द शेष, एक अनेक समयों में बंधे हुए कर्मों के समयप्रबध्द शेष असंख्यात होते हैं, जो नियम से अनंत अनुभागों में वर्तमान होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष—शंका—"समयपबद्धसेसयं णाम किं ? समयप्रबद्धशेष किसे कहते हैं।

समाधान— १ समय प्रबद्ध का वेदन करने से शेष बचे जो प्रदेशाग्र दिखते हैं, उसके अपरिशेषित अर्थात् समस्त रूप से एक समय में उदय आने पर उस समयप्रबद्ध का फिर कोई अन्य प्रदेश बाकी नहीं रहता है, उसको समयप्रबद्धशेष कहते हैं।

प्रश्न—भवबध्द शेष का क्या स्वरूप है ?

समाधान—भवबद्धशेष में कम से कम अंत मुहूर्त मात्र एक भवबद्ध समयप्रबद्धों के कर्म परमाणु ग्रहण किए जाते हैं।

शंका—एक स्थिति विशेष में कितने समय प्रबद्धों के शेष बचे हुए कर्म परमाणु होते हैं ?

समाधान—"एक्कस्स वा समयपबद्धस्स दोण्हं वा तिण्हं वा, एवं गंतूण उक्कस्सेण असंखेज्जदिभागमेत्ताणं समयपबद्धाणं"—एक स्थिति विशेष में एक समयप्रबद्ध के, दो के अथवा तीन समयप्रबद्धों के भी शेष रहते हैं। इस प्रकार एक एक समयप्रबध्द के बढ़ते हुए क्रम से उत्कृष्ट से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र समयप्रबध्दों के कर्म परमाणु शेष रहते हैं।

इसी प्रकार भवबध्दशेष भी जानना चाहिए। एक स्थिति विशेष में एक भवबध्द के, दो या तीन भवबध्द शेष के इस प्रकार उत्कृष्ट से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र भवबध्दों के कर्म परमाणु पाये जाते हैं। यह भवध्दशेष वा समयप्रबध्द शेष अनंत अविभाग प्रतिच्छेद रूप अनुभागों में नियम से वर्तमान रहता है।

---

१ जं समयपबध्दस्स वेदिदसेसग्गं पदेसग्गं दिस्सइ, तम्मि अपरिसेसिदम्मि एक्कसमएण उदयमागदम्मि तस्स समयपबध्दस्स अण्णो कम्मपदेसो वा णत्थि तं समयपबध्दसेसगं णाम (२१२७)

**ट्ठिदि-उत्तरसेढीय भवसेस-समयपवद्धसेसाणि ।
एगुत्तरमेगादि उत्तरसेढी असंखेज्जा ॥२०१॥**

एक को आदि को लेकर एक एक बढ़ाते हुए जो स्थिति वृध्दि होती है, उसे 'स्थिति उत्तरश्रेणी' कहते हैं। इस प्रकार की स्थिति उत्तरश्रेणी में असंख्यात भवबध्द शेष तथा समयप्रबध्द शेष पाए जाते हैं।

**एक्कम्मि ट्ठिदिविसेसे सेसाणि ण जत्थ होंति सामण्णा ।
आवलिगा संखेज्जदिभागो तहिं तारिसो समयो ॥२०२॥**

जिस एक स्थिति विशेष में समयप्रबद्ध शेष तथा भवबद्धशेष संभव हैं, वह सामान्य स्थिति है। जिसमें वे संभव नहीं, वह असामान्य स्थिति है। उस क्षपक के वर्ष पृथकत्वमात्र विशेष स्थिति में तादृश अर्थात् भवबध्द और समयप्रबध्द और समयप्रबध्द शेष से विरहित असामान्य स्थितियां अधिक से अधिक आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण में पाई जाती है।

विशेष—जिस एक स्थिति विशेष में समयप्रबध्दशेष (तथा भवबद्ध शेष) पाये जाते हैं वह सामान्य स्थिति है। जिसमें वे नहीं हैं, वह असामान्य स्थिति है। इस प्रकार असामान्य स्थितियां एक वा दो आदि अधिक से अधिक अनुबध्द रूप से आवली के असंख्यातवें भाग मात्र पाई जाती हैं।

सामान्य स्थितियों के अन्तर रूप से असामान्य स्थितियां पाई जाती हैं। वे एक से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण पर्यन्त निरन्तर रूप से पाई जाती हैं। इस प्रकार पाई जाने वाली असामान्य स्थितियों की चरम स्थिति से ऊपर जो अनंतर समयवर्ती स्थिति पाई जाती है, उसमें भी समयप्रबध्द शेष और भवबध्द शेष पाये जाते हैं।

एदेण अंतरेण दु अपच्छिमाए दु पच्छिमे समए ।
भवसमयसेसगाणि दु णियमा तम्हि उत्तरपदाणि ॥२०३॥

इस अनंतर प्ररूपित आवलीके आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर से उपलब्ध होने वाली अपश्चिम (अंतिम) असामान्य स्थिति के समय में भवबद्ध शेष तथा समयबद्ध शेष नियम से पाये जाते हैं और उसमें अर्थात् क्षपक की अष्ट वर्ष प्रमाण स्थिति के भीतर उत्तरपद होते हैं ।

किट्टीकदम्मि कम्मे ट्ठिदि-अणुभागेसु केसु सेसाणि ।
कम्माणि पुव्वबद्धाणि बज्झमाणाणुदिण्णाणि ॥२०४॥

मोह के निरवशेष अनुभाग सत्कर्म के कृष्टिकरण करने पर मार्गकृष्टिवेदक अथवा सूक्ष्मसांपरायिक जीव के पूर्वबद्ध किन स्थितियों और अनुभागों में शेष रूप से पाए जाते हैं? बध्यमान और उदीर्ण कर्म किन किन स्थितियों और अनुभागों में पाए जाते हैं ?

किट्टीकदम्मि कम्मे णामागोदाणि वेदणीयं च ।
वस्सेसु असंखेज्जेसु सेसगा होंति संखेज्जा ॥२०५॥

मोह के कृष्टिकरण होने पर नाम, गोत्र और वेदनीय असंख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्वों में पाए जाते हैं। शेष चार घातिया संख्यात वर्ष प्रमाण सत्व युक्त होते हैं ।

विशेष—कृष्टिकरण के निष्पन्न होने पर प्रथम समय में कृष्टियों के वेदक के नाम, गोत्र और वेदनीय के स्थिति सत्कर्म असंख्यात वर्ष हैं । मोहनीय का स्थिति सत्व आठ वर्ष है । शेष तीन घातिया कर्मों का स्थिति सत्व संख्यात हजार वर्ष है । "मोहणीयस्स ट्ठिदिसंत-कम्ममट्ठवस्साणि । तिण्हं घादि-कम्माणं ट्ठिदिसंतकम्मं संखेज्जाणि वस्ससहस्साणि ।" (२१६३)

किट्टीकदम्मि कम्मे सादं सुहणाममुच्चगोदं च सागर जी महाराज
बंधदि च सदसहस्से ट्ठिदिमणुभागेसु दुक्कस्सं ॥२०६॥

मोह के कृष्टिकरण करने पर वह क्षपक साता वेदनीय, यशःकीर्ति रूप शुभनाम और उच्चगोत्र कर्म संख्यात शतसहस्र वर्ष स्थिति प्रमाण बांधता है। इनके योग्य उत्कृष्ट अनुभाग को बांधता है।

विशेष—कृष्टियों के प्रथम-वेदक के संज्वलनों का स्थितिबंध चार माह है। नाम, गोत्र, वेदनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय का स्थिति बंध संख्यात हजार वर्ष है। नाम, गोत्र और वेदनीय का अनुभाग बंध तत्समय उत्कृष्ट है अर्थात उस काल योग्य उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। १

किट्टीकदम्मि कम्मे के बंधदि के व वेदयदि अंसे।
संकामेदि च के के केसु असंकामगो होदि ॥२०७॥

मोह के कृष्टि रूप होने पर कौन कौन कर्म को बांधता है तथा कौन कौन कर्मांशों का वेदन करता है? किन किन का संक्रमण करता है? किन किन कर्मों में असंक्रामक रहता है?

दससु च वस्सस्संतो बंधदि णियमा दु सेसगे अंसे।
देसावरणीयाइं जेसिं ओवट्टणा अत्थि ॥२०८॥

क्रोध की प्रथम कृष्टिवेदक के चरम समय में मोहनीय को छोड़कर शेष घातिया त्रय की अंतर्मुहूर्त कम दश वर्ष प्रमाण स्थिति

---

१ किट्टीण पढमसमय वेदगस्स संजलणाणं ठिदिबंधो चत्तारि मासा। णामागोदवेदणीयाणं तिण्हं चेव घादिकम्माणं ठिदिबन्धो संखेज्जाणि वस्ससहस्साणि। णामागोदवेदणीयाणमणुभागबंधो तत्समय उक्कस्सगो। (२१६४)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज में जिनकी अपवर्तना संभव है, उनका देशघाती रूप से ही बंध करता है।

विशेष—जिन तीन घातिया कर्मों की प्रकृति में अपवर्तना संभव है, उनका देशघाती रूप से अनुभाग बंध करता है तथा जिनकी अपवर्तना संभव नहीं है, उनको सर्वघाति रूप से बांधता है। यहां घातियात्रय का स्थिति बंध संख्यात हजार वर्षों की जगह पर अंतर्मूहूर्त कम दश वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

[1] शंका—तीनों घातिया कर्मो का अनुभाग बंध क्या सर्वघाती होता है या देशघाती होता है ?

समाधान—जिनकी अपवर्तना संभव है, उनका देशघाती अनुभागबंध करता है तथा जिनकी अपवर्तना नहीं होती, उनको सर्वघाती रूप से बांधता है।

चरिमो बादररागो णामा-गोदाणि वेदणीयं च।
वस्संतो बंधदि दिवसस्संतो य जं सेसं ॥२०६॥

चरम समयवर्ती बादर सांपरायिक क्षपक नाम, गोत्र तथा वेदनीय को वर्ष के अंतर्गत बांधता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय रूप घातिया को दिवस के अंतर्गत बांधता है।

विशेष—मोहनीय का चरिम स्थितिबंध अन्तमुहूर्त है "मोह-णीयस्स चरिमो ठिदिबंधो अंतोमुहुत्तमेत्तो"। तीन घातिया का स्थिति बंध मुहूर्त पृथक्त्व है "तिण्हं घादिकम्माणं मुहुत्तपुधत्तो ट्ठिदिबंधो" (२२२)

---

१ अधाणुभागबंधो तिण्हं घादिकम्माणं किं सव्वघादी-देसघादि त्ति ? एदेसिं घादिकम्माणं जेसिमोवट्टणा अत्थि ताणि देसघादीणि बंधदि। जेसि मोवट्टणा णत्थि ताणि सव्वघादीणि बंधदि (२२२१)

चरिमो य सुहुमरागो णामा-गोदाणि वेदणीयं च।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
दिवसस्संतो बंधदि भिण्णमुहुत्तं तु जं सेसं ॥२१०॥

चरम समयवर्ती सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवाला क्षपक नाम, गोत्र, वेदनीय को दिवस के अन्तर्गत बांधता है तथा शेष घातिया त्रय को भिन्न मुहूर्त प्रमाण बांधता है।

विशेष—चरम समयवर्ती क्षपक के नाम, गोत्र का स्थितिबंध आठ मुहूर्त है। वेदनीय का द्वादश मुहूर्त है तथा घातिया त्रय का अंतर्मुहूर्त प्रमाण होता है—"चरिम समय सुहुमसांपराइयस्स णामागोदाणं ट्ठिदिबंधो अंतोमुहुत्तं, (अट्ठमुहुत्ता) वेदणीयस्स ट्ठिदिबंधो बारस मुहुत्ता, तिण्हं घातिकम्माणं ट्ठिदिबंधो अंतोमुहुत्तं"। (२२२३)

अध सुदमदि-आवरणे च अंतराइए च देसमावरणं।
लद्धी यं वेदयदे सव्वावरणं अलद्धी य ॥ २११ ॥

मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों में जिनकी लब्धि (क्षयोपशम) का वेदन करता है, उनके देशघाति आवरण रूप अनुभाग का वेदन करता है। जिनकी अलब्धि है, उनके सर्वावरणरूप अनुभाग का वेदन करता है। अन्तरायका देशघाति रूप अनुभाग वेदन करता है।

विशेष —[1] यदि सर्व अक्षरों का क्षयोपशम प्राप्त हुआ है, तो वह श्रुतावरण और मतिज्ञानावरण को देशघाति रूप से वेदन करता है। यदि एक भी अक्षर का क्षयोपशम नहीं हुआ, तो मति-

---

[1] जदि सव्वेसिमक्खराणं खओवसमो गदो तदो सुदावरणं मदिआवरणं च देसघादिं वेदयदि। अध एक्कस्सवि अक्खरस्स ण गदो खओवसमो तदो सुदमदि-आवरणाणि सव्वघादीणि वेदयदि। एवमेदासिं तिण्हं घादिकम्माणं जासिं पयडीणं खओवसमो गदो तासिं पयडीणं देसघादि उदओ। जासिं पयडीणं खओवसमो ण गदो तासिं पयडीणं सव्वघादि उदओ (२२२५)

श्रुतज्ञानावरण कर्मों को सर्वघाति रूप से वेदन करता है। इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों की जिन प्रकृतियों का क्षयोपशम प्राप्त हुआ है, उनका देशघाति अनुभागोदय है तथा जिनका क्षयोपशम नहीं हुआ है, उन प्रकृतियों का सर्वघाति उदय है।

गाथा में आगत 'च' शब्द से अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यय-ज्ञानावरणीय, चक्षु, अचक्षु तथा अवधिदर्शनावरणीय का ग्रहण करना चाहिए, कारण क्षयोपशम लब्धि की उत्पत्ति के वश से देश घाति रूप में वेदन नहीं करता है, कारण क्षयोपशम लब्धि की उत्पत्ति के वश से देशघाति रूप अनुभागोदय की संभूति के विषय में भिन्नता का अभाव है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वह इन कर्मों के ही एक देश रूप अनुभाग का देशघाति रूप में वेदन नहीं करता है, किन्तु अंतराय की पंच प्रकृतियों का देशावरण स्वरूप अनुभाग को वेदन करता है, कारण लब्धि कर्म के सत्व के विषय में विशेषता का अभाव है। "एत्थ 'च' सद्दणिद्देसेण ओहि-मणपज्जवणाणावरणीयाणं चक्खु-अचक्खु-ओहिदसणावरणीयाणं च गहणं कायव्वं, तेसिं पि खओवसमलद्धि-संभववसेण देसघादिअणुभागोदयसंभवं पडि विसेसाभावादो। ण केवलमेदेसिं चेव कम्माणमणुभागमेसो देसघादिसरूवं वेदेदि, किंतु अन्तराइए च-पंचंतराइय पयडीणं पि देसावरण सरूवमणुभागमेसो वेदयदे, लद्धिकम्मं सत्तं पडि विसेसाभावादो त्ति वुत्तं होइ" (२२२३)

जसणाममुच्चगोदं वेदयदि णियमसा अणंतगुणं।
गुणहीणमंतरायं से काले सेसगा भज्जा ॥२१२॥

क्षपक यशःकीर्ति नाम तथा उच्चगोत्र के अनंतगुणित वृद्धिरूप अनुभाग का नियम से वेदन करता है। अंतराय के अनंतगुणित

हानिरूप अनुभाग का वेदन करता है। अनंतर समय में शेष कर्मों के अनुभाग भजनीय हैं।

विशेष—"जसणाममुच्चागोदं च अणंतगुणाए सेढीए वेदयदि त्ति सादावेदणीयं पि अणंतगुणाए सेढीए वेदेदि त्ति"—यशःकीर्ति नाम कर्म तथा उच्च गोत्र को यह क्षपक अणंतगुण श्रेणी रूप से वेदन करता है। यह सातावेदनीय को भी अनंतगुण श्रेणी रूप से वेदन करता है।

शंका—नाम कर्म की शेष प्रकृतियों का किस प्रकार वेदन करता है, "सेसाओ णामाओ कधं वेदयदि" ? (२२२७)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—मनुष्यों और तिर्यंचों के यशकीर्ति नाम कर्म परिणाम प्रत्ययिक (परिणाम-पच्चइयं) है। जो अशुभ परिणाम प्रत्ययिक अस्थिर अशुभ आदि प्रकृतियां हैं, उन्हें अनंतगुणहीन श्रेणी रूप से वेदन करता है।

जो शुभ परिणाम प्रत्ययिक सुभग, आदेय आदि शुभ नाम कर्म की प्रकृतियां हैं, उनको अनंतगुणश्रेणी रूप से यह क्षपक वेदन करता है। अन्तराय कर्म की सर्वप्रकृतियों को अनंतगुणित हीन श्रेणी के रूप में वेदन करता है। भवोपग्रहिक अर्थात् भवविपा की नाम कर्म की प्रकृतियों का छह प्रकार की वृद्धि और हानि के द्वारा अनुभागोदय भजनीय है "भवोपग्गहियाओ णामाओ छव्विहाए वड्ढीए छव्विहाए हाणीए भजिदव्वाओ" (२२२७)

केवलज्ञानावरणीय, केवल दर्शनावरणीय कर्म को अनंतगुणित हीन श्रेणी के रूप में वेदन करता है। शेष चार ज्ञानावरणीय को यदि सर्व घातिया रूप में वेदन करता है, तो नियम से अनंतगुणित हीन श्रेणी रूप से वेदन करता है। यदि देशघाति रूप से वेदन करता है, तो यहां पर उनका अनुभाग उदय छह प्रकार की वृद्धि तथा हानिरूप से भजनीय हैं। इस प्रकार दर्शनावरणीय में जानना चाहिये।

चाहिए। सर्वघाती को अनंतगुणहीन रूप से वेदन करता है। देशघाति को छह प्रकार की वृद्धि तथा हानिरूप से वेदन करता है तथा नहीं भी करता है। इस कारण उसे भजनीय कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किट्टीकदम्मि कम्मे के वीचारा दु मोहणीयस्स।
सेसाण कम्माणं तहेव के के दु वीचारा ॥२१३॥

— संज्वलन कषाय के कृष्टि रूप से परिणत होने पर मोहनीय के कौन कौन वीचार (स्थिति घातादि लक्षण क्रिया विशेष) होते हैं? इसी प्रकार ज्ञानावरणादि शेष कर्मों के भी कौन कौन वीचार होते हैं?

विशेष—"एत्थ वीचारा त्ति वुत्ते ठिदिघादादिकिरिया वियप्पा घेतव्वा", यहां वीचार के कथन से स्थिति घात आदि क्रिया विशेष जानना चाहिये (२२२९)। वे वीचार (१) स्थिति घात, (२) स्थिति सत्व (३) उदय (४) उदीरणा (५) स्थिति कांडक (६) अनुभागघात (७) स्थिति सत्कर्म या स्थिति संक्रमण (८) अनुभाग सत्कर्म (९) बंध (१० बंधपरिहाणि के भेद से दशविध होते हैं।

सातवें वीचार को चूर्णिकार ने 'ठिदिसतकम्मेण,' शब्द द्वारा स्थिति सत्कर्म नाम दिया है। जयधवलाकार ने उसका नाम स्थिति-संक्रमण भी कहा है 'अथवा ठिदिसंकमेणेत्ति ऐसो सत्तमो वीचारो वत्तव्वो"। ऐसा कथन विरोध रहित है "विरोहाभावादो"। इन वीचारों के नाम अपने अभिधेय को स्वयं सुस्पष्ट रूपसे सूचित करते हैं।

किं वेदेंतो किट्टिं खवेदि किं चावि संछुहंतो वा
संछोहणमुदएण च अणुपुव्वं अणणुपुव्वं वा ॥२१४॥

क्या क्षपक कृष्टियों को वेदन करता हुआ क्षय करता है अथवा संक्रमण करता हुआ क्षय करता है अथवा वेदन और

संक्रमण करता हुआ क्षय करता है ? क्या आनुपूर्वी से या अनानुपूर्वी से कृष्टियों को क्षय करता है ?

पढमं विदियं तदियं वेदेंतो वा वि संछुहंतो वा
चरिमं वेदयमाणो खवेदि उभएण सेसाओ ॥ २१५ ॥

क्रोध की प्रथम, द्वितीय तथा तीसरी कृष्टि को वेदन करता हुआ तथा संक्रमण करता हुआ क्षय करता है। चरम (सूक्ष्म-सांपरायिक कृष्टि) को वेदन करता हुआ ही क्षय करता है। शेष को उभय प्रकार से क्षय करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेष — क्रोध की प्रथम कृष्टि को आदि लेकर एकादशम कृष्टि पर्यन्त वेदन करता हुआ क्षय करता है, अवेदन करता हुआ भी क्षय करता है। कुछ काल पर्यन्त वेदन करते हुए, अवेदन करते हुए भी संक्रमण करते हुए क्षय करता है। इस प्रकार प्रथमादि एकादश कृष्टियों के क्षय की विधि है।

बारहवीं कृष्टि में भिन्नता पाई जाती है। उस चरम कृष्टि को वेदन करता हुआ क्षय करता है। वह संक्रमण करता हुआ क्षय नहीं करता है। शेष कृष्टियों के दो समय कम दो आवली मात्र नवक बद्ध कृष्टियों को चरम कृष्टि में संक्रमण करता हुआ ही क्षय करता है। वेदन करता हुआ नहीं। इस प्रकार अंतिम सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टि को छोड़कर तथा दो समय न्यून आवलीबद्ध कृष्टियों को छोड़कर शेष कृष्टियों को उभय प्रकार से क्षय करता है अर्थात् वेदन करता हुआ एवं संक्रमण करता हुआ क्षय करता है। "वेदेंतो च संछुहंतो च एदमुभयं"। वेदक भाव से तथा संक्रमणभाव से क्षय करता है, यह उभय शब्द का अर्थ जानना चाहिए, "वेदगभावेण संछोहयभावेण च खवेदि त्ति एसो उभय-सद्दस्सत्थो जाणियव्वो त्ति भणियं होइ" (२२३४)

जं वेदेंतो किट्टिं खवेदि किं चावि बंधगो तिस्से ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
जं चावि संछुहंतो तिस्से कि बंधगो होदि ॥ २१६ ॥

कृष्टिवेदक क्षपक जिस कृष्टि का वेदन करता हुआ क्षय करता है क्या वह उसका बंधक भी होता है ? जिस कृष्टि का संक्रमण करता हुआ क्षय करता है, क्या वह उसका बंध भी करता है ?

जं चावि संछुहंतो खवेदि किट्टिं अबंधगो तिस्से ।
सुहुमम्हि संपराए अबंधगो बंधगिदरासि ॥ २१७ ॥

कृष्टिवेदक क्षपक जिस कृष्टि का वेदन करता हुआ क्षय करता है, उसका वह अबंधक होता है । सूक्ष्मसांपरायिक कृष्टि के वेदन काल में वह उसका अबंधक रहता है, किन्तु इतर कृष्टियों के वेदन या क्षपण काल में वह उनका बंधक रहा है ।

विशेष—जिस जिस कृष्टि का क्षय करता है नियम से उसका बंध करता है । दो समय कम दो आवलिबद्ध कृष्टियों में तथा सूक्ष्म-सांपराय कृष्टि के क्षपण काल में उनका बंध नहीं करता है । "जं जं खवेदि किट्टि णियमा तिस्से बंधगो, मोत्तूण दो दो आव-लियबंधे दुसमयूणे सुहुमसांपराय किट्टीओ च" (२२३५)

जं जं खवेदि किट्टिं ट्ठिदि-अणुभागेसु केसुदीरेदि ।
संछुहदि अण्णकिट्टि से काले तासु अण्णासु ॥२१८॥

जिस जिस कृष्टि को क्षय करता है, उस उस कृष्टि की स्थिति और अनुभागों में किस किस प्रकार से उदीरणा करता है । विव-क्षित कृष्टि का अन्य कृष्टि में संक्रमण करता हुआ किस किस प्रकार से स्थिति और अनुभागों से युक्त कृष्टि में संक्रमण करता है ?

विवक्षित समय में जिन स्थिति अनुभाग युक्त कृष्टियों में उदीरणा, संक्रमणादि किए हैं, क्या अनंतर समय में उन्हीं कृष्टियों में उदीरणा संक्रमणादि करता है या अन्य कृष्टियों में करता है ?

विशेष —इस गाथा का स्पष्टीकरण दस भाष्य गाथाओं द्वारा किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बंधो व संकमो वा णियमा सव्वेसु ट्ठिदिविसेसेसु।
सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ ॥२१९॥

विवक्षित कृष्टि का बंध वा संक्रम क्या सर्व स्थिति विशेष में होता है? विवक्षित कृष्टि का जिस कृष्टि में संक्रमण किया जाता है, उसके सर्व अनुभागों में संक्रमण होता है किन्तु उदय मध्यम कृष्टि में जानना चाहिये।

संकामेदि उदीरेदि चावि सव्वेहिं ट्ठिदिविसेसेहिं।
किट्टीए अणुभागे वेदेंतो मज्झिमो णियमा ॥२२०॥

क्या क्षपक सर्व स्थिति विशेषों के द्वारा संक्रमण तथा उदीरणा करता है? कृष्टि के अनुभागों को वेदन करता हुआ वह नियम से मध्यवर्ती अनुभागों का वेदन करता है।

विशेष —उदयावली में प्रविष्ट स्थिति को छोड़कर शेष सर्व स्थितियां संक्रमण को तथा उदीरणा को प्राप्त होती हैं। जिस कृष्टि का वेदन करता है, उसकी मध्यम कृष्टियों की उदीरणा करता है, "आवलियपविट्ठं मोत्तूण सेसाओ सव्वाओ ट्ठिदीओ संकामेदि उदीरेदि च। जं किट्टिं वेदेदि तिस्से मज्झिम किट्टीओ उदीरेदि" (२२४०)

ओकड्डुदि जे अंसे से काले किण्णु ते पवेसेदि ।
ओकड्डिदे च पुव्वं सरिसमसरिसे पवेसेदि ॥ २२१ ॥

जिन कर्मांशों का अपकर्षण करता है क्या अनंतर काल में उनको उदीरणा में प्रवेश करता है ? पूर्व में अपकर्षण किए गए कर्मांशों की अनंतर समय में उदीरणा करता हुआ क्या सदृश को अथवा असदृश को प्रविष्ट करता है ?

विशेष—जितने अनुभागों को एक वर्गणा के रुपसे उदीर्ण करता है, उन सबको 'सदृश' कहा है । जिन अनुभागों को अनेक वर्गणाओं के रुपमें उदीर्ण करता है, उन्हें असदृश कहते हैं । "जदि जे अणुभागे उदीरेदि एक्किस्से वग्गणाए सव्वे ते सरिसा णाम । अध जे उदीरेदि अणेगासु वग्गणासु ते असरिसा णाम" (२२४१)

अनंतर समय में जिन अनुभागों को उदय में प्रविष्ट करता है, उन्हें असदृश ही प्रविष्ट करता है, "एदीए सण्णाए से काले जे पवेसेदि ते असरिसे पवेसेदि ।"

उक्कड्डुदि जे अंसे से काले किण्णु ते पवेसेदि ।
उक्कड्डिदे च पुव्वं सरिसमसरिसे पवेसेदि ॥ २२२ ॥

जिन कर्मांशों का उत्कर्षण करता है, क्या अनंतरकाल में उनको उदीरणा में प्रवेश करता ? पूर्व में उत्कर्षण किए गए कर्मांश को अनंतर समय में उदीरणा करता हुआ क्या सदृश रुपसे या असदृश रुप से प्रविष्ट करता है ?

बंधो व संकमो वा तह उदयो वा पदेस-अणुभागे ।
बहुगत्तो थोवत्तो जहेव पुव्वं तहेवेण्हिं ॥ २२३ ॥

कृष्टिकारक के प्रदेश तथा अनुभाग संबंधी बंध, संक्रमण अथवा उदय के बहुत्व तथा स्तोक की अपेक्षा जिस प्रकार

पूर्व निर्णय किया गया है, इसी प्रकार यहां भी निर्णय करना चाहिये ।

जो कम्मंसो पविसदि पओगसा तेण णियमसा अहिओ ।
पविसदि ठिदिक्खएण दु गुणेण गणणादियंतेण ॥२२४॥

/ जो कर्मांश प्रयोग के द्वारा उदयावलीमें प्रविष्ट किया जाता जाता है, उसकी अपेक्षा स्थिति क्षय से जो कर्मांश उदयावली में प्रविष्ट होता है, वह नियमसे असंख्यातगुणित रूपसे अधिक होता है । मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आवलियं च पविट्ठं पओगसा णियमसा च उदयादी ।
उदयादिपदेसग्गं गुणेण गणणादियंतेण ॥२२५॥

/ कृष्टिवेदक क्षपक के प्रयोग द्वारा उदयावली में प्रविष्ट प्रदेशाग्र नियमसे उदयसे लगाकर आगे आवली पर्यन्त असंख्यात गुणित श्रेणी रूप में पाया जाता है ।

/ **विशेष**—क्षपक उदयावली में प्रविष्ट जो पदेशाग्र पाया जाता है, वह उदयकाल के प्रथम समय में स्तोक है । द्वितीय स्थिति में असंख्यात गुणा है । इस प्रकार संपूर्ण आवली के अंतिम समय पर्यन्त असंख्यात गुण श्रेणी रूप से वृद्धिगत प्रदेशाग्र पाए जाते हैं । "जमावलियपविट्ठं पदेसग्गं तमुदए थोवं । बिदियट्ठिदीए असंखेज्जगुणं । एवमसंखेज्ज–गुणाए सेढीए जाव सव्विस्से आव-लियाए" । (२२४७)

जा वग्गणा उदीरेदि अणंता तासु संकमदि एक्का ।
पुव्वपविट्ठा णियमा एक्किस्से होंति च अणंता ॥२२६॥

/ जिन अनंत वर्गणाओं को उदीर्ण करता है, उनमें एक अनु-दीर्यमाण कृष्टि संक्रमण करती है । जो उदयावली में प्रविष्ट अनंत अवेद्यमान वर्गणाएं (कृष्टियां) हैं, वे एक एक वेद्यमान मध्यम कृष्टि के स्वरूप से नियमतः परिणत होती हैं ।

विशेष—जो संग्रह कृष्टि उदीर्ण हुई है, उसके ऊपर भी कृष्टियों का असंख्यातवां भाग और नीचे भी कृष्टियों का असंख्यातवां भाग अनुदीर्ण रहता है। विवक्षित कृष्टियों के मध्यभाग में कृष्टियों का असंख्यात बहुभाग उदीर्ण होता है। उनमें जो अनुदीर्ण कृष्टियां हैं, उनमें से एक एक कृष्टि सर्व उदीर्ण कृष्टियों पर संक्रमण करती है।

प्रश्न—एक एक उदीर्ण कृष्टि पर कितनी कृष्टियां संक्रमण करती हैं ?

समाधान—जितनी कृष्टियां उदयावली में प्रविष्ट होकर उदयसे अध:स्थिति-गलनरूप विपाक को प्राप्त होती हैं, वे सब एक एक उदीर्ण कृष्टि पर संक्रमण करती हैं।

जे चावि य अणुभागा उदीरिदा णियमसा पओगेण।
तेयप्पा अणुभागा पुव्वपविट्ठा परिणमंति ॥२२७॥

जितनी अनुभाग कृष्टियां प्रयोग द्वारा नियमसे उदीर्ण की जाती हैं, उतनी ही उदयावली प्रविष्ट अनुभाग कृष्टियां परिणत होती हैं।

पच्छिम-आवलियाए समयूणाए दु जे य अणुभागा।
उक्कस्स-हेट्ठिमा मज्झिमासु णियमा परिणमंति ॥२२८॥

एक समय न्यून पश्चिम आवलीमें जो उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग स्वरूप कृष्टियां हैं, वे मध्यमवर्ती बहुभाग कृष्टियोंमें नियमसे परिणमित होती हैं।

शंका—"पच्छिम-आवलिया त्ति का सण्णा ?"—पश्चिम आवली इस संज्ञा का क्या भाव है ?

समाधान—"जा उदयावलिया सा पच्छिमावलिया"—जो उदयावली है, उसे ही पश्चिमावली कहते हैं।

किट्टीदो किट्टिं पुण संकमदि खयेण किं पयोगेण।
किं सेसगम्हि किट्टीय संकमो होदि अण्णिस्से ॥२२९॥

एक कृष्टिसे दूसरी को वेदन करता हुआ क्षपक पूर्व वेदित कृष्टि के शेषांश को क्षय से संक्रमण करता है अथवा प्रयोग द्वारा संक्रमण करता है ? पूर्ववेदित कृष्टि के कितने अंश रहने पर अन्य कृष्टि में संक्रमण होता है ?

विशेष— 'एदिस्से बे भासगाहाओ'— इसकी दो भाष्य गाथाएँ हैं ।

किट्टीदो किट्टिं पुण संकमदे णियमसा पओगेण ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
किट्टीए सेसगं पुण दो आवलियासु जं बद्धं ॥२३०॥

एक कृष्टि के वेदित शेष प्रदेशाग्र को अन्य कृष्टि में संक्रमण करता हुआ नियम से प्रयोग द्वारा संक्रमण करता है। दो समय कम दो आवलियों में बंधा द्रव्य कृष्टि के वेदित–शेष प्रदेशाग्र प्रमाण है ।

विशेष—[१] जिस संग्रह कृष्टि को वेदन कर उससे अनंतर समय में अन्य संग्रह कृष्टि को प्रवेदन करता है, तब उस पूर्व समय में वेदित संग्रहकृष्टि के जो दो समय कम आवलीबद्ध नवक समयप्रबद्ध हैं, वे तथा उदयावलि में प्रविष्ट प्रदेशाग्र प्रयोग से वर्तमान समय में वेदन की जानेवाली संग्रहकृष्टि में संक्रमित होते हैं ।

---

[१] जं संगहकिट्टिं वेदेदूण तदो सेकाले अण्णं संगहकिट्टिं पवेदयदि। तदो तिस्से पुव्वसमयवेदिदाए संगहकिट्टीए जे दो आवलियबंधा दुसमयूणा आवलिय–पविट्ठा च अस्सिं समए वेदिज्जमाणिगाए संग्रहकिट्टीए पओगसा संकमंति (२२५३)

श्री चंद्रप्रभु
दिगंबर जैन पाठशाला
खामगांव जि. बुलडाणा

समयूणा च पविट्ठा आवलिया होदि पढमकिट्टीए ।
पुण्णा जं वेदयदे एवं दो संकमे होंति ॥ २३१ ॥

एक समय कम आवली उदयावली के भीतर प्रविष्ट होती है मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज और जिस संग्रह कृष्टि का अपकर्षण कर इस समय वेदन करता है उस समय कृष्टि की संपूर्ण आवली प्रविष्ट होती है। इस प्रकार संक्रमणमें दो आवली होती हैं।

विशेष—अन्य कृष्टि के संक्रामण क्षपक के पूर्व वेदित कृष्टि की एक समय कम उदयावली और वेद्यमान कृष्टि की परिपूर्ण उदयावली इस प्रकार कृष्टिवेदक के उत्कर्ष से दो आवलियां पाई जाती हैं। वे दोनों आवलियां भी एक कृष्टि से दूसरी कृष्टि को संक्रमण करने वाले क्षपक के तदनंतर समय में एक उदयावली रुप रह जाती हैं।

खीणेसु कसाएसु य सेसाणं के व होंति वीचारा ।
खवणा व अखवणा वा बंधोदयणिज्जरा वापि ॥ २३२ ॥

कषायों के क्षीण होने पर शेष ज्ञानावरणादि कर्मों के कौन कौन क्रिया-विशेषरूप वीचार होते हैं? क्षपणा, अक्षपणा, बन्ध, उदय तथा निर्जरा किन किन कर्मों की कैसी होती है?

संकामणमोवट्टण-किट्टीखवणाए खीणमोहंते ।
खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स ॥ २३३ ॥

मोहनीय के क्षीण होने पर्यन्त मोहनीय की संक्रमणा, अपवर्तना तथा कृष्टि क्षपणा रूप क्षपणाएं आनुपूर्वी से जानना चाहिये।

विशेष—इस गाथा के द्वारा चरित्रमोहकी क्षपणा का विधान आनुपूर्वी से किया है। इससे इसे संग्रहणी गाथा कहा है। "संखेवेण परुवणा संगहोणाम"—संक्षेप से "प्ररूपणा को संग्रह कहते हैं। (२२६८)

मोहनीय के क्षय के अनंतर अनंत केवलज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्ययुक्त होकर जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते हैं। उन्हें सयोगी जिन कहते हैं। वे असंख्यातगुणश्रेणीसे कर्म प्रदेशाग्र की निर्जरा करते हुए विहार करते हैं। "तदो अणंतकेवलणाण-दंसण-वीरियजुत्तो जिणो केवली सव्वण्हू सव्वदरिसी भवदि सजोगिजिणो त्ति भण्णइ। असंखेज्जाए सेढीए पदेसग्गं णिज्जरेमाणो विहरदि त्ति"। (२२६८, २२७१)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—मोह का क्षय हो जाने पर के विहार का क्या प्रयोजन है?

१ **समाधान**—वे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए यथोचित धर्म-क्षेत्र में महान विभूति पूर्वक देवों तथा असुरों से समन्वित हो विहार करते हैं। उनके विहार कार्य में प्रशस्त विहायोगति नाम कर्म भी अपेक्षा रहती है। ऐसा वस्तु स्वभाव है।

पंच भरत, पंच ऐरावत तथा प्रत्येक भरत, ऐरावत क्षेत्र संबंधी बत्तीस बत्तीस विदेह संबंधी एक सौ साठ धर्मक्षेत्र कुल मिलाकर एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्र होते हैं। उनमें सर्वत्र यदि तीर्थंकर भगवान उत्पन्न हों, तो एक सौ सत्तर तीर्थंकर अधिक से अधिक होते हैं। हरिवंशपुराणकार ने कहा है :—

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु सप्तति-शतात्मके।
धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२-२७॥

अढाई द्वीपमें एकसौ सत्तर धर्मक्षेत्र हैं। उनमें त्रिकालवर्ती जिन भगवान आदि को बार बार नमस्कार है।

---

१ धर्मतीर्थप्रवर्तनाय यथोचिते धर्मक्षेत्रे देवासुरानुयातो महत्या विभूत्या विहरति, प्रशस्तविहायोगतिसव्यपेक्षात्तत्स्वाभाव्यात्(२२७१)

१ केवली भगवान अभिसंधि के बिना भी लोक सुखकारी विहार (तित्थयरस्स विहारो लोयसुहो) करते हैं। जैसे कल्पवृक्ष स्वभाव से दूसरे को इष्ट पदार्थ प्रदान करने की शक्तियुक्त रहता है अथवा जैसे दीपक कृपावश नहीं किन्तु स्वभाववश दूसरे पदार्थों का तथा स्वयं का अंधकार दूर करता है, ऐसा ही कार्य भगवान के इच्छा के क्षय होने पर भी स्वभाव से होता है। २ योग की अचिंत्यशक्ति के प्रभाव से प्रभु भूमि का स्पर्श न कर गगनतल में बिना प्रयत्न विशेष के विहार करते हैं। उस समय भक्तिप्रेरित सुरगण चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते जाते हैं।

केवली भगवान का विहार किंचित् उन पूर्वकोटि वर्ष काल पर्यन्त होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

---

१ अभिसंधिविरहेपि कल्पतरुवदस्य परार्थसंपादन-सामर्थ्योपपत्तेः। प्रदीपवद्वा। न वै प्रदीपः कृपालुस्तथात्मानं परं वा तमसो निवर्तयति, किन्तु तत्स्वाभाव्यादेवेति न किंचित् व्याहन्यते।

२ स पुनरस्य विहारातिशयो भूमिमस्पृशत एवं गगनतले भक्ति-प्रेरितामरगणविनिर्मितेषु कनकाम्बुजेषु प्रयत्नविशेषमन्तरेणापि स्वमाहात्म्यातिशयात्प्रवर्तत इति प्रत्येतव्यं। योगिशक्तीनाम-चिन्त्यत्वादिति। (२२७२)

क्षपणाधिकार चूलिका

अण मिच्छ मिस्स सम्मं अट्ठ णवुंसित्थि-वेद छक्कं च।
पुंवेदं च खवेदि हु कोहादीए च संजलणे ॥ १ ॥

अनंतानुबंधी-चतुष्क, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों को क्षपक श्रेणी चढ़ने के पूर्व ही क्षपण करता है। पश्चात् क्षपक श्रेणी चढ़ने के समय में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अंतरकरण से पूर्व ही आठ मध्यम कषायों का क्षपण करता है। इसके अनंतर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नोकषाय तथा पुरुषवेद का क्षय करता है। इसके पश्चात् संज्वलन क्रोधादि का क्षय करता है।

विशेष—धवला टीका के प्रथम खंड में लिखा है, "कसाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ठकसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस-कम्माणि खविज्जंति त्ति"—कषायपाहुड का उपदेश इस प्रकार है, कि आठ कषायों के क्षय होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर सोलह प्रकृतियों का क्षय होता है (ध. टी. भा. १, पृ. २१७)

सत्कर्मप्राभृत का अभिप्राय इससे भिन्न है। "सोलसपयडीओ खवेदि तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-कोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि एसो "संतकम्मपाहुड-उवएसो"—सोलह प्रकृतियों का पहले क्षय करता है। इनके अनंतर अंत-र्मुहूर्तकाल व्यतीत होने पर प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ को अक्रमरूप से क्षय करता है। (१)

---

१ षोडशानां कर्म प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसांपरायस्थाने युगपत् क्षयः क्रियते। ततः परं तत्रैव कषायाष्टकं नष्टं क्रियते॥ सर्वार्थसिद्धिः पृ. २३७ अ. १०, सूत्र २

शंका—इस प्रकार महान आचार्यों के कथन में विरोध होने से आचार्य कथित सत्कर्म और कषायप्राभृतों को सूत्रपना कैसे प्राप्त होगा ?

समाधान—जिनकी गणधरदेव ने ग्रन्थ रूप में रचना की, ऐसे बारह अंग आचार्य परंपरा से निरंतर चले आ रहे हैं, किन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते जा रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देख [illegible] पापभीरु थे और जिन्होंने गुरुपरंपरा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था, उन आचार्यों ने तीर्थ-विच्छेद के भय से उस समय शेष बचे अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतः उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता। (१)

शंका—उन दोनों प्रकार के वचनों में किस वचन को सत्य माना जाय ?

उत्तर—(२) इस बात को केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नहीं जान सकता। इसका निर्णय इस समय संभव नहीं है, अतः पापभीरु वर्तमान के आचार्यों को दोनों का संग्रह करना चाहिए। ऐसा न करने पर पाप-भीरुता का विनाश हो जायगा।

---

१ तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेवकयगंथ-रयणाणं बारहंगाणं आइरिय-परंपराए णिरंतरमागयाणं जुगसहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणा-भावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठुबुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थवोच्छेदभयेण वज्जभीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तं ण विरोहादो (ध. टी. भा. १, पृ २२१)

२ दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणादि। ण अण्णो तहा णिण्णयाभावादो। वट्टमाण-कालाइरिएहि वज्जभीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति (पृ. २२२)

अथ थीणगिद्धकम्मं णिद्दाणिद्दा य पयलपयला य।
अथ णिरय-तिरियणामा झीणा संछोहणादीसु ॥ २ ॥

अथ मध्यम कषायों के क्षय के पश्चात् स्त्यानगृद्धिकर्म, निद्रा निद्रा, प्रचलाप्रचला, नरक गति तथा तिर्यंचगति संबंधी नामकर्म की त्रयोदश प्रकृति का संक्रमणादि करते हुए क्षय करता है।

विशेष—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, उद्योत, आताप, एकेन्द्रिय जाति, साधारण, सूक्ष्म तथा स्थावर ये त्रयोदश नाम कर्म सम्बन्धी प्रकृतियां हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वीय संकमो होई।
लोभकसाए णियमा असंकमो होई ॥ ३ ॥

मोहनीय की सर्व प्रकृतियों का आनुपूर्वी से संक्रमण होता है। लोभ कषाय का संक्रमण नहीं होता है, ऐसा नियम है।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णवुंसयं चेव।
सत्तेव णोकसाए णियमा कोधम्हि संछुहदि ॥४॥

वह क्षपक स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेदका पुरुषवेद में संक्रमण करता है। पुरुषवेद तथा हास्यादि छह नोकषायोंका नियमसे क्रोध में संक्रमण करता है।

कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ।
मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥५॥

संज्वलन क्रोधका मानमें, मानका मायामें तथा मायाका लोभमें नियमसे संक्रमण करता है। इनका प्रतिलोम (विपरीत क्रमसे) संक्रमण नहीं होता।

श्री चंद्रप्रभु
दिगम्बर जैन पाठशाला
सामगांव जि. बुलडाणा

जो जम्हि संछुहंतो णियमा बंधम्हि होइ संछुहणा।
बंधेण हीणदरगे अहिए वा संकमो णत्थि ॥६॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो जिस बंधनेवाली प्रकृतिमें संक्रमण करता है, वह नियमसे बंध सदृश ही प्रकृतिमें संक्रमण करता है अथवा बंधकी अपेक्षा हीनतर स्थितियुक्त प्रकृतिमें संक्रमण करता है, किन्तु बंधकी अपेक्षा अधिक स्थितिवाली प्रकृतिमें संक्रमण नहीं होता है।

बंधेण होइ उदयो अहियो उदएण संकमो अहियो।
गुणसेढि अणंतगुणा बोद्धव्वा होइ अणुभागे ॥७॥

बंध से उदय अधिक होता है। उदय से संक्रमण अधिक होता है। अनुभाग के विषय में गुणश्रेणि अनंतगुणी जानना चाहिये।

बंधेण होई उदयो अहियो उदएण संकमो अहिओ।
गुणसेढि असंखेज्जा च पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥ ८ ॥

बंध से उदय अधिक होता है। उदय से संक्रमण अधिक होता है। इस प्रकार प्रदेशाग्रकी अपेक्षा गुणश्रेणी असंख्यातगुणी जानना चाहिये।

विशेष—किसी प्रकृति के प्रदेशबंध से उसके प्रदेशों का उदय असंख्यात गुणा अधिक होता है। प्रदेशों के उदय की अपेक्षा प्रदेशों का संक्रमण और भी असंख्यात गुणा अधिक होता है।

उदयो च अणंतगुणो संपहि-बंधेण होइ अणुभागे।
से काले उदयादो संपहि-बंधो अणंतगुणो ॥ ९ ॥

अनुभाग की अपेक्षा सांप्रतिक बंध से सांप्रतिक उदय अनंतगुणा है। इसके अनंतरकालमें होने वाले उदय से सांप्रतिक बंध अनंतगुणा है।

चरिमे बादरराGे णामागोदाणि वेदणीयं च ।
वस्सस्संतो बंधदि दिवसस्संतो य जं सेसं ॥ १० ॥

चरम समयवर्ती बादरसांपरायिक क्षपक नाम, गोत्र, एवं
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
वेदनीय को वर्ष के अंतर्गत बांधता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन घातिया कर्मों को एक दिवस के अन्तर्गत बांधता है।

जं चावि संछुहंतो खवेइ किट्टिं अबंधगो तिस्से ।
सुहुमम्हि संपराए अबंधगो बंधगियराणं ॥ ११ ॥

जिस कृष्टि को भी संक्रमण करता हुआ क्षय करता है, उसका वह बंध नहीं करता है। सूक्ष्मसांपरायिक कृष्टि के वेदनकालमें वह उसका अबंधक रहता है। किन्तु इतर कृष्टियों के वेदन या क्षपण काल में वह उनका बंध करता है।

जाव ण छदुमत्थादो तिण्हं घादीण वेदगो होइ ।
अधऽणंतेरणं खइया सव्वण्हू सव्वदरिसी य ॥ १२ ॥

जब तक वह छद्मस्थ रहता है, तब तक ज्ञानावरणादि घातिया त्रयका वेदक रहता है। इसके अनंतर क्षण में उनका क्षय करके सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनता है।

विशेष—मोहनीय के क्षय होने पर क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त होता है। वह जीव घातिया त्रय का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। तत्वार्थसूत्र में कहा है "मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" (१०–१)। केवलज्ञान सूर्य का उदय होने के लिए सर्व प्रथम मोक्ष क्षय को अनिवार्य माना है, उसके होने के अनंतर ही शेष घातिया क्षय को प्राप्त होते हैं।

एकत्व वितर्क अवीचार नामके शुक्लध्यान रूप अग्नि के प्रज्वलित होने पर क्षीणकषाय गुणस्थानवाला यथाख्यात संयमी छद्मस्थ घातिया त्रय रूप वन को भस्म करता है

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा छद्मस्थपर्याय से निकलकर क्षायिक लब्धि को प्राप्त कर लोक अलोक के समस्त पदार्थों का साक्षात् कारी ज्ञान वाला सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनता है। वे केवली भगवान धर्म तत्व की देशना द्वारा भव्य जीवों को श्रेयोमार्ग का दिव्यध्वनि के द्वारा देशोन एक कोटिपूर्व काल पर्यन्त उपदेश देते हैं। १

---

१ यावत्खलु छद्मस्थपर्यायान्न निष्क्रामति तावत् त्रयाणां घातिकर्मणां ज्ञानदृगावरणान्तरायसंज्ञितानां नियमाद्वेदको भवति, अन्यथा छद्मस्थभावानुपपत्तेः। अथानंतरसमये द्वितीयशुक्लध्यानाग्निना निर्दग्धाशेष--घातिकर्मद्रुमगहनः छद्मस्थपर्यायान्निष्क्रान्तस्वरूपः क्षायिकीं लब्धिमवाप्य सर्वज्ञः सर्वदर्शी च भूत्वा विहरतीत्ययमत्र गाथार्थसंग्रह (२२७५)

एवमेकत्ववितर्क--शुक्लध्यान-वैश्वानर-निर्दग्धघाति-कर्मेन्धनः प्रज्वलित-केवलज्ञान-गभस्तिमण्डलो मेघपंजर-निरोध-निर्गत इव घर्मरश्मिर्वा भासमानो भगवांस्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुषः पूर्व-कोटीं देशोनां विहरति ॥ सर्वार्थसिद्धि पृ. २३१ अ. ९ सूत्र ४४

पश्चिम स्कन्धाधिकार

द्वादशांग रूप जिनागम के अंतर्गत महाकम्मपयडि-पाहुड है। उस परमागम के चतुर्विंशति अनुयोग द्वारों में पश्चिम स्कंध नामका अंतिम अनुयोग द्वार है।

प्रश्न—"महाकम्मपयडि–पाहुडस्स चउवीसाणियोगद्दारेसु पडिबद्धो एसो पच्छिमक्खंधाहियारो कथमेत्थ कसायपाहुडे परु–विज्जदि त्ति ण संका कायव्वा"—महाकर्म प्रकृति प्राभृत के चौबीस अनुयोग द्वारों से प्रतिबद्ध यह पश्चिम स्कन्ध नामका अधिकार यहां कषाय पाहुड में किस कारण कहा गया है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—इस पश्चिम स्कन्ध अधिकार को महाकर्म प्रकृति प्राभृत तथा कषायपाहुड से प्रतिबद्ध मानने में कोई दोष नहीं आता है "उहयत्थ वि तस्स पडिबध्दत्तब्भुवगमे वाहाणुवलंभादो" यह अधिकार "समस्त–श्रुतकन्धस्य चूलिकाभावेन व्यवस्थितः" संपूर्ण श्रुतस्कन्ध की चूलिका रूप से व्यवस्थित है।

पश्चिम स्कन्ध की व्युत्पत्ति इस प्रकार है "पश्चिमाद्भवः पश्चिमः" पश्चात्-उत्पन्न होने वाला पश्चिम है। "पश्चिमश्चासौ स्कन्धश्च पश्चिमस्कन्धः" पश्चिम जो स्कन्ध है, उसे पश्चिम स्कन्ध कहते हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने के उपरान्त जो अघाति चतुष्क रूप कर्मस्कन्ध पाया जाता है, वह पश्चिम स्कन्ध है। "खीणेसु घादिकम्मेसु जो पच्छा समुवलब्भइ कम्मक्खंधो अघाइचउक्कसरुवो सो पच्छिमक्खंधो त्ति भण्णदे" अथवा अंतिम औदारिक, तैजस तथा कार्माण शरीर रूप नोस्कन्धयुक्त जो कर्मस्कन्ध है, उसे पश्चिम स्कन्ध जानना चाहिये।

इस अधिकार में केवली समुद्घात, योगनिरोध आदि का निरुपण किया गया है।

श्री ...प्रभु
दि... जैन पाठशाला
... बुढ़ाणा

अघातिया कर्मों की क्षपणा के बिना क्षपणाधिकार पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है। इस कारण क्षपणाधिकार से संबंधित होने से चूलिका रूप से यह पश्चिम स्कन्धाधिकार कहा है।

आयु के अंतर्मुहूर्त शेष रहने पर सयोगकेवली आवर्जित करण करने के उपरान्त केवलि-समुद्घात करते हैं "अंतोमुहुत्तगे आउगे ऐसे तदो आवज्जिदकरणे कदे तदो केवलिसमुग्घादं करेदि" (२२७७) केवली समुद्घात के लिए की गई आवश्यक क्रिया आवर्जित करण है। "केवलिसमुग्घादस्स अहिमुखी भावो आवज्जिदकरणमिदि भण्णदे"। अंतर्मुहूर्त पर्यन्त आवर्जितकरण के बिना आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज केवलि समुद्धात क्रिया के प्रति अभिमुखपना नहीं होता है। इस करण के पश्चात् केवली अघातिया कर्मों की स्थिति के समीकरणार्थ समुद्घात क्रिया करते हैं।

शंका—"को केवलिसमुग्घादोणाम"? केवलिसमुद्धात किसे कहते हैं?

समाधान—"उद्गमनमुद्घातः जीवप्रदेशानां विसर्पणम्" जीव के प्रदेशों का विस्तार उद्गमन को उद्घात कहते हैं। "समीचीन उद्घातः समुद्घातः। केवलिनां समुद्घातः केवलिसमुद्घातः"। समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं। केवलियों का समुद्घात केवलि समुद्घात है। "अघातिकर्म-स्थिति-समीकरणार्थं केवलि-जीवप्रदेश... समयाविरोधेन उर्ध्वमधस्तिर्यक् विसर्पणं केवलि-समुद्घातः"। अघातिया कर्मों की स्थितियों में समानता की प्रतिष्ठापना हेतु केवली की आत्मा के प्रदेशों का आगम के अविरोध रूप से उर्ध्व, अधः तथा तिर्यक् रूप से विस्तार केवली समुद्घात है। यह केवली समुद्घात दंड, कवाट, प्रतर तथा लोकपूरण के भेद से चार अवस्था रूप है।

"पढम समए दंडं करेदि"—"वे प्रथम समय में दंड समुद्घात को करते हैं। सयोगी जिन पद्मासन से अथवा खड्गासन से पूर्व अथवा

दिशा मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर यह समुद्घात करते हैं। इसे खड्गासन से करने पर इसमें आत्म प्रदेश मूल शरीर प्रमाण विस्तार युक्त रहते हैं तथा वातवलय से न्यून चौदह राजू प्रमाण आयत दंडाकृति होते हैं। पद्मासन से इस समुद्घात को करने पर दंडाकार प्रदेशों का बाहुल्य मूलशरीर बाहुल्य से तिगुना रहता है। "पलियंकासपोण समुहदस्स मूलशरीर-परिट्ठयादो दंडसमुग्घाद-परिट्ठओ तत्थ तिगुणो होदि"। इस समुद्घात में औदारिक काय-योग होता है। यहां अघातिया कर्मों की पल्योपम के असंख्यातवें भाग स्थिति के बहुभागों का घात होता है। यह कार्य आयु को छोड़ अघातियात्रय के विषय में होता है। क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्त में जो अनुभाग शेष बचा था, उसमें से अप्रशस्त अनुभाग के भी बहुभाग का घात करता है।

"तदो बिदियसमए कवाडं करेदि"—तदनंतर दूसरे समय में कपाट समुद्घात करते हैं। इसमें अघातिया की शेष स्थिति के असंख्यात बहुभागों का घात करते हैं। शेष बचे अप्रशस्त अनुभाग के अनंत बहुभागों का घात करते हैं।

leaf of a folding door.

जिस प्रकार कपाट का बाहुल्य अल्प रहता है, किन्तु विष्कंभ और आयाम अधिक रहते हैं, इसी प्रकार कपाट समुद्घात में केवली के आत्म प्रदेश वातवलयसे कम चौदह राजू लम्बे और सात राजू चौड़े हो जाते हैं। यह बाहुल्य खड्गासन युक्त केवली का है। पद्मासन में केवली के शरीर के बाहुल्य से तिगुना प्रमाण होता है। जो पूर्वमुख हो समुद्घात करते हैं, उनका विस्तार दक्षिण और उत्तर में सातराजू रहता है, किन्तु जिनका मुख उत्तर की ओर रहता है, उनका विस्तार पूर्व और पश्चिम में लोक के विस्तार के समान हीनाधिक रहता है। इस अवस्था में औदारिक मिश्र काययोग कहा गया है।

प्रश्न—यहां औदारिक मिश्रकाययोग क्यों कहा है ?

समाधान—"कार्मणौदारिकशरीरद्वयावष्टम्भेन तत्र जीव-प्रदेशानां परिस्पंदपर्यायोपलंभात्"—यहां कार्माण तथा औदारिकशरीर द्वय के अवलंबन से जीवके प्रदेशों में परिस्पंद पर्याय उत्पन्न होती है।

"तदो तदियसमये मंथं करोति"—तीसरे समय में केवली भगवान मंथन नामका समुद्घात करते हैं। स्थिति और अनुभाग की पूर्ववत् निर्जरा होती है। इसको प्रतर तथा रुजक समुद्घात भी कहते हैं "एदस्स चेव पदरसण्णा रुजगसण्णा च आगमरुढिबलेण दट्ठव्वा" यह दो नाम आगम तथा रुढिवश कहे गए हैं। इस अवस्था में "कम्मइयकायजोगी अणाहारी च जायदे"—कार्माण काययोगी तथा अनाहारक होते हैं।

इस समुद्घात में आत्मप्रदेश प्रतर रुप से चारों ओर फैल जाते हैं अर्थात् वातवलय द्वारा रुद्ध क्षेत्र को छोड़कर समस्त लोक में व्याप्त होते हैं। यहां उत्तर या पूर्व मुख होने रुभेद नहीं पड़ता है।

यहां मूल औदारिक शरीर के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन नहीं होता है। उस शरीर के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का आगमन भी नहीं होता है।

"तदो चउत्थसमये लोगं पूरेदि"—वे चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। वे वातवलयरुद्ध क्षेत्र में भी व्याप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में जीव के नाभि के नीचे के आठ मध्यम प्रदेश सुमेरु के मूलगत आठ मध्यम प्रदेशों के साथ एकत्र होकर उपस्थित रहते हैं। यहां कार्माण काययोग तथा अनाहारक अवस्था होती है।

महावाचक आर्यमंक्षु श्रमण के उपदेशानुसार यहां आयु आदि चारों कर्मों की स्थिति बराबर हो जाती है। महावाचक नाग हस्ति श्रमण के अनुसार शेष तीन कर्मों की तथा आयु की स्थिति

अंतमुहुर्त होते हुए भी आयु की अपेक्षा तीन कर्मों की स्थिति संख्यातगुणित होती है । [illegible] :- [illegible]गर जी महाराज कहते हैं "संखेज्जगुणमाउआदो"--नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु की अपेक्षा संख्यात गुणी होती है । ।

पंचम समय में आत्म–प्रदेश संकुचित होकर प्रतर रूप होते हैं। इस प्रतर का नाम मंथन अर्थ–विशेष युक्त है, "मथ्यतेऽनेन-कर्मेति मंथः," (२२८०) इसके द्वारा कर्मों को मंथित किया जाता है, इससे इसे मंथ कहा गया है। छठवें समय में कपाट सातवें में दण्ड तथा आठवें समय में आत्मप्रदेश पूर्व शरीर रूप हो जाते हैं। जयधवला में उपरोक्त कथन को खुलासा करने वाले ये पद्य दिए हैं।

* दण्डं प्रथमे समये कवाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मंथानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मंथानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके च कपाटं संहरति ततोष्टमे दण्डं ॥

कोई कोई आचार्य समुद्घात संकोच के तीन समय मानते हैं। वे अंतिम समय की परिगणना नहीं करते। कितने ही आचार्य अंतिम समय को मिलाकर संकोच के चार समय कहते हैं।

१ धवलाटीका में लिखा है कि यतिवृषभ आचार्य के कथनानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया

---

१ यतिवृषभोपदेशात् सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निर्वृत्तिमुपढौकन्ते। येषामाचार्याणां लोकव्यापी केवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषांमतेन केचित् समुद्घातयंति । केचिन्नसमुद्घातयंति ।

के न समुद्घातयंति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना ते न समुद्घातयन्ति। शेषाः समुद्घातयंति। ध०टी०भा० १पृ० ३०२

कर्मों की स्थिति समान नहीं पाई जाती है। इस कारण सभी केवली समुद्घात करते हैं। जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की संख्या नियमसे बीस कही है, उनके मतानुसार कोई समुद्घात करते हैं, कोई नहीं करते हैं।

शंका—कौन केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान—जिनकी संसार-व्यक्ति (संसार में रहने का काल) वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति के समान है, वे समुद्घात नहीं करते हैं। शेष केवली करते हैं।

समुद्घात क्रिया के पश्चात् अंतर्मुहूर्त पर्यन्त स्थिति कांडक, अनुभागकांडक का उत्कीरणकाल प्रवर्तमान रहता है। केवली के स्वस्थान समवस्थित हो जाने पर वे अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त योगनिरोध की तैयारी करते हैं। इस समय अनेक स्थिति कांडक तथा अनुभागकांडक घात व्यतीत होते हैं। अंतर्मुहूर्त काल के पश्चात् वे सयोगी जिन बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करते हैं। तदनतर अंतर्मुहूर्त के बाद बादर काययोग से बादर वचन योग का निरोध करते हैं। पुन: अंतर्मुहूर्त के बाद बादर काययोगसे बादर उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करते हैं। फिर अंतर्मुहूर्त के बाद बादर काययोगसे उस बादरकाययोग का निरोध करते हैं, "तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण तमेव बादरकायजोगं णिरुंभइ" (२२८३)

फिर अंतमुंहूर्त के बाद सूक्ष्मकाय योग से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। फिर अंतमुंहूर्त के पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन योग का निरोध करते हैं। फिर अंतमुंहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करते हैं। "तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमकायजोगं निरुंभमाणो इमाणि करणाणि करेदि"—तदनंतर अंतमुंहूर्त काल के बाद बादर

सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्मकाययोग का निरोध करते हैं तथा इन करणों को करते हैं। इनमें अपूर्व स्पर्धकादि की रचना होती है। इसके बाद वे कृष्टियों को करते हैं। कृष्टिकरण के पूर्ण होने पर पूर्व-अपूर्व स्पर्धकों का क्षय करते हैं। उस समय अंतर्मुहूर्त पर्यन्त कृष्टिगत योगयुक्त होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उस समय वे सयोगी जिन तृतीय शुक्लध्यान-सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति को ध्याते हैं। तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का क्षय करते हैं।

इस प्रकार योगनिरोध होने पर सब कर्म आयु की स्थिति के समान हो जाते हैं। वे अयोग केवली हो जाते हैं। उनके चौरासी लाख उत्तरगुण पूर्ण होते हैं तथा वे अठारह हजार भेदयुक्त शील के ईशपने को प्राप्त होते हैं।

शंका—अयोगी जिनको 'शीलेश' कहने का क्या कारण है? सयोगी जिनमें संपूर्ण गुण तथा शील प्रकट हो जाते हैं, "सकलगुण-शीलभारस्याविकल-स्वरुपेणाविर्भावः" (२२९२)

समाधान—अयोगी जिनके सपूर्ण आस्रव का निरोध हो गया है; इससे उन्हें शीलेश कहा है। सयोगी जिन के योगास्रव होता है। अतः सर्व कर्मों की निर्जरा है फल जिसका ऐसा पूर्ण संवर नहीं होता है—"योगास्रवमात्रसत्वापेक्षया सकलसंवरो निःशेषकर्मनिर्जरैकफलो न समुत्पन्नः"। इस कारण अयोगी जिन 'शीलेश' कहे गए हैं।

प्रश्न—अंतर्मुहूर्त पर्यन्त वे अयोगीजिन लेश्या रहित हो शील के ईश्वरपने का अनुपालन करते हैं। उस समय "भगवत्ययोगि-केवलिनि कीदृशो ध्यानपरिणामः? अयोग केवली भगवान के ध्यान का परिणाम किस प्रकार होता है?

समाधान—उस समय वे समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। "समुच्छिण्णकिरियमणियट्टि-सुक्कज्झाणं झायदि"

तत्वार्थसूत्र में इस ध्यान का नाम व्युपरतक्रिया निवृत्ति दिया गया है। ध्यान का लक्षण एकाग्र–चिन्ता –निरोध यहां घटित नहीं होता, कारण वे संपूर्ण पदार्थों का केवलज्ञान के द्वारा साक्षात् ज्ञान करते हैं। इससे यहां सयोगीजिन के समान ही उपचार से ध्यान को कहा गया है। "परमार्थवृत्या एकाग्रचिन्ता-निरोध-लक्षण ध्यान-परिणामस्य ध्रुवोपयोगपरिणते केवलिन्यनुपपत्तेः"—परामार्थ वृत्ति से ध्रुवोपयोग परिणत केवली के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान परिणाम की अनुपपत्ति है।

"ततो निरुद्धाशेषास्रवद्वारस्य केवलिनः स्वात्मन्यवस्थानमेवा शेषकर्मनिर्जरणैकफलमिह ध्यानमिति प्रत्येतव्यम्" (२२९३) इस कारण संपूर्ण आस्रव के द्वार रहित अयोगीजिन के अपनी आत्मा में अवस्थिति ही संपूर्ण कर्म की निर्जरा ही एक फल रूप ध्यान जानना चाहिये।

चतुर्थं स्यादयोगस्य शेषकर्मच्छिदुत्तमम्।
फलमस्याद्भुतं धाम परतीर्थ्यदुरासदम् ॥

चतुर्थ शुक्ल-ध्यान अयोगीजिन के होता है। यह शेष कर्मों के क्षयरूप श्रेष्ठ फल युक्त है। वह अद्भुततेज युक्त है तथा मिथ्या-मार्गियों के लिए संभव नहीं है।

मूलाचार में लिखा है :—

तत्तोरालियदेहो णामा गोदं च केवली जुगवं।
आउं च वेदणीयं खिवइत्ता णीरओ होई ॥२३५॥ अ. ११

वे अयोग केवली औदारिक शरीर, नाम कर्म, गोत्र, आयु तथा वेदनीय का क्षय करके कर्म रज रहित होते हैं।

वे चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में उदयरहित वेदनीय, देवगति, पांच शरीर, पांच संघात, पांच बंधन, छह संस्थान, तीन

आंगोपांग, छह संहनन, पंचवर्ण, दोगंध, पंचरस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण, नीच गोत्र ये बहत्तर प्रकृतियां नाश को प्राप्त होती हैं।

अंतिम समय में उदय सहित वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, उच्चगोत्र, प्रत्येक, तीर्थंकर नाम कर्म, आदेय तथा यशःकीर्ति इन त्रयोदश प्रकृतियों का क्षय होता है।

अयोगकेवलीका काल "पंचह्रस्वाक्षरोच्चारणकालावच्छिन्न परिमाणः" (२२९३)—अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पंच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण के काल प्रमाण कहा है। कर्म क्षय होने पर भगवान "स्वात्मोपलब्धिलक्षणां सिद्धि"—स्वात्मोपलब्धि स्वरूप सिद्धि को तथा "सकलपुरुषार्थसिद्धेः परमकाष्ठा-निष्ठमेकसमयेनैवोपगच्छति"—पुरुषार्थ सिद्धि की परमकाष्ठा की प्राप्ति को एक समय में प्राप्त होते हैं। कर्मक्षय होने के कुछ काल पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता हो, ऐसी बात नहीं है। जयधवला टीका में कहा है "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षान्तरमेव मोक्षपर्यायाविर्भावोपपत्तेः"—संपूर्ण कर्मों के पूर्ण क्षय के अनंतर ही मोक्षपर्याय के आविर्भाव की उपपत्ति है।

कर्मों के क्षय होने से सिद्ध परमात्मा को मुक्तात्मा कहते हैं। आचार्य अकलंकदेव कहते हैं, भगवान कर्मों से मुक्त हुए हैं, किन्तु उन्होंने अपने आत्मगुणों की उपलब्धि होने से कथंचित् अमुक्तपना भी प्राप्त किया है। वे कर्मों के बंधन से मुक्त होने से मुक्त हैं तथा ज्ञानादि की प्राप्ति होने से अमुक्त भी हैं। अतः वे मुक्तामुक्त रूप हैं। शरीर रहित हो जाने से वे भगवान ज्ञानमूर्ति हो गए। चर्मचक्षुओं के अगोचर हो गए। उन्होंने अक्षय पदवी प्राप्त की है। उन ज्ञानमूर्ति परमात्मा को नमस्कार है।

मुक्तामुक्तैक-रूपो यः कर्मभिः संविदादिना ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥

शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि से जिस आत्मा को कर्मबंधन काल में भी शुद्ध कहते हैं अब वह आत्मा पर्याय दृष्टि से भी शुद्ध बुद्ध हो गई ।

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ स्वामी कहते हैं :—

"सेलेसि अद्धाए झीणाए सव्वकम्मविप्पमुक्को एकसमएण सिद्धिं गच्छइ"—शैलेशता का काल व्यतीत होने सर्व कर्म से विप्रमुक्त हो वे प्रभु एक समय में स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।

तिहुवण-णाहे णमंसामि—

त्रिभुवन के नाथ सिद्ध परमात्मा को हमारा नमस्कार है ।